भ्रमरगीत
का
काव्य-वैभव

हमारे अन्य आलोचनात्मक अध्ययन

जायसी ग्रन्थावली	डा० मनमोहन गौतम	१२.००
साहित्य लहरी	डा० मनमोहन गौतम	५.००
विद्यापति पदावली	श्री कुमुद विद्यालकार	१०.००
कामायनी दीपिका	श्री नगीनचन्द सहगल	७.५०
कामायनी दीपिका (लज्जा, दर्शन, रहस्य, आनन्द)	श्री नगीनचन्द सहगल	३ ००
प्रेमचन्द और उनकी रंगभूमि	डा० शाँतिस्वरूप गुप्त	३ ५०
शकुन्तला नाटक	श्री सुधाशु चतुर्वेदी	३.००
सेवासदन-विवेचन	प्रो० वलदेव कृष्ण	२ ००
महादेवी की साहित्य साधना	डा० सुरेशचन्द्र गुप्त	३ ५०
रश्मिवन्ध : व्याख्या-विवेचन	श्री सत्यपाल 'निराश'	५ ००
द्वापर · व्याख्या विवेचन	श्री भवानीशकर त्रिवेदी	४ ५०
प्रसाद और उनकी लहर	श्री पुरुषोत्तमलाल विज	३.५०
आधुनिक कवि पन्त (नवीन)	श्री भारतभूषण 'सरोज'	३ ००
आधुनिक कवि महादेवी	श्री भारत भूषण 'सरोज'	३.५०
विहारी की काव्य-कला	प्रो० उदयभानु हस	६ ५०
उद्धवशतक : व्याख्या विवेचन	डा० राजेश्वर चतुर्वेदी डी० लिट	३ ८०
सूरदास (प्रश्नोत्तर)	प्रो० भारतभूषण 'सरोज'	३ ००
तुलसीदास ,,	प्रो० विश्वप्रकाश दीक्षित 'वटुक'	२.५०
जयशंकर प्रसाद	प्रो० देशराजसिंह भाटी	२ ५०
जायसी का काव्य-दर्शन ,,	प्रो० देशराजसिंह भाटी	३.००
कबीर की काव्य-साधना ,,	प्रो० केदारनाथ कलाधर	३ ००
विद्यापति की काव्य-साधना ,,	प्रो० सतीशकुमार	२.५०
प्रेमचन्द : एक विवेचन ,,	डा० सुरेश सिनहा	३ ००
गोदान एक विवेचन ,,	डा० सुरेश सिनहा	२ ५०
भाषा विज्ञान ,,	डा० गणेशदत्त गौड़	३ ००
हिन्दी साहित्य का इतिहास ,,	डा० राजेन्द्र शर्मा	२ ५०
पाश्चात्य काव्य शास्त्र-मीमांसा	प्रो० देशराजसिंह भाटी	३ ००
भारतीय काव्य शास्त्र-मीमांसा	प्रो० सतीशकुमार	३ ००
साहित्यालोचन	डा० राजेन्द्र शर्मा	३ ००
प्रसाद का स्कन्दगुप्त	प्रो० पुरुषोत्तमलाल विज	२.५०
प्रसाद और उनका चद्रगुप्त	प्रो० पुरुषोत्तमलाल विज	३.००
शकुन्तला एक अनुशीलन	प्रो० सुधाशु चतुर्वेदी	२.००
साकेत : एक परिशीलन	प्रो० प्राणनाथ शर्मा	२ ००
कामायनी : एक परिशीलन	प्रो० महेन्द्रकुमार एम० ए०	१.८०
प्रियप्रवास एक परिशीलन	प्रो० पुरुषोत्तमलाल विज	१ ८०

भ्रमरगीत का काव्य-वैभव

(सूर-प्रणीत भ्रमरगीत का विवेचनात्मक अध्ययन)

डा० मनमोहन गौतम
एम० ए०, पी-एच० डी०

रीगल बुक डिपो, दिल्ली-6

प्रकाशक
रामचन्द्र गुप्त,
रीगल बुक डिपो,
नई सड़क, दिल्ली-६

मूल्य [illegible]०.००

प्रथम संस्करण १९६७

मुद्रक :—
श्री प्रिंटिंग एजेन्सी द्वार
बदलिया प्रेस, दिल्ली-६

निवेदन

सूरदास जी का भ्रमरगीत उनकी कोई स्वतत्र रचना न होकर सूरसागर का एक अ श मात्र है। सूरदास जी ने जिन कृष्ण-लीलाओ के त्रम मे अपने पदो की रचना की थी, उन लीलाओ मे भी भ्रमरगीत को कोई स्थान नही मिलता। भागवत मे जिस प्रकार गोपी-गीत, वेणुगीत और भ्रमरगीत के विशिष्ट गीत थे, उसी प्रकार सूरसागर मे भी भ्रमरगीतो की रचना हुई थी, किन्तु इनकी रचना मे सूरदास जी का मन इतना रमा कि एक ही प्रसग पर बहुत अधिक पदो की रचना हो गयी। सख्या ही नही, उसमे रसात्मकता और गम्भीरता भी इतनी समाविष्ट हो गयी कि यही सूर-साहित्य का नवनीत बन बैठा। सूरसागर मे बाल-लीला, माखनचोरी, दानलीला, मानलीला आदि की भाँति भ्रमरगीत का कोई उल्लिखित प्रकरण नही है, किन्तु अपने सौष्ठव के कारण इस प्रसग को इतनी लोकप्रियता मिली कि परवर्ती अनेक व्रज-कवियो ने भ्रमरगीत या भवरगीत शीर्षक से काव्य रचनाएँ की। आचार्य-प्रवर पडित रामचन्द्र शुक्ल ने इसीलिए सूर-कृत भ्रमरगीतो का एक सक्षिप्त सग्रह 'भ्रमरगीत सार' नाम से सकलित भी किया और तब से 'सूर-भ्रमरगीत' भी एक स्वतत्र ग्रन्थ के रूप से प्रख्यात हो गया है।

सूर-भ्रमरगीत अब एक क्लासिक हो गया है। उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम मे इसका अनिवार्य स्थान होने से इसकी लोकप्रियता बढ गयी है। सूर-साहित्य पर जो भी गवेषणात्मक गन्थ लिखे गये हैं, उनके भी इसकी प्रशसा मुक्तकठ से की गयी है। विवेचनो मे इस अ श के पर्याप्त उदाहरणो को अवसर भी मिला है फिर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप मे इसकी गम्भीर समीक्षा अभी तक नहीं हुई। अध्येताओ विशेषतया विद्यार्थियो को इसके सम्बन्ध मे ज्ञातव्य सामग्री के लिए दर-दर भटकना पडता है फिर भी उपयोगी सामग्री कठिनाई से उनके हाथ लगती हैं। अनेक बार मेरे छात्रो ने मुझे इस दिशा मे कार्य करने के लिए साग्रह निवेदन किया जिसके फलस्वरूप मैंने इस कार्य को हाथ मे लिया और प्रयत्न किया कि अधिक-से-अधिक सामग्री उनकी आवश्यकता की दृष्टि से एकत्र हो और पुस्तक का कलेवर यथासम्भव लघुतम हो।

दूसरी बात यह है कि प्रस्तुत उपक्रम एक शोध-निबन्ध के रूप मे किया गया है। इससे पहले भी सूर-भ्रमरगीत सम्बन्धी शोध-कार्य हो चुका था किन्तु उसमे ऐतिहासिक दृष्टि प्रमुख थी। भ्रमरगीत के अ तरग पर विशेष दृष्टि का अवकाश वहाँ न था। भ्रमरगीत के मूल्याकन के लिए आवश्यक है कि पहले उसके भाव और कला पक्षो पर सर्वा ग (Exhaustive) विवेचन हो और फिर प्रमुख भ्रमरगीतो से उसकी तुलना हो। इतना होने

पर स्वतः स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दी काव्य की इस विशिष्ट परम्परा मे सूरदास जी के भ्रमरगीत का वास्तविक स्थान क्या है। इसीलिए पुस्तक के आरम्भ मे भ्रमरगीत के स्रोत-सम्बन्धी विस्तृत विवरण दिये गये है और यह स्पष्ट किया गया है कि इस काव्य-परम्परा के निर्माण मे सूरदास जी का निजी योगदान क्या था। उपरान्त भ्रमरगीत की विषयवस्तु की विशद-विवेचना की गयी है। निर्गुण-सगुण तथा ज्ञान और भक्ति के तथ्यो के आकलन के साथ-ही-साथ उद्धव, गोपी, राधा कृष्ण, और यशोदा का चरित्राकन भी प्रस्तुत है। शास्त्रीय विवेचना मे गीतिकाव्यत्व, रस, अलकार, शब्द-शक्ति और वक्रोक्ति के उदाहरणों मे प्रयत्न किया गया है कि ग्रन्थ की एक भी चमत्कृत पक्ति छूटने न पाये। इसके बाद अन्य भ्रमर-गीतों के परिप्रेक्ष्य मे नन्ददास के भँवरगीत और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के उद्धव शतक के साथ विस्तार के साथ तुलना की गई है। अन्त मे ग्रथ के मूल्याकन के लिए समस्त हिन्दी साहित्य भर में उपलब्ध चोटी के भक्ति-काव्य, विशुद्ध-काव्य, गीतिकाव्य और विरह-काव्य को समक्ष रखकर दिखाया गया है कि किस प्रकार सूर-भ्रमरगीत की स्वर्णिम क्रान्ति औरो की अपेक्षा अधिक द्युतिमान है।

निबन्ध रूप में सूर भ्रमरगीत के काव्य-वैभव के प्रस्तुत करने का लघु प्रयास सूर-साहित्य के अध्येताओ के समक्ष है। आशा है, सूर-साहित्य के विद्यार्थी इससे विशेष लाभान्वित होगे और यदि ऐसा हुआ तो हम अपने परिश्रम को सफल मानेगे।

—मनमोहन गौतम

विषयानुक्रमणिका

: १ :

भ्रमरगीत-परम्परा और सूरदास

ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। इसकी कतिपय विशिष्टताएँ हैं। मुरली मनोहर कृष्ण के सगीत ने ब्रज-कवियो को गीतिकाव्य-रचना की ओर इतना उत्प्रेरित किया कि वे महाकाव्य के आकर्षण से निरस्त हो बैठे। काव्य-प्रणयन मे उनका दृष्टिकोण प्रमुखतया आत्मपरक था। भगवान् कृष्ण के रसानन्द रूप मे वे इतने तल्लीन हो गये कि महाकाव्य रचकर महाकवि बनने की कामना ही खो बैठे। महाभारत के सूत्रधार, असुरनिकन्दन तथा धर्म-सस्थापक अवतारी कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप पर दृष्टि न रख कर उन्होने उनकी मनोहारिणी लीलाओ मे मन रमाया और अल्पकालीन लीलाओ का मुक्त रूप प्रस्तुत करने में ही अपने कवि-कर्म की इतिश्री कर डाली। ऐसा करने से उनके लीलापरक गीत एक विशिष्ट काव्यरूप लेकर प्रतिष्ठित हुए। इनमे कथा है, किन्तु कथात्मकता का अभाव है। कृष्ण की कोई एक लीला वर्ण्य का उपादान तो बनती है किन्तु कथा मे स्थूल विस्तार के स्थान पर उसमे प्राप्त सूक्ष्म रसानन्द का प्रसार मिलता है। उसमे वस्तुपरक दृष्टिकोण के स्थान पर आत्मपरक भावभूमि की प्रधानता हो जाती है। सूरदास-रचित सूरसागर और श्री परमानन्ददास कृत परमानन्दसागर मे कृष्णजन्म से लेकर बदरीवन जाने तक की समस्त कथाए क्रमानुसार मिलती हैं फिर भी इन महाग्रन्थो की विस्तीर्ण पद-रचना में न पूर्वापर सम्बन्ध का आग्रह होता है और न वाह्यवृत्ति निरूपण के ही दर्शन मिलते हैं। इसीलिए इन्हे प्रबन्धकाव्य की अपेक्षा प्रगीत वर्णन या वर्णनात्मक गीतिकाव्य ही अभिहित किया गया है।[1] विभिन्न लीलाओ के रूप मे खण्ड जीवन का शृंखलाबद्ध चित्रण अवश्य ही इन रचनाओ मे प्राप्त होता है। जैसे बाललीला, गोवर्धनलीला, राधा रसकेलि, दान-लीला, मान-लीला, भ्रमरगीत आदि। इनमे सबसे लोकप्रिय प्रसग भ्रमर-गीत है। इसकी लोकप्रियता का प्रमाण यही है कि सूर से आरम्भ होकर हिन्दी काव्य मे भ्रमरगीत की एक प्रतिष्ठित परम्परा चल निकली। इस परम्परा की आधार शिला रखने का श्रेय महात्मा सूरदास जी को प्राप्त है जिन्होने सूरसागर मे भ्रमरगीत लिख कर परवर्ती समस्त व्रजकाव्य रचयिताओ को ऐसा मनमोहक विषय दिया कि कृष्ण-जीवन पर लेखनी उठाते हुए कोई भी कवि इस संदर्भ पर कुछ-न-कुछ रचना करने का लोभ-संवरण न कर सका।

---

१. देखिए सूर की काव्य कला पृ० ८

भ्रमरगीत-परम्परा

जैसा पीछे कहा जा चुका है, हिन्दी साहित्य मे भ्रमरगीत लिखने वालों मे महात्मा सूरदास जी अग्रगण्य हैं। उन्होने भ्रमरगीत नाम से उद्धव-गोपी-सवाद प्रस्तुत किया और ज्ञान-मार्ग के प्रतिनिधि उद्धव पर पुष्टि मार्ग मे पगी गोपियो की स्पष्ट विजय दिखाकर भक्ति-सिद्धान्त के महत्व पर प्रकाश डाला। साथ ही भ्रमरगीत के माध्यम से विरहिणी गोपियो की मर्म-वेदना को अत्यन्त सरस और साहित्यिक रूप दिया। भ्रमरगीत सूरसागर का अनुपम रत्नखण्ड है। रस, ध्वनि, अलंकार और उक्ति वैचित्र्य का ऐसा कोष विश्व-साहित्य मे विरल है।

सूरदास का अनुसरण परमानन्ददास के परमानन्दसागर मे मिलता है। नन्ददास जी ने भंवरगीत नाम से एक खण्डकाव्य की ही रचना कर डाली। अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी इस प्रसग पर कुछ स्फुट पदों की रचना की।

गोस्वामी तुलसीदास जी की श्रीकृष्ण गीतावली मे उद्धव-गोपी प्रकरण मिलता है। गोपियों के वचन ही पदो मे मिलते हैं। अष्टछाप के प्रमुख कवियो की भाति ज्ञान-भक्ति विषयक सवाद न होकर उसमे गोपी विरह-वर्णन ही प्रमुख होता है। कवितावली के उत्तर काण्ड में भी तीन पद (१३३-१३५) इस विषय पर उपलब्ध होते हैं।

भक्तिकाल के जिन अन्य कवियो ने इस विषय पर कुछ पदो की रचना की है उनमे प्रमुख हैं रहीम, रसखान, सेनापति, गोस्वामी हरिराय, मलूकदास और मुकुन्ददास। रहीम ने लगभग बीस बरवै लिखे है। रसखान ने तीन सवैये रचे हैं। सभी स्फुट हैं। इनमे गोपी-विरह मात्र मिलता है। सेनापति ने भी इसी प्रसग पर कुछ स्फुट कवित्त लिखे हैं। मलूकदास जी ने ऊधो पचीसी रचना मे २५ कवित्त लिखे, जिनमे उद्धव के प्रति गोपियों के उपालम्भ है। निर्गुण धारा के सन्त कवि होते हुए भी मलूकदास जी ने भी कृष्ण-भक्ति परम्परा की विचारधारा मे ही निर्गुण ब्रह्म और योग का उपहास किया है। मुकुन्ददास का भंवरगीत नन्ददास के भवरगीत के अनुसरण मे लिखा गया प्रतीत होता है।

स्पष्ट है भक्तिकाल के सभी कवियो ने सूर का अनुसरण किया। सब मे किसी-न किसी रूप मे उद्धव-गोपी-संवाद का उल्लेख मिलता है और सबका मुख्य प्रतिपाद्य विरहानुभूति की अभिव्यजना है। दूसरी विशेषता यह भी है कि चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान (रहीम, रसखान), चाहे सगुण मतावलम्बी हो चाहे निर्गुण (मलूक, मुकुन्द) सबने सूर की भाँति कृष्ण-भक्ति का ही प्रतिपादन किया है। सूर की अभिव्यक्ति इतनी मोहक थी कि उसने सब प्रकार के भेद-भाव पर पानी फेर दिया और सब एक ही भाव-धारा मे बह निकले।

हिन्दी के रीतिकाल मे अनेक कवियो ने अपने स्फुट पदो मे उद्धव-गोपी-सवाद के उल्लेख किये हैं। उनमे प्रमुख हैं—मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर, नागरीदास, आलम, ठाकुर, बेनी प्रवीन, ग्वाल और चाचा हितवृन्दावनदास। आलम रचित 'भंवर गीत' नागरीदास रचित 'गोपी प्रेम प्रकाश', हितवृन्दावनदास रचित 'भ्रमरगीत' और ग्वाल रचित 'गोपी पच्चीसी' ही विषय से सम्बद्ध-ग्रन्थ हैं। शेष कवियो की रचनाएं बिखरे हुए मुक्तक

मात्र हैं और विरहिणी के विरह-वर्णन मे गोपी-उद्धव नाम प्रतीक रूप मे अनायास उल्लिखित हो गये हैं। इस प्रकार रीतिकाल मे यद्यपि विचार की दृष्टि से काव्य-धारा मे गहराई कम हुई किन्तु धारा का प्रवाह अबाध गति से होता रहा। इस काल के काव्य-शिल्पी देव, मतिराम और घनानन्द ने भक्तिकालीन विचार पक्ष को तो गौण ही रखा किन्तु विरहानुभूति की मर्म-योजना और भाषा के सौष्ठव मे चार चाँद लगा दिये। सूरदास और नन्ददास ने व्रजभाषा की जिस कमनीयता की ओर मार्ग प्रशस्त किया था उसके पूर्ण-विकास का श्रेय इन्ही कलाकारों को मिलना चाहिए। ध्वनि, रस और अलकार की साज-सज्जा मे इनके सर्वथा मुक्त पद सरस मुक्तकों के श्रेष्ठ रूप बन बैठे। भक्तिकालीन कवियो ने इतिवृत्त के कम्बल को छोड़ना चाहा था किन्तु कम्बल ने ही नही छोड़ा। रीतिकालीन सिद्ध-हस्तो ने उसे फेंक डाला और उसके सार भाग से ही अपने उद्देश्य की पूर्ति की।

आधुनिक काव्य मे भी भ्रमरगीत प्रसग कवियो का कठहार बना रहा। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इस विषय पर लगभग पचास स्फुट पदो की रचना की थी जिनमे सूरदास जी का स्पष्ट अनुसरण मिलता है। हरिऔध के प्रिय-प्रवास मे भ्रमरगीत प्रसंग है किन्तु उसमे राधा-विरह या गोपी-विरह का वह रूप नही है जो पूर्ववर्ती साहित्य मे था। इसी प्रकार पडित सत्यनारायण कविरत्न के 'भ्रमरदूत' में यद्यपि शैली नन्ददास के भवरगीत की है किन्तु विषय में नवीनता है। इसमे गोपियो के स्थान पर माता यशोदा का विरह प्रमुख है और माता यशोदा मे भारत माता के दर्शन होते हैं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के द्वापर ग्रन्थ मे उद्धव-गोपी सवाद विस्तार से मिलता है। इस ग्रन्थ मे भी प्रसग मे कुछ नवीनताए हैं। इसमे कुब्जा के साथ सहृदयता और सहानुभूति प्रदर्शित की गई है। जिस प्रकार गुप्त जी ने साकेत मे कैकेयी के चरित्र को उभारा है उसी प्रकार यहा कुब्जा के हेय स्वरूप का भी उन्नयन किया है।। बाबू जगन्नाथदास रत्नाकार का उद्धव-शतक भ्रमरगीत परम्परा की चरम परणति-सम्पन्न रचना है। आदि से लेकर अन्त तक के सभी भ्रमरगीतो के गुण इस रचना मे विद्यमान हैं। जहाँ इसमे सूर की सहृदयता और वाक्विदग्धता है वहाँ नन्ददास का दार्शनिक विवाद तथा देव एवं घनानन्द का भाषा-सौष्ठव भी है। रत्नाकर के उपरान्त भी अनेक कवि इस विषय पर रचनाए करते रहे हैं। इनमे विशेष उल्लेखनीय हैं डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र, श्यामसुन्दर लाल दीक्षित और श्री अनूप शर्मा। रसाल जी ने 'उद्धव-गोपी संवाद', मिश्र जी ने 'कृष्णायन' दीक्षित जी ने 'श्याम सदेश' और अनूप जी ने 'फेरि मिलिबो' नाम से काव्य-प्रणयन किया है।

सारांश यह कि सूर-प्रणीत भ्रमरगीत या उद्धव-गोपी-संवाद अपने आप मे एक काव्य-परम्परा बन गया। इस विषय पर लगभग सौ कवियो की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।[1] एक ही सकीर्ण विषय भिन्न-भिन्न कवियो के द्वारा नये-नये रूप मे प्रस्तुत किया गया और अपने आप में एक उपलब्धि का कारण बना।

१. देखिए हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा—ले० डा० स्नेहलता श्रीवास्तव

कथानक-स्रोत

सूर साहित्य का मूल आधार श्रीमद्भागवत[1] है। भ्रमरगीत का सदर्भ भी भागवत पर आधारित है। भागवत मे प्राप्त नव गीतों[2] में से भ्रमरगीत भी एक है। मर्माहता एक गोपी अकस्मात आये हुए भ्रमर को देख कर उसे कृष्ण-दूत समझ कर फूट पड़ी—

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रि सपत्न्याः कुचविलुलितमाला कुंकुमश्मश्रुभिर्नः
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं यदुसदसि विडम्ब्य यस्य दूतस्त्वमीदृक्।[3]

हे कपटी के सखा मधुप, तू हमारे पैरो को मत छू। हम देख रही है कि श्रीकृष्ण की वनमाला हमारी सौतों के वक्षस्थल के स्पर्श से मसली हुई है, उसका पीला-पीला कुंकुम तेरी उनका मूछो पर भी लगा है। मधुपति श्रीकृष्ण मथुरा की मानिनी नायिकाओ को मनाया करें। वह कुंकुम-कृपा-प्रसाद यदुवशियो की सभा मे उपहास के योग्य है। इसे वे अपने पास ही रखें।

तात्पर्य यह कि भागवत मे भ्रमरगीत से तात्पर्य उस शुद्ध गीत से है जिसमे एक गोपी की अन्तरतम की विरह-वेदना स्वतः समुद्भूत हो उठी थी। गीति (लीरिक) की सहज भावुकता और लयात्मक गान इसमे उपलब्ध होता है। भ्रमर के माध्यम के कारण ही इसका नाम भागवतकार ने भ्रमरगीत रखा था। गोपी भ्रमरगीत गाती रही, उसमे कृष्ण के प्रति खोटी-खरी बातें भी कही जाती रही। जैसे—

सकृदधर सुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्[4]

केवल एक बार अपनी मोहिनी अधर-सुधा पिलाई और फिर तुम्हारी भाँति ही हम सब को तुरन्त छोड़ कर यहाँ से चले गये—

... ...

स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन।[5]

हमने तो श्रीकृष्ण के लिए अपने पति-पुत्र और अन्य सम्वन्धियो को छोड़ दिया। किन्तु वे हम सबको छोड़ कर चलते बने। ऐसे कृतघ्न का हम कैसे विश्वास करें।

... ...

क्वचिदपि स कथा न किंकिरीणा गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु।[6]

---

१. कहे कछुक गुरु कृपा ते श्री भागवतानुसार। सूरसागर द्वि० स्कध पद ३६०
नोट—ऐसे उल्लेख प्रत्येक स्कध में अनेक वार हुए हैं।

२. देखिए सूर की काव्य कला द्वितीय सस्करण, पृ० ३८०

३. श्रीमद्भागवत १०।४७।१२

४. श्रीमद्भागवत १०।४७।१३

५. ,, १०।४७।१६

६. ,, १०।४७।२१

क्या वे कभी हम दासियो की कोई बात चलाते हैं और क्या कभी अपनी दिव्य सुगधित भुजा हमारे सिर पर रखेंगे ?

उपर्युक्त भ्रमरगीत कथानक का केन्द्र विन्दु नही है। यह एक आकस्मिक घटना के रूप मे आ कर एक गीत का रूप धारण करता है। भागवत मे प्रमुख कथानक के रूप मे उद्धवके द्वारा भेजा हुआ कृष्ण का सन्देश है। उद्धव का व्रज-जाना, सदेश कहना और उद्धव-गोपी सवाद कथानक के मुख्य अ श थे। सूरदास जी ने भ्रमरगीत को ही सर्वाधिक महत्व दिया। भ्रमरगीत कथानक की धुरी वन गया और उद्धव का व्रजगमन संदेश आदि प्रासगिक मात्र रह गये। इतना होने पर भी भागवत का भ्रमरगीत ही सूरदास जी के भ्रमरगीत का मूल आधार है क्योकि वहाँ जिस रूप से भ्रमर के व्याज से गोपी ने उपालम्भ किये थे उसी पद्धति मे सूरसागर मे गोपियो ने भ्रमर, मधुप, अलि आदि के नाम से उपालम्भ प्रस्तुत किये।

भागवत में प्राप्त मूल कथानक

एक बार अन्तर्यामी कृष्ण जी ने उद्धव जी को वुला कर कहा कि तुम व्रज चले जाओ, मेरे माता-पिता नन्द-यशोदा को सान्त्वना दो। मेरे विरह मे व्याकुल गोपियो को मेरा सदेश सुना कर उन्हे शान्ति दो। उद्धव जी व्रज मे सायकाल देर से पहुँचे। उन्होने सारी रात नन्द-यशोदा को समझाया। नन्द जी भी कृष्ण का गुणगान करते रहे। कृष्ण की वाल-लीला का वर्णन करते हुए उनके कण्ठ रुद्ध हो गये। उद्धव जी उनके परव्रह्म स्वरूप का निरूपण करते रहे। यशोदा मा चुपचाप सुनती रही और अश्रु-प्रवाह करती रही। प्रात काल नन्द के द्वार पर रथ देख कर गोपियाँ आशका करने लगी कि क्या अक्रूर दुबारा आया है। वे अक्रूर को कटु वचन भी कह रही थी कि इतने मे नित्य कर्म से निवृत होकर उद्धव जी आ पहुचे। गोपियो ने उद्धव का परिचय पूछा और जब जाना कि वे तो कृष्ण का संदेश लेकर आये हुए हैं तब बड़े आदर के साथ उन्हे एकान्त मे ले गई और बोली कि अब तो श्रीकृष्ण व्रजनाथ नही यदुनाथ हैं। उन्होने आपको अपने माता-पिता को शान्ति देने के लिए भेजा है। माता-पिता तथा सगे-सम्वन्धियो को छोड कर अन्य लोगो से प्रेम तो स्वार्थवश होता है। स्वार्थ पूरा होने पर कोई मुड कर नही देखता। इस प्रकार वे कथन कर ही रही थी कि एक भ्रमर दिखाई पडता है और एक गोपी उसे लक्ष्य कर भ्रमरगीत गाती है जिसका सार ऊपर दिया जा चुका है। जब तक भ्रमरगीत होता रहा उद्धव जी मन्त्र-मुग्ध से उसे सुनते रहे किन्तु जब गोपीगान समाप्त हुआ, उन्होने अपना प्रवचन आरम्भ किया और कृष्ण का सदेश भी सुना दिया। भागवत मे उद्धव जी ने अपना उपदेश कम दिया है श्रीकृष्ण का सदेश अधिक दिया है। श्रीकृष्ण-सदेश मे उनके निर्गुण परव्रह्म का उद्घाटन है-- जैसे—मैं सर्वात्मा हूँ, मुझसे तुम सबका वियोग कभी नही हो सकता। जिस प्रकार पंच-भूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी अपने मे ही व्याप्त हैं उसी प्रकार मैं ही मन, प्राण,

पंचभूत, इन्द्रिय और अनेक विपयो का आश्रय हूँ।[१] स्वयं निमित्त बन कर भी अपने आपको रचता हूँ, पालता हूँ और समेट लेता हूँ।[२] जिस प्रकार सभी नदियाँ घूम फिर कर समुद्र मे पहुँचती है उसी प्रकार मनस्वियो का वेदाभ्यास, योग, साधन, त्याग और संयम आदि समस्त धर्म मेरी भक्ति मे ही समाप्त होते हैं।[३]

जब तुम मुझ मे अपने मन को मग्न कर दोगी तो तुम्हारी सभी वृत्तियाँ मुक्त होकर शान्त हो जायेंगी और तुम लोग नित्य निरन्तर मेरे अनुस्मरण मे मग्न होकर शीघ्र मुझे सदा के लिए पा लोगी।[४]

उद्धव के उपदेश और कृष्ण के उपर्युक्त सदेश को सुन कर गोपियाँ क्षुब्ध नही हुईं, उन्हें परमानन्द की उपलब्धि हुई। वे फिर बोली और उन्होने अपनी मानसिक वेदना का वर्णन पुन. किया और कहा कि हमारा मन हमारे वश मे नही है, हम उन्हें किस प्रकार भूलें।[५] हे नाथ, रमानाथ, व्रजनाथ, सब संकटो के दूर करने वाले तुम्हारा यह सारा गोकुल दुख के अपार सागर मे डूब रहा है, तुम इसे बचाओ, बचाओ।[६]

श्रीकृष्ण का सन्देश सुनकर गोपियों की विरह व्यथा शान्त हो गई उन्होने इन्द्रियातीत भगवान को अपनी आत्मा के रूप मे स्थिर कर लिया। उद्धव जी व्रज मे कई महीने निवास करते हैं और प्रभु के गुणगान से गोपियो को शान्ति लाभ कराते हैं। गोपियाँ उद्धव के मत से आश्वस्त होती हैं और उद्धव जी गोपियो के भाव से प्रभावित होते हैं और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि काश! मैं वृन्दावन की द्रुम-लता, तृण बन पाता और गोपियों की चरण धूल का सेवन करता।[७]

सूर द्वारा कथानक में विस्तार

सूरदास जी ने उपर्युक्त कथानक को ज्यो का त्यो ग्रहण नही किया। उन्होने उसमे बडा विस्तार किया। भ्रमर-गीत तथा उद्धव-गोपी सवाद मुख्य घटनाएँ हैं किन्तु इससे पूर्व उसकी एक अनुरूप पृष्ठभूमि है। साथ ही सवाद के उपरान्त उद्धव का प्रत्यागमन भी विस्तृत और भावमय है। अतः सूरदास के भ्रमर गीत को तीन भागो मे प्रस्तुत करना समीचीन होगा—पूर्व-पीठिका, उद्धव का व्रज-आगमन और उद्धव की वापसी।

---

१. भवतीना वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।
यथा भूतानि भूतेपु ख वाय्वग्निर्जल मही।
तथा ह च मन• प्राण भूतेन्द्रियगुणाश्रयः ॥१०।४७।२९
२. आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मान सृजेहन्म्यनुपालये। १०।४७।३०
३. एतदन्त' समाम्नायो योग' साख्यं मनीपिणाम्।
त्यागस्तयो दमः सत्य समुद्रान्ता इवापगा' ॥१०।४७।३३
४. मय्यावेश्य मनः कृत्स्न विमुक्ताशेपवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥१०।४७।३६
५. माध्व्या गिरा हृतधियः कथं त विस्मरामहे ॥ १०।४७।५१
६ हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन। मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुल वृजिनार्णवात्। १०।४७।५२
७. आसामहो चरणरेणु जुपाम हंस्यावृन्दावने किमपि गुल्मलतौपधीनां १०।४७।६१

पूर्व पीठिका

इसके पूर्व कि भागवत की भाँति उद्धव जी कृष्ण से मिलें और अन्तर्यामी श्रीकृष्ण व्रजवासियों के विरह-विषाद के उपचार हेतु ज्ञान का संदेश भेजें, व्रज की दशा का विस्तृत वर्णन सूरदास जी ने किया है। कृष्ण जी नन्द आदि के साथ मथुरा गये थे किन्तु वापस नहीं लौटे। इसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। सारा व्रज सूना हो गया। क्षोभ, दुख, दैन्य और विषाद का वातावरण व्याप्त हो गया। पहले तो यशोदा और गोपियाँ क्षुब्ध हुई, यशोदा नन्द पर और गोपियाँ कृष्ण पर। क्रम-क्रम से क्षोभ दैन्य और विषाद मे बदला। गोपियो के पास कुब्जा का समाचार मिला। सुनते ही वे आगबबूला हो गई—

कुब्जा का नाम सुनत विरह-अनल बूड़ी[1]

उन्हें बड़ी लज्जा इस बात से हुई कि उनके प्रियतम कृष्ण ने कुब्जा के लिए ही कंस का वध किया—

कस बध्यौ कुबजा के काज
और नारि हरि कौ न मिली कहुँ, कहा गवाई लाज ॥[2]

न केवल गोपियाँ वरन् सभी व्रज-वासी विरह विह्वल होकर डुलते रहते है। सबके सब अनाथ से होकर दयनीय दशा मे होते हैं—

✓ अब हम निपटहिं भई अनाथ।
जैसे मधुतोरे की माखी त्यो हम बिन व्रजनाथ।
अधर अमृत की पीर भुई हम, बाल दसा ते जोरि।'
सो छोड़ाय सुफलक सुत लै गयो अनायास ही तोरि ॥[3]

नन्द और यशोदा बैठे पछताते रहते हैं। यशोदा की उद्विग्नावस्था चरम सीमा को पहुँचती है। वे व्रज छोड कर मथुरा जाने को उद्यत होती हैं—

✓ नन्द व्रज लीजै ठोकि बजाइ।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राइ ॥[4]

वे वसुदेव की दासी तक बनने को उद्यत है—

दासी ह्वै वसुदेव राइ की, दरसन देखत रैहैं।
+ + +
मोहि देखि कै लोग हँसेंगे, अरु किन कान्ह हसै।
सूर असीस जाइ दैहौं, जनि न्हातहु बार खसै ॥[5]

मातृ हृदय की कैसी अनूठी व्यजना है। स्वार्थ रहित सहज-वात्सल्य मूर्तिमान है।

संदेश

यशोदा जी अपने प्यारे कृष्ण के पास सदेश भेजती हैं। जो पथिक मथुरा जाते हुए

१. सूरसागर, पद ३७६८
२. ,, ३७७०
३. ,, ३७७८
४. ,, ३७८६
५. ,, ३७८८

मिलते है, उनसे कहती हैं—

पंथी इतनी कहियो जाइ।
तुम बिन यहां कुंवर वर मेरे, होत जिते उत्पात।
+ + +
सत्वर सूर सहाय करौ अब, समुझि पुरातन हेट।[1]

कृष्ण ही नही वरन् देवकी के पास भी सदेश भेजती है—

सदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाइ तिहारेसुत की मया करत ही रहियौ।[2]

सन्देश तो गोपियाँ भी पथिको से भिजवाती है—

संदेसनि मधुवन कूप भरे।
+ + +
जिते पथिक पठए मधुवन कौ, बहुरि न सौध करे।
कै वै स्याम सिखाइ प्रमोधे, कै कहुँ बीच मरे॥[3]

ब्रज-दशा

गोपियो के विरह का बहुत विशद वर्णन ११७ पदों में सूरदास जी ने किया है। ब्रज के विरह का सागर उमडता है। नेत्रो के सामने आँसुओ की झड़ लगी होती है। नीद सदा के लिए जाती रहती है। असह्य विरह की विडम्बना सहती हुई पुन दर्शन-लालसा से गोपियाँ अपने प्राण सजोये रहती है। इसी क्रम मे पावस-प्रसग के लगभग ५० पद भय को मूर्तिमान करते हैं। उद्दीपन के कारण गोपियाँ त्रस्त हो उठती हैं। घटाओ को देखकर वे समझती हैं कि भयकर आक्रमणकारी ने चारो ओर से घेर लिया है। निराश्रिता अबलाएँ कहाँ जाये—

ब्रज पर सजि पावस दल आयौ
+ + +
हम अबला जानियँ तुमहिं बल, कहौ कौन विधि कीजै।
सूर स्याम अबकै इहिं अवसर, आनि राखि ब्रज लीजै।[4]

वे घबरा कर चीत्कार कर उठती है। भय का ऐसा स्वाभाविक स्वरूप कदाचित् ही कही उपलब्ध हो। आर्त की पुकार कितनी हृदय-विदारक है—

बदरिया बधन विरहिनी आई।
मारू रोर ररत चातक पिक, चढ़ि नभ टेरि सुनाई।
+ + +
सूरदास प्रभु मिलहु कृपा करि, होति हमारी धाई।[5]

१. सूरसागर, पद ३७६१
२. ,, ३७६३
३. ,, ३६१८
४. ,, ३६२२
५. ,, ३६४४

पावस के क्रम में ही दो पद शरद ऋतु सम्बन्धी और एक पद षट्ऋतु सम्बन्धी है। इसके उपरान्त चन्द्रोपालम्भ के अनेक ऊहात्मक पद हैं। शास्त्रीय विरह-वर्णन का जो क्रम रीतिकालीन काव्य मे उपलब्ध होता है उसका सवेदनात्मक और कलात्मक रूप सूरसागर के इस अ श मे मिलता है। इस पृष्ठभूमि के उपरान्त उद्धव का व्रज मे आगमन होता है। विरह की इस दुस्सह दशा मे पड़ी हुई गोपियो के लिए योग का उपदेश जले पर नमक सदृश ही था। सूरदास के भ्रमरगीत मे उपलब्ध गोपियो के विनोद, व्यग्य और कटूक्तियो को समझने के लिए उपर्युक्त पूर्वपीठिका का ज्ञान अनिवार्य है।

उद्धव का व्रज-आगमन

उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे भ्रमरगीत की कथा आरम्भ होती है। कथानक का प्रथम अंश उद्धव का व्रज-आगमन है। यहाँ भी सूरदास जी ने परिवर्तन किया है। उद्धव जी के व्रज भेजने का एक विशेष सदर्भ है। कृष्ण जी को व्रज-वासियो और व्रज की स्मृति सताया करती थी—

अन्तरयामी कुंवर कन्हाई।
गुरु गृह पढ़त हुते जहँ विद्या, तहँ व्रजवासिन की सुधि आई।
\+ \+ \+
सूरदास प्रभु आइ मधुपुरी, ऊधो को व्रज दियो पठाई॥ [1]
कहां सुख व्रज कैसो ससार
कहाँ सुखद वंशीवट जमुना, यह मन सदा विचार।
... .
कहा विरह सुख बिन गोपिन सँग, सूर-स्याम मन काम। [2]

ऐसी अवस्था मे अन्तरग सखा ही सहारा होता है। कृष्ण के सखा थे उद्धव जी। किन्तु उद्धव जी के रग ही और थे। वे तो ज्ञानी थे। इसलिए कृष्ण जी की आन्तरिक वेदना का कोई उपचार न था—

संग मिलि कहौं कासौं बात।
यह तो कहन जोग की बाते जामैं रस जरि जात।
कहत कहा पितु मातु कौन के, पुरुष नारि कह नात।
\+ \+ \+
वे बातें कहिए किहिं आगैं, यह सुनि हरि पछितात।
सूरदास प्रभु व्रज की महिमा कहि, लिखी बदत बल भ्रात। [3]

कृष्ण जी ने विचार किया कि उद्धव जी का परिवर्तन आवश्यक है। उद्धव जी अपने विचार के अटल हैं। ये सच्चे मित्र हैं किन्तु जब तक इनमे प्रेम-भक्ति का स्फुरण नही होता इनका स्वरूप मदिरा भरे कलश के समान है। समझाने से यह समझेगा नही, उल्टा मेरी ही आलोचना करेगा।

१, सूरसागर, पद सख्या ४०२६
२. ,, ,, ४०३७
३. ,, ,, ४०३३

जदुपति सखा ऊधौ जानि ।
लगे मन मन यहै सोचन, भली नहिं यह बानि ।
+ + +
जो कहौं तो कर क्यों यह, निबिहै अरु मोंहि ।
+ + +
कनक कलस अपान जैसे तैसोई यह रूप ।
सूर कैसेहुं प्रेम पावै, तबहि होइ सुरूप ॥[1]

कृष्ण सोचते है कि यदि मैं समझाऊँ, तो यह कदापि न समझेगा । अपने ज्ञान को प्रस्तुत करेगा, हाँ गोपियों के प्रबोधने के बहाने यह ब्रज तुरन्त चला जायेगा ।

याहि और नहिं कछू उपाइ
मेरो प्रगट कह्यो नहिं बदिहै ब्रज ही देउं पठाइ ।
गुप्त प्रीति जुवतिनि की कहिकै, याको करों महंत ।
गोपिन के परबोधन कारन, जैहै सुनत तुरन्त ।
अति अभिमान करैगो मन में, जोगिनि की यह भांति ।
सूर स्याम यह निहचै करिहै, बैठत है मिलि पाँति ॥[2]

कृष्ण जी ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उद्धव जी आ गये । कृष्ण जी ने चर्चा आरम्भ कर दी । वे ब्रज की स्मृतियो की कथा कहने लगे । गोपी, ग्वाल, गोसुत, माखन-रोटी, यशोदा आदि की बार-बार बाते करने लगे । कहने लगे कि ब्रज की याद भूलती नही, रात-दिन ब्रज की स्मृति भूलती नही, राधा तो चित्त से हटती ही नही आदि-आदि । इस पर पहले तो उद्धव मुस्कराए फिर जोग-ज्ञान की चर्चा करते हुए जगत को मिथ्या बताने लगे—

हँसि उपंग सुत बचन बोले कहा हरि पछितात ।
सदा हित यह रहत नाहीं, सकल मिथ्या जात ॥[3]

तब कृष्ण बडी कृतज्ञता के साथ बोले कि उद्धव जी तुम ब्रज चले जाओ । मैं तुम्हे निश्चय ही मन-कर्म-वचन से ही भेज रहा हूँ । तुम पूर्ण ब्रह्म के ज्ञाता हो । विरह-नदी मे डूबती हुई गोपियो को प्रबोध दो कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नही है—

ऊधौ तुम यह निहचै जानौ ।
मन-वच-कर्म मैं तुमहिं पठावत, ब्रज कौ तुरत पलानौ ।
पूरन ब्रह्म सकल अविनासी, ताकै तुम हौ ज्ञाता ।
रेख न रूप जाति कुल नाहीं, जाके नहिं पितु माता ।
यह मत दै गोपिन कौ आवहु, विरह नदी में भासत ।
सूर तुरत तुम जाइ कहौ यह ब्रह्म बिना नहिं आसत ॥[4]

१. सूरसागर, पद सख्या ४०३०
२. ,, ,, ४०३७
३. ,, ,, ४०४२
४. ,, ,, ४०४४

साथ ही साथ व्यंग्य से वे अपना मन्तव्य भी प्रकट करते हैं कि तुम ब्रज जाकर अपना उद्धार कर आओगे

सखा प्रवीन हमारे तुम हौ, तुम तो नहीं महन्त।
सूर स्याम इहि कारन पठवत ह्वै आवैगो संत।[1]

किन्तु उद्धव जी कृष्ण जी के गूढ वचनो को न समझ सके। जिस प्रकार नारद जी के अभिमान को दूर करने के लिए भगवान् विष्णु ने उन्हे वानर रूप देकर स्वयवर मे भेजा उसी प्रकार कृष्ण जी ने ज्ञानी उद्धव को गोपियो के समक्ष भेज दिया।

प्रयोजन

उद्धव जी के ब्रज-गमन का प्रयोजन भागवत से सर्वथा भिन्न है। भागवत मे श्रीकृष्ण ने उद्धव जी द्वारा गोपियो को निर्गुण ब्रह्म-ज्ञान का सदेश भेजा था। उद्धव जी केवल सन्देश-वाहक थे, उन्होने कृष्ण के सन्देश को गोपियो के समक्ष अक्षरश. सुनाया और उसी के द्वारा उन्हें प्रबोध देने का सफल प्रयास किया। सूरदास जी के भ्रमरगीत मे कृष्ण जी ने गोपियो को समझाने के स्थान पर स्वय उद्धव जी को ही भक्ति का मर्म समझने के लिए ब्रज भेजा था। इसीलिए यहाँ पर उद्धव जी कृष्ण के सन्देश की बात कम करते हैं, स्वयं उपदेशक होकर व्याख्यान करते हैं। भागवत मे, इसीलिए, अन्त मे गोपियाँ उद्धव के ज्ञान को ग्रहण करती है और शान्ति-लाभ करती हैं, जबकि सूरसागर मे उद्धव जी अपने ज्ञान को भूल जाते हैं और शुद्ध भक्त बन कर ब्रज से लौटते हैं। आने पर जिस प्रकार कृष्ण जी ने व्यंग्य के साथ भेजा था कि 'ह्वै आवैगो सन्त' उसी प्रकार उन्हे परिवर्तित देख कर कहा भी है कि 'आयौ जोग सिखाइ' वास्तव मे सूरदास के हाथो मे आकर विषय आमूल परिवर्तित हो गया।

इस परिवर्तन का कुछ प्रयोजन भी है। सूरदास जी के काल मे ज्ञान और भक्ति पद्धति पर विवाद हो रहे थे। नाथ पथी तथा निर्गुण मतावलम्बी सन्त ज्ञान-मार्ग को और रामानुज, वल्लभाचार्य, निम्बार्क और चैतन्य आदि के सम्प्रदाय वाले भक्त भक्ति-मार्ग को श्रेष्ठ बता रहे थे। हिन्दी के कवियो मे कबीरदास जी ने ज्ञान मार्ग की प्रशसा की और तुलसीदास तथा सूरदास जी ने भक्ति मार्ग को श्रेष्ठ बताया। गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरित मानस मे ज्ञान और भक्ति के विवाद अनेक बार मिलते हैं। अरण्य काण्ड मे राम और अगस्त की वार्ता, लक्ष्मण और राम की वार्ता तथा उत्तर काण्ड मे गरुड काकभुशुण्ड-सम्वाद इसी विषय को लेकर हुए हैं। और भी अनेक स्थलो पर अवसर पाते ही गोस्वामी जी ज्ञान मार्ग पर भक्ति की प्रतिष्ठा करते गये हैं। सूरदास जी ने सूरसागर के आरम्भ मे ही सकेत रूप से सगुणाश्रयी भक्ति की चर्चा की है—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यो गूगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै।
+ + +

---

१. सूरसागर, पद सख्या ४०४६

रूप रेख गुन जाति जुगति विनु निरालंब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावै।[1]

किन्तु इतने ही से निर्गुण पर सगुण की प्रतिष्ठा सिद्ध नही होती। कदाचित् इसीलिए भ्रमरगीत सदर्भ का लाभ उठा कर उन्होंने ज्ञान-मार्ग उद्धव के द्वारा और भक्ति-सिद्धान्त गोपियो के द्वारा प्रस्तुत किया। दोनों के वचनो मे दोनो विचारधाराओ का व्यक्तीकरण किया गया और अन्त में भक्ति सिद्धान्त की स्पष्ट विजय प्रस्तुत की।

सूरदास जी ने कथानक मे कुछ नये प्रसग भी जोड़े है जो इस प्रकार हैं—

१. बलराम सन्देश—

जब उद्धव जी व्रज जाने के लिए प्रस्तुत होते हैं तो केवल कृष्ण के सन्देश-वाहक नही बनते। बलराम भी यशोदा माँ की याद करते हैं—

हलधर कहत प्रीति जसुमति की
कहा रोहिनी इतनी पावै वह बोलनि अति हित की।[2]

वे स्पष्ट कहते हैं हम तो तुम्हारे ही पुत्र हैं और के नही हो सकते। हम दौड़ कर आयेंगे और आपसे मिलेंगे, अभी नही आ रहे है क्योकि इस समय कुछ और कार्य है—

स्याम हलधर सुत तुम्हारे और के न कहाहिं।
आइ तुमकौं धाइ मिलिहै कछुक कारज और
सूर हमकौं तुम बिना सुख को नही कहुँ ठौर॥[3]

२. पत्री

(अ) कृष्ण-पत्री

सदेश के अतिरिक्त कृष्ण जी पत्र लिखते हैं—

स्याम कर पत्री लिखी बनाइ।
नंद बाबा सौ विनै कर जोरि जसुदा माय।
+ + +
गोपिकनि लिखि जोग पठयो, भाव जानि न जाइ।
सूर प्रभु मन और यह कहि प्रेम लेत ढिढाइ॥[4]

पत्र मे स्पष्ट लेख है कि—

सूर काज करि कै दिन कछू मैं बहुरि मिलेंगे आइ।[5]

(आ) वसुदेव-पत्र

कृष्ण ही नही वसुदेव भी पत्र लिखते हैं—

ऊधो जात व्रजहिं सुने।
देवकी वसुदेव सुनिकै, हृदै हेत गुने।

१ सूरसागर, पद २
२. सूरसागर, पद ४०५८
३. ,, ४०५३
४. ,, ४०५४
५. ,, ४०५५

आपु सों पाती लिखी, कहि धन्य जसुमति नंद।
सुत हमारे पालि पठये, अति दियौ आनद।
... .

बाल सुख सब तुमहि लूट्यौ, मोहिं मिले कुमार।
सूर यह उपकार तुम लै, कहत बारम्बार॥[1]

(इ) कुब्जा-पत्र

तीसरा पत्र कुब्जा का गोपियो के लिए होता है—

हम पर काहे भुकति व्रजनारी।
साझे भाग नहीं काहू कौ, हरि की कृपा निनारी।
... .

फलनि मांझ ज्यौ करुई तोमरि रहत घुरे पर डारी।
अब तौ हाथ परी जत्री के, बाजत राग दुलारी।
सूरदास स्वामी करुनामय, अपने हाथ संवारी।[2]

३. कुब्जा-सन्देश

पत्री के साथ ही कुब्जा सदेश भी देती है और अपने दिल की खोटी खरी सुनाने से नही चुकती। वेचारे कृष्ण सिर भुकाये सुन लेते हैं, कुछ कहते नही क्योकि इधर कुब्जा और उधर गोपियो का प्रेम प्रबल है—

सुनियत ऊधो लइ सदेसौ तुम गोकुल कौं जात।
पाछे करि गोपिन सौं कहियो एक हमारी बात।
... .

देखौ बूझि आपने जिय में, तुम धौं कौन सुख दीन्हे।
ये बालक तुम मत्त ग्वालिनी, सबै मूड करि लीन्हें।
तनक दही माखन के कारन, जसुदा त्रास दिखावै।
तुम हँसि सब बांधन कौं दौरी काहू दया न आवै।
जो वृषभानु सुता उत कीन्ही, सो सब तुम जिय जानी।
ताही जाल तज्यौ व्रज मोहन, अब काहै दुख मानी।
सूरदास प्रभु सुनि सुनि बाते रहे भूमि सिर नाए।
इत-कुब्जा उत प्रेम गोपिकनि कहत न कछु बनि आवै।[3]

४. वृन्दावन संदर्भ

शास्वत वृन्दावन कृष्ण-लीला की आधार भूमि हैं। जहाँ कृष्ण ने समस्त लीलाएँ की थी वह स्थल उन्हे वैसा ही प्रिय था जैसे कि व्रज के अन्य प्राणी। इसीलिए उन्होने उद्धव जी से वृन्दावन को नमस्कार भिजवाया—

१. सूरसागर, पद ४०६०
२. ,, ४०६२
३. ,, ४०६६

मित्र एक बन बसत हमारे ताहि मिलै सुख पाइहौ।
डरपहु जनि तुम सघन कुंज में, हैं तहं के तरु भारी।
वृन्दावन मति रहति निरंतर, कबहुं न होति निनारी।[1]

इसी विचार को सारावली मे भी ठीक इसी प्रकार कहा गया है—

बन मे मित्र हमारो एक है, हम ही सो है रूप।
कमल नैन घनश्याम मनोहर, सब गोधन को भूप।
ताकों पूजि बहुत सिर नइयो, अरु कीजो परनाम।
उन हमरो ब्रज सबहि बचायो, सब विधि पूरन काम॥[2]

५. ब्रजवासियों में शकुन

उद्धव के ब्रज-आगमन के पूर्व ही गोपियो मे तरह-तरह के शकुन होने लगे। उनके मन मे सहज हर्ष हुआ। उन्हे भासने लगा कि कृष्ण आने वाले हैं। ऐसी अवस्था मे कौए का उडाना, भुजा का फरकना, अंगिया का तड़कना, भौरे का उड़कर कान के पास गाना आदि होने लगे—

काग-उड़ाना

तौ तू उड़ि न जाइ रे काग
जौ गुपाल गोकुल कौ आवै तौ ह्वै हैं बड़ भाग।
दधि ओदन भरि दोनी दैहौं, अरु अंचल की पाग।
... ...
सूरदास प्रभु करैं कृपा जब, तब तैं देह सुहाग।[3]

भुजा

भुज फरकत अंगिया तरकति कोउ मीठी बात सुनावै
स्याम सुंदर को आगम जानिय वे निस्चय घर आवै।[4]

भौंरा

भौंर एक चहुं दिसि ते उड़ि उड़ि, कानन लगि लगि गावै
उत्तम भाषा ऊच चढ़ि चढि, अग अंग सगुनावै।[5]

इस प्रकार उद्धव के आगमन के पूर्व लोक-विश्वास मे प्राप्त सभी उपलक्षण घटित हो जाते हैं। गोपियाँ एक प्रकार से उत्कंठित होती हैं, उनके हृदय मे एक प्रकार का उल्लास और आशा का मनोराज्य सजोया होता है।

---

१. सूरसागर, पद ४०६७
२, सारावली ५५२-५३
३. सूरसागर ४०७४
४. ,, ४०७२
५. ,, ४०७३

भ्रमरगीत और उद्धव-गोपी-संवाद

ब्रज मे उद्धव का आगमन भी भागवत से कुछ भिन्न प्रकार का है। भागवत मे उद्धव जी मुख्यतया नन्द-यशोदा के पास गमन करते हैं, गोपियो के पास तो वे मात्र सदेश-वाहक के रूप मे गये थे। सूरसागर मे उद्धव-यात्रा का मुख्य लक्ष्य गोपियाँ हैं। इसीलिए जहाँ भागवत मे उद्धव रात्रि मे नन्द-भवन पधारते हैं और गोपियाँ प्रात.काल नन्द-द्वार पर खड़ा हुआ रथ देख कर तरह-तरह का अनुमान लगाती हैं, वहाँ सूरसागर मे दूर से आते हुए रथ को देख कर राधा की सखियाँ उन्ही से इस प्रकार कहने लगती हैं—

है कोउ वैसी ही अनुहारि
... ...
वैसोइ मुकुट मनोहर कुंडल पीत वसन रुचिकार।
.. ..

सूर सकल आतुर अकुलानी जैसे मीन विनु वारि॥ [1]

सारे ब्रज मे यह समाचार फैल गया कि कृष्ण जी आ रहे हैं। उमग की लहर चारो ओर व्याप्त हो गई। किन्तु जब रथ निकट आया तो परिणाम और ही निकला—

आइ निकट पहिचाने ऊधो, नैन जलज जल छाए।
सूरदास मिटी दरसन आसा, नूतन विरह जनाए॥ [2]

ब्रजबालाएँ बार-बार रथ की ओर देखती हैं और अकुलाती हैं, मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं—

तरुनी गई सब बिलखाइ
जबहिं आए सुने ऊधो अतिहि भई झुराइ।
परी व्याकुल जहाँ जसुमति गई तहं सब धाइ।
नीर नैननि बहति धारा लई पोंछि उठाइ॥ [3]

थोडी देर के बाद स्थिति मे कुछ सुधार होता है। नन्द जी उद्धव को घर मे ले जाते हैं और आदर सत्कार के उपरान्त पूछना आरम्भ करते हैं कि क्या कृष्ण कभी हमारी याद करते हैं—

कबहुं सुधि करत गुपाल हमारी
पूछत पिता नन्द ऊधो सो अरु जसुदा महतारी॥ [4]

उत्तर मे सर्वप्रथम उद्धव जी ने कृष्ण जी का सदेश दिया—

कह्यौ कान्ह सुनु जसुमति मैया।
आवहिंगे दिन चारि पांच मे हम हलधर दोउ भैया॥ [5]

एक पद मे भागवत की भी छाया प्रतीत होती है। इस पद मे गोपियाँ उद्धव के रथ

---

१. सूरसागर, पद ४०७७
२ ,, ४०८५
३. ,, ४०८७
४. ,, ४०९०
५, ,, ४०९१

को दूर से आता हुआ न देख कर नद-द्वार पर खड़ा देखती है और अनुमान लगाती हैं कि अक्रूर फिर आया है—

देखौ नन्द द्वार रथ ठाढौ ।
बहुरि सखी सुफलक सुत आयौ परयौ संदेह जिय गाढ़यो ।।[१]

उद्धव जी कृष्ण का समाचार देते हैं कि किस प्रकार उन्होंने कस को मार कर अपने माता-पिता को बन्धन-मुक्त किया और उग्रसेन को गद्दी पर बिठाया । वे कृष्ण की पत्री देते हैं जिसे देखते ही गोपियाँ गद्‌गद् हो जाती हैं । कृष्ण के द्वारा लिखे हुए श्याम वर्ण देख कर उनके स्वप्न साकार होते हैं । वे अक्षरों मे ही श्याम रूप की कल्पना करके पत्री को अपने वक्षस्थल से लगा कर आनन्द मग्न हो जाती हैं—

निरखत अक स्याम सुन्दर के बार बार लावति छाती ।
लोचन जल कागद मसि मिलि के ह्वै गई स्याम स्याम जू की पाती ।[२]

जब उन्होने जाना कि पत्री मे योग का सन्देश है तब तो वे कहने लगी कि हम इस पत्री को लेकर क्या करेंगी—

ऊधौ कहा करैं लै पाती ।
जौ लौं मदन गुपाल न देखे विरह जरावत पाती ।[३]

भ्रमरगीत

पत्री-प्रसग के उपरान्त भ्रमर आ जाता है और गोपियाँ उसी से प्रश्न करने लगती हैं—

इहि अंतर मधुकर इक आयो
निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै सुन्दर सबद सुनायो ।
पूछन लागी ताहि गोपिका कुबजा तोहि पठायौ
की धौं सूर स्याम सुन्दर को हमैं संदेसा लायो ।।[४]

उनका यह पूछना कि क्या तुझे कुब्जा ने भेजा है स्वाभाविक है क्योकि इससे पूर्व उन्हे कुब्जा का समाचार मिला था और वे कुब्जा के प्रति अपने हृदय के कटु उद्‌गार व्यक्त कर चुकी थी । अभी तक उद्धव ने अपनी बात कुछ नही कही । इसके उपरान्त ही 'मधुप कहा ह्या निरगुन गावहि'[५] पद का औचित्य समझ मे नही आता क्योकि उद्धव ने अभी तक निर्गुण-चर्चा की ही नही थी । कदाचित् सम्पादन के दोष से इसका क्रम ठीक नही है । अगले पदो मे गोपियाँ उद्धव से सन्देश कहने को प्रार्थना करती है—

मधुकर जो हरि कह्यौ सु कहिए ।[६]

---

१. सूरसागर, पद ४०९२
२. ,, ४१०५
३. ,, ४११५
४. ,, ४११५
५. ,, ४११६
६. ,, ४११९

इस पर उद्धव जी ने सन्देश-कथन आरम्भ किया और निर्गुण ब्रह्म का निरूपण किया—

> सुनौ गोपी हरि को सदेस।
> करि समाधि अंतरगति ध्यावहु यह उनको उपदेस॥
> है अविगत अविनासी पूरन सब घट रहे समाइ।
> तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है वेद पुरानन गाइ॥[1]

उद्धव के एक पद मे ज्ञानोपदेश को सुनकर गोपियाँ क्षुब्ध हो गई और उत्तर में भ्रमरगीत चल पडता है। ५४६ पदो (४१२१ से ४६६६) के बीच केवल तीन और पदों (४१५७, ४३०३, ४४८४) मे उद्धव-संदेश मिलता है। शेप ५४३ पद गोपियो के वचन हैं और अधिकाश मे सम्बोधन भ्रमर या उसके पर्यायवाची शब्द हैं। प्रत्येक पद सर्वथा स्वतंत्र और पूर्वापर सम्बन्ध से अलग है। इसमे गीतिकाव्य का शुद्ध रूप देखा जा सकता है। इन्हे भ्रमरगीत कहा जाना सर्वथा समीचीन है।

इसके उपरान्त उद्धव जी का मत-परिवर्तन प्रस्तुत किया गया है। उद्धव जी व्रज-वासियो पर बलिहारी जाते हैं। वे ज्ञान के स्थान पर शुद्ध भक्त बन कर मथुरा वापस जाने को प्रस्तुत होते हैं। उद्धव की वापसी मे भी भागवत के वृत्त मे परिवर्तन है। सच तो यह है कि जिस प्रकार उद्धव का व्रज-गमन नये रूप मे है उसी प्रकार मथुरा-गमन भी। भागवत मे तो उद्धव ज्ञानी उपदेशक की भाँति व्रज-भूमि पधारे थे और उसी प्रकार लौटे भी। सूरसागर मे श्रीकृष्ण ने उद्धव को भक्ति का मर्म सीखने को भेजा था। अत. वे भक्त बन कर ही लौटे। साथ ही जिस प्रकार उद्धव जी व्रज मे कृष्ण, वलराम, कुब्जा आदि के पत्र और सदेश लेकर आये थे उसी प्रकार इन सबके पत्रोत्तर और सन्देश लेकर लौटे भी।

पत्र

गोपियाँ पत्र का उत्तर पत्र से देती हैं किन्तु उन्होंने पत्र में अधिक बातें नही लिखी हैं, कदाचित इसलिए कि व्रज गोपियाँ अधिक पढी लिखी न थी। पत्र मे नम्र निवेदन है कि हममे कोई विशेषता नही है फिर भी हम आपके विरह मे व्याकुल हैं। हे प्रभु, कब मिलेंगे।

> ऊधौ इक पतिया हमरी लीजै।
> ... ...
> हम तौ कौन रूप गन आगरि, जिहि गुपाल जू रीझै।
> ... ...
> अति व्याकुल अकुलाति विरहिनी, सुरति हमारी कीजै।
> ... ...
> सूरदास प्रभु कब रे मिलोगे, देखि-देखि मुख जीजै।[2]

---

१. सूरसागर, पद ४१२०
२. ,, ४६८२

संदेश

(१) गोपी सन्देश

संदेश अनेक है। संदेशो का सार इस प्रकार है—

(१) भली भई जो इत पठायौ, इतनो बोल निवहियौ।
एक बार तौ मिलौ कृपा करि जो अपनौ ब्रज जानौ।[1]

(२) सबै विरहिनी पालागति हैं, मथुरा कान्ह रहौ।
भूलिहु जनि आवहु यहि गोकुल, तपति तरनि ज्यौं चद।
सुन्दर वदन स्याम कोमल तन, क्यौं सहि हैं नन्द-नन्द।[2]

(३) बिन गुपाल बैरिनि भई कुंजै।
... ...
यह ऊधौ कहियो माधौ सों मदन मारि कीन्हो हम गुंजै।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौ, मग जोवत अखियाँ भई छुंजै।[3]

(४) मदन गुपाल विना या व्रज में होन लगे उत्पात।
तृनावर्त बक बकी अघासुर धेनुक फिरि फिरि जात।
... ...
गोपी गाइ गोप गोसुत सब थर थर काँपत गात।
... ...
लागौ वेगि गुहारि सूर प्रभु, गोकुल वैरिनि घात॥[4]

(५) अति कृस गात भई हैं तुम बिन परम दुखारी गाइ।[5]

(६) अति मलीन वृषभानु कुमारी।
... ...
सूरदास कैसे करि जीवै व्रज वनिता बिन स्याम दुखारी।[6]

(७) लोग कहत कुवजा की प्रभुता तुम सकुचहु जनि लेस।
कवहुँक इत पग धारि सिधारिहु, हरि उहि सुखद सुवेस।
हमरे मन रंजन कीन्है ते, ह्वै ह्वौ भुवन नरेस।[7]

सार यह कि गोपियाँ कहती हैं कि यहाँ के सभी जन गोपियाँ, राधा तथा गौए कृष्ण-विरह मे मृतप्राय हैं। जीवित केवल इसलिए हैं कि कृष्ण दर्शन की लालसा है। कुब्जा-प्रसग के कारण उन्हे सकोच करने की कोई आवश्यकता नही। एक बार व्रज आने से हमारे सारे दुःख दूर होगे। अतः एक बार अवश्य ही व्रजगमन करें।

---

१. सूरसागर, पद ४६८३
२. ,, ४६८५
३. ,, ४६८६
४. ,, ४६८७
५. ,, ४६८८
६. ,, ४६९१
७. ,, ४६९६

(२) यशोदा सन्देश

यशोदा जी के सदेश निम्न थे—

१—इतनी दूरि बसत क्यों बिसरे अपने जननी तात ।
जा दिन ते मधुपुरी सिधारे स्याम मनोहर गात ।
ता दिन ते मेरे नैन पपीहा दरस प्यास अकुलात ।
... ...

सूरदास बहुरो कब देखौं, कोमल कर दधि खात ।[१]

२—ऊधौ हम ऐसी नहिं जानी
सुत कै हेत मरम नहिं जानो प्रगटै सारग पानी ।
... ...

सूरदास अब नंदनदन बिन कहौ कौन विधि रहिए ।[२]

३—कहियो जाइ देवकी सौं तुम कौन घाटि हम कीन्ही
... ...

जो हौ मधुवन देखन आऊं सब व्रज लागै साथ ।
एक बार मुख देखि पठैहैं, सूरदास के हाथ ।[३]

४—तुम हौ जग जीवन प्रतिपालक निठुराई नहिं कीजै
ग्वाल अरु बाल बच्छ गो बिलखत सूर सुदरसन दीजै ।[४]

५—कहियौ जसुमति कौ आसीस
जहाँ रहौ तह नद लाड़िलो जीवो कोटि वरीस ।
. ...

अबके यह ब्रज फेरि बसावहु सूरदास के ईस ।[५]

उद्धव-प्रत्यागमन

उद्धव जी ने लौटकर कृष्ण के समक्ष व्रजदशा का यथातथ्य वर्णन किया—

व्रज के विरही लोग दुखारे ।
बिन गोपाल ठगे से ठाढे अति दुर्बल तन कारे ।
नंद जसोदा मारग जोवति निसि दिन साँझ सकारे ।
चहुँ दिसि कान्ह कान्ह कहि टेरत, असुंवन बहत पनारे ।
गोपी ग्वाल गाइ गोसुत सब अतिही दीन विचारे ।
सूरदास प्रभु बिन यों देखियत चंद बिना ज्यो तारे ।[६]

१. सूरसागर पद ४७००
२. ,, ४७०३
३. ,, ४७०४
४. ,, ४७०६
५. ,, ४७०८
६. ,, ४७१८

राधा जी का विवरण उन्होंने विशेष प्रकार से दिया—

हरि तुम्हरे विरह राधा मैं जु देखी छीन।

... ...

ककना कर रहत नाहीं, टाड़ भुज गहि लीन।
जब सन्देसो कहन सुन्दरि गवन मोतन कीन।
छुटी छुद्रावलि चरन अरुझी गिरी बलहीन।
कंठ वचन न वोलि आवै, हृदय परिहस भीन।

... ...

सूर हरि के दरस कारन रही आसा लीन ॥[1]

उन्होने अनेक पदों में राधा तथा व्रज की विरह-दशा का मार्मिक चित्रण किया और अन्त मे निवेदन किया कि वे कुछ दिनो के लिए व्रज मे निवास के लिए अवश्य चलें—

दिन दस घोष चलहु गोपाल।

... ...

सूरदास मैया अनाथ है, घर चलियै नन्दलाल ।[2]

कृष्ण जी उद्धव जी को और उकसाने के लिए कहने लगे कि मैंने तो आपको क्या कहने के लिए भेजा था और आप आकर क्या कहने लगे—

ऊधौ भलो ज्ञान समुझायौ।
तुम मोसौं अब कहा कहत हौ, कौं कहि कहा पठायो।
कहवावत हौ बड़े चतुर पै, उहां न कछु कहि आयौ।
सूरदास व्रज-वासिन कौ हित, हरि हिय माँह दुरायौ।[3]

उद्धव जी ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए विस्तार से अपने सदेश तथा गोपियो की प्रतिक्रिया का वर्णन किया। उन्होने गोपियो की भूरि-भूरि प्रशसा की और उनके समक्ष सहर्ष अपनी पराजय स्वीकार की और फिर निवेदन किया—

गहौ विरद की लाज दीन हित, करि सुदृष्टि व्रज देखौ।
मों सौ बात कहत विन सन्मुख, कहा श्रवनि अवलेखौ[4]

यह सव कुछ सुनकर श्रीकृष्ण जी ने अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट किया और बताया कि मुझे व्रज कभी भी नही भूलता। वहाँ का रहन-सहन, माखन-रोटी, गो-गोपी-गोप सब आँखो मे समाये रहते हैं। ऐसा कहकर भाव-विभोर होकर चुप हो गए—

ऊधौ मोहि व्रज विसरत नाहीं।

... ...

सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं।[5]

---

१. सूरसागर, पद ४७२५
२. ,, ४७४१
३. ,, ४७४२
४. ,, ४७७२
५. ,, ४७७५

साराश यह कि सूरसागर मे भ्रमरगीत का कथानक लम्बा, हृदय-सवेद्य और लोक व्यवहार के अनुरूप है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा युक्तियुक्त और रसावयवों की दृष्टि से सर्वथा सम्पन्न है। स्फुट गीतो मे होने के कारण भ्रमरगीत का गीत नाम सार्थक है।

वर्णनात्मक भ्रमरगीत

स्फुट गीतो मे प्राप्त भ्रमरगीत के अतिरिक्त तीन ऐसे पद है जिनमे कथा सक्षेप मे कही गई है। इनमे सबसे छोटा पद १३ पक्तियो का है। यह चौपाई छन्द मे बद्ध है। इसमें माधव-सदेश योग का उपदेश तथा गोपी-सवाद और भ्रमरगीत माहात्म्य-कथन हुआ है।

यह सदेस कह्यौ है माधो। करि विचार जिय साधन साधो।
... ...
भंवरगीत जो दिन दिन गावै। परम भक्ति सो हरि की पावै।
सूर जोग की कथा न भाई। सदा भक्ति गोपी जन गाई।[1]

दूसरा पद भ्रमरगीत संक्षेप के नाम से दिया गया है। इसमे उद्धव के व्रज-आगमन का वर्णन है। गोपियाँ रथ देखकर कृष्ण की आशा करती हैं। किन्तु उद्धव के आने पर उनसे कृष्ण का समाचार पूछती हैं तथा व्रज आने के लिए निवेदन करती हैं। उद्धव ज्ञानोपदेश करते हैं। गोपियां प्रत्युत्तर मे उपालभ देती हैं और उद्धव जी उन्हे गुरु मान कर भक्ति स्वीकार करते हैं—

आरम्भ की पक्तियां है—

हरि रथ रतन जरयौ सुअनूप दिखावै।
जिहि मग कान्ह गयौ तिहि मग मे आवै॥

अन्तिम पक्तियाँ हैं—

तुम मम गुरु मैं दास तुम्हारौ। भक्ति सुनाइ जगत निस्तारौ।
भ्रमर गीत जो सुनै सुनावै। प्रेम भक्ति गोपिन की पावै।
सुरदास गोपी बड़भागी। हरि दरसन की ढोरी लागी।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त दोनो पदो मे एक ही विचार मिलता है। भेद यह है कि द्वितीय पद मे उद्धव-गोपी सवाद को अच्छा अवसर मिलता है। इन दोनो पदो में उद्धव की वापसी उस प्रकार मर्मस्पर्शी नही है जिस प्रकार स्फुट-गीतो वाले वृहत भ्रमरगीत मे हैं।

तृतीय वर्णनात्मक पद[3] वर्ण्यवस्तु के विभाजन की दृष्टि से अधिक सतुलित है। उसमे सूर के वृहत् भ्रमरगीत की भांति उद्धव जी सहृदय भी हैं। उन्हे जानकर गोपियाँ हर्षित हो कर उनका स्वागत करती हैं, कुशल क्षेम पूछती हैं। पत्र देख कर वे विह्वल हो जाती हैं। उनके प्रेम भाव को देखकर उद्धव जी के नेत्रो मे अश्रु तो भर आते हैं

---
१. सूरसागर, पद ४६६७
२. ,, ४७११-१२
३. ,, ४७१३

किन्तु अपने कर्तव्य-कर्म को ध्यान मे रख कर अपने मनोभाव को दबा लेते हैं। फिर बहुत संभाल कर वे उन्हे योगोपदेश का उपदेश आरम्भ करते हैं। फिर उद्धव और गोपियों के बीच सैद्धान्तिक कथोपकथन होता है। गोपियो के प्रेम-नेम को देखकर उद्धव जी अपने ज्ञान को भूल गये। वे ब्रज में भक्ति भाव से छके घूमते रहे और लौट कर उन्होंने कृष्ण से ब्रज की दशा बड़ी विह्वलता से सुनाई। उसे सुनकर कृष्ण जी भी गद्‌गद् हो गये और आँखो मे आँसू भरे केवल इतना कह सके कि 'आए जोग सिखाइ।'

इस प्रकार इस पद में सूरसागर की भाव-धारा अधिक सगत रूप मे मिलती है। इन पदों को देखकर प्रश्न यह उठता है कि स्फुट पदो मे सारे भ्रमरगीत की रचना के उपरान्त इन तीन वर्णनात्मक पदो की रचना का प्रयोजन क्या है ? यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि कदाचित् ये पद अप्रामाणिक भी हो। पुनरुक्तियाँ सूरसागर मे भरी पडी है। एक ही विषय अनेक पदों मे गाया जाता रहा है। भ्रमर-गीत प्रसग एक महत्वपूर्ण विषय होने के कारण यह सभव है कि सपूर्ण कथा संक्षेप में कई बार कही गई हो। मुक्त गीतों मे गाये हुए वृहत् भ्रमरगीत मे उद्धव का पक्ष अत्यन्त निर्बल ढग से कहा गया है। केवल तीन पदों मे उद्धव के वचन है और उनमे पुनरुक्ति के अतिरिक्त कुछ नही है। गोपियों के कथन ही मिलते है। उसमे उद्धव-गोपी-सवाद एक प्रकार से हुआ ही नहीं है। आधार मात्र के लिए उद्धव-कथन के पद आ गये है। संवाद वर्णनात्मत्क दो बड़े पदो मे सुन्दर है। तर्क-वितर्क का प्रश्नोत्तर स्वरूप इन पदो मे मिलता है। इसलिए कदाचित् इसी भाव को दूर करने के लिए ही इन पदो की रचना की गई हो। इन पदो मे अभिव्यक्ति-सौष्ठव की ओर विशेष ध्यान नही दिया केवल विचार ही इसमे प्रधान है। कुछ भी हो, इन पदो की मूल विचार धारा वही है जो अन्यत्र मिलती है। भागवत का भावानुवाद इनमे नही है।

परम्परा-निर्माण में सूर का योगदान

सूरकृत भ्रमरगीत-कथानक के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि सूरदास जी ने भागवत मे उपलब्ध सामग्री का ग्रहण तो किया किन्तु पर्याप्त परिवर्तन और परिवर्धन के साथ।

परिवर्तन

उद्धव-यात्रा का प्रयोजन व्रजवासियो को ज्ञान देना न होकर स्वय उद्धव का गोपियो से भक्ति मार्ग की शिक्षा लेना है। उद्धव और गोपी सवाद के माध्यम से ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ प्रस्तुत करना और भक्तिमार्ग के समक्ष ज्ञान-मार्ग को तुच्छ प्रमाणित करना भी है। उद्धव श्रेष्ठ योगी और ज्ञानी हैं तथा गोपियाँ पुष्टिमार्गीय भक्त की प्रतीक है। जिस उद्धव को अपने ज्ञान-गौरव का इतना अभिमान था कि वे श्रीकृष्ण जी के व्रज-स्नेह को देखकर मुस्करा पडे थे वे ही उद्धव ब्रज से गोप बन कर वापस आये। जिस प्रकार रामचरितमानस मे शरभग ऋषि ने योग, यज्ञ, जप, तप आदि को देकर भक्ति ले ली थी :—

जोग जाय जप तप व्रत कीन्हा । प्रभु कहु देई भगति वर लीन्हा । (रामचरित-मानस)

उसी प्रकार उद्धव जी अपने ज्ञान-योग आदि को सर्वथा छोड़ कर शुद्ध भक्त बन कर कृष्ण के चरणों में लौटे । भागवत मे उद्धव जी गोपियो को ज्ञान से आश्वस्त कर के अपने अपरिवर्तित रूप मे ही लौटे थे । गोपियो की सासारिक माया-मोह की विचारधारा तिरोहित हुई थी और वे निराकार, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी प्रभु के ध्यान मे तल्लीन होकर अपने विषाद को भूल गई थी ।

हिन्दी मे भ्रमरगीत काव्य की जो परम्परा चली उसमे सूर-प्रणीत विचारधारा का ही विकास हुआ । नन्ददास आदि अष्टछाप के कवियो तथा तुलसी, रसखान, रहीम, हरिराय, मलूकदास आदि ने भी सूरदास की भक्ति-प्रतिष्ठा को ही प्रमुखता दी । रत्नाकर जी के उद्धव शतक तक मे इसी विचार का निर्वाह होता रहा है ।

परिवर्धन

वर्ण्य वस्तु के दो मुख्य अ श हैं—भ्रमरगीत और उद्धव-गोपी-सवाद । भागवत मे भ्रमरगीत एक आकस्मिक घटना मात्र है । सयोग से एक भ्रमर को देखकर एक गोपियो के हृदय की विरहाग्नि भडक पड़ी थी । उसने भ्रमर के व्याज से कृष्ण को खूब खरी खोटी सुनाई । किन्तु जब बाद मे उद्धव जी ने कृष्ण-सदेश सुनाया और ज्ञानोपदेश किया तब सब सुनती रही । इस प्रकार भागवत मे भ्रमरगीत और उद्धव-गोपी-सवाद एक दूसरे से अलग हैं । सूरसागर में भ्रमरगीत तो अन्योक्तिमूलक है । सवाद का रूप तो केवल दो वर्णनात्मक पदो मे ही मिल पाता है अन्यथा सारा भ्रमरगीत स्वतन्त्र रूप से गोपियो के मर्माहत हृदय की वेदनाओ का प्रकाशन है । यहा भागवत की भाति एक गोपी की क्षणिक भावुकता (सैन्टीमेट) का उद्‌गार नही मिलता । यहा तो हृदयसागर की अनन्त भावोर्मियो का उच्छलन होता है जिसके समक्ष उपदेश का उपचार तृण की भाति बह जाता है। गोपियाँ बार-बार ज्ञान मार्ग की चर्चा करती हैं, उन पर फबतिया कसती हैं, विनोद-व्यग्य और कटूक्तियो के द्वारा ज्ञान सिद्धान्त की धज्जियाँ तो उडाती जाती हैं किन्तु उसका प्रधान अस्त्र विरहानुभूति का प्रत्यक्षीकरण है । इस प्रकार सूरदास जी ने जिस भ्रमरगीत की रूपरेखा प्रस्तुत की वह सागर की भाँति विशाल गम्भीर है । उसमे भावपक्ष की प्रतिष्ठा और विचार पक्ष की, गौणता है । उसमे ज्ञान और भक्ति के दार्शनिक तथ्य अस्थि-पजर रूप मे ही रह पाये हैं । प्रमुखता है विरह की एकादश दशाओ की, विरहावस्था मे उत्पन्न होनेवाली सहस्रो स्मृतियो की, प्रतिदान न पाने पर शत-शत प्रतिक्रियाओ की, और शास्त्रीय एव लोकपक्षीय वियोग वहन करने वाली पद्धतियो की ।

साराश यह कि सूर के भ्रमरगीत मे सवाद के नीरस सैद्धान्तिक पक्ष का समाहार और विरह के बानक भ्रमरगीत का बहुत विस्तृत प्रसार हो गया है । परवर्ती कवियो ने भ्रमरगीत के इसी रूप को प्रमुखता दी । उद्धव-गोपी-सवाद का वर्ण्य-विषय कवि की दृष्टि से ओझल हो गया, नन्ददास के भवरगीत के पूर्वार्ध को छोड़कर और कही उभरने भी नही

पाया हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत मे जो प्राण-प्रतिष्ठा सूरदास जी ने मौलिक रूप मे की उसी की अर्चना-वन्दना परम्परित काव्य में होती रही।

वर्ण्य वस्तु में भी सूरदास जी ने बहुत विस्तार किया है। सवेदनात्मक रसमय भावभूमि के लिए अनुकूल परिवेश की भी आवश्यकता होती है। इसीलिए सूरदास जी ने उद्धव जी के आगमन के पूर्व व्रजदशा का विस्तृत एवं सरस चित्रण किया है। उद्धव के भेजने का उपक्रम, सदेशों, पत्रियों आदि की योजना की है। इसी प्रकार व्रज से वापस आने के समय की यशोदा, गोपियो आदि के सदेश और पत्रोत्तर आदि भेजे गये हैं। इस प्रकार परिवर्धित होकर विषय-वस्तु भावमयी हो गई है। विषयवस्तु सम्बन्धी इस परिवर्धन का सुन्दर अनुसरण रत्नाकर जी के उद्धवशतक मे उपलब्ध होता है। उद्धव शतक भ्रमरगीत परम्परा का सबसे जाज्वल्यमय सितारा है जिसकी मूल प्रेरणा का स्रोत सूर भ्रमरगीत ही है।

●

: २ :

भावपक्ष

कविकर्म्म का विवेचन और मूल्यांकन करने के लिए काव्य के दो पक्षो पर विचार किया जाता रहा है—भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष काव्य-शरीर का आन्तरिक और कलापक्ष बाह्य रूप है। दूसरे शब्दो मे इन्हें अनुभूति और अभिव्यक्ति के नाम से भी जाना जाता है। कवि के अन्तस मे जिस वस्तु, विचार अथवा आनन्द का भावन होता है उसे भावपक्ष के और उसका जिस रूप में व्यक्तीकरण होता है, उसे कलापक्ष के अन्तर्गत रखा जाता है। कवि-शिल्पी जिस शिव मूर्ति का निर्माण करता है उसका रूप, उसकी प्रसन्न मुद्रा, उसकी कल्याणकारी भव्य छवि आदि भावपक्ष के और मूर्ति का शिल्प-विधान, कटाव, निखार, कांति, रंग, पृष्ठभूमि की अनुरूपता आदि कलापक्ष के अंग है।

भावपक्ष के सर्वांग-निरूपण मे तीन तत्वो का समावेश होता है—बुद्धि तत्व, कल्पना तत्व, और रागात्मक तत्व। बुद्धितत्व काव्य-सत्य का उद्घाटन करता है। यही शाश्वत सत्य कवि कर्म्म की धुरी है, काव्य-भवन की नींव और काव्य-शरीर का अस्थिपजर है। काव्य चाहे भावना प्रधान हो चाहे कल्पना प्रधान, उसमे विचार अनिवार्य रूप से विद्यमान होता है। काव्य को चाहे रसात्मक[1] कहें चाहे रमणीयार्थ प्रतिपादक[2] चाहे निर्दोष सगुण और सालंकृत[3], चाहे वक्रोक्ति[4] सम्पन्न किन्तु सदैव उसमे किसी-न-किसी गंभीर चिन्तन का मूलाधार अवश्य होगा। चित्र काव्य भी, जो अधम काव्य माना जाता है, सर्वथा तथ्यहीन नही हो सकता। काव्य-कौशल के वृत्त की कोई सीमा नही है। उसका प्रसार कितना भी बडा हो सकता है किन्तु केन्द्र विन्दु की स्थिति अवश्य रहेगी। पतग आकाश मे चाहे जितनी दूर उड़े किन्तु उसकी अदृश्य डोर उसके आधार के रूप मे अवश्य रहेगी। शास्त्रीय गायक या वादक चाहे जितनी कला दिखाए किन्तु वह वादी स्वरो को छोड नही सकता। इसी प्रकार सत्य, तथ्य अथवा विचार-चिन्तन काव्य के मूल आधार है। इनके विना कविता उच्छृखल हो जाती है। डोर से कटी पतग, आतिशवाजी या आकाश-कुसुम की भाँति क्षणिक रग दिखा कर विलीन हो जाती है। काव्य को शाश्वत बनाने मे, इसीलिए, बुद्धितत्व का योगदान महत्वपूर्ण होता है।

---

१. वाक्य रसात्मक काव्य—विश्वनाथ—साहित्यदर्पण
२. रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द. काव्य—जगन्नाथ—रसगगाधर
३. तद्दोषौ शब्दार्थौ सुगुणावनलंकृती—मम्मट काव्य प्रकाश
४. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापारशालिनि।
वन्धे व्यवस्थितो काव्य तद्विदाह्लादकारिणि॥ कुन्तक—वक्रोक्तिजीवित

कल्पना-तत्व बुद्धितत्व के द्वारा प्रस्तुत मूल वस्तु या चिन्तन की रूपरेखा का चित्र-फलक प्रस्तुत करता है। अस्थि-पंजर को मांस मज्जा आदि देकर रूप बना देता है। जिस चिन्तन या विचार से कवि अनुप्रेरित है उसको साकार रूपरेखा देने वाला काव्य का कल्पना तत्व है। इसीलिए पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में कल्पना (इमेजिनेशन) को कही कहीं आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है। कारण यह है कि जब तक किसी वस्तु की रूपरेखा ही नही है तब तक निर्गुण ब्रह्म की भाँति उसका अस्तित्व भी बोधगम्य नही है। कवि जिस चिन्तन को पाठक या श्रोता के पास तक पहुचाता है उसका माध्यम भी आवश्यक है। गोस्वामी तुलसीदास जी श्रेष्ठ काव्य के प्राण रूप मे जिस 'भूति-भलि' या 'लोकहित'[1] को मानते है उसके लिए उन्हे राम-कथा को कल्पना करनी ही पड़ती है। गोस्वामी तुलसीदास जी की अपनी राम-कथा के बिना उनकी भक्ति, लोक-मंगल, मर्यादा या दर्शन का प्रतिफलन कैसे होता? सूरदास जी के हृदय-पटल पर जिस रसरूप भगवान कृष्ण की भावना था उसे विभिन्न लीलाओं की रूपरेखा कल्पित करने के अतिरिक्त वे कैसे व्यक्त करते? तात्पर्य यह कि कल्पना-तत्व ही काव्य के अदृश्य सत्य को, मानसिक चिन्तन को मूर्तिमान करने का श्रेय प्राप्त करता है।

भावतत्व या रागात्मक तत्व काव्य-शरीर का प्राण है। अस्थि-पंजर और मांस मज्जा आदि बिना प्राण के व्यर्थ हैं। चिन्तन भावन के बिना दर्शन बन जाता है काव्य नही। दर्शन चिन्तन प्रधान, विज्ञान तथ्य प्रधान और काव्य भाव प्रधान है। वल्लभाचार्य समस्त कृष्ण भक्त कवियो के मूल प्रेरक हैं। वल्लभ के सूत्र ही सूरदास आदि के काव्य के मूल आधार हैं। सूरदास आदि ने जो कुछ लिखा, आचार्य वल्लभ के व्याख्यान मात्र हैं फिर भी कविरूप मे मायावाद के विध्वसक, पुष्टिमार्ग के प्रणेता और शास्त्रार्थ दिग्विजयी वल्लभाचार्य भावतत्व के अभाव के कारण कवि रूप मे प्रतिष्ठित नहीं हो सके। रागात्मक तत्व ही कविता को रस, रमणीयार्थ और ध्वनि से सम्पन्न करता है। इसीलिए जिस काव्य मे रागात्मक तत्व जिस मात्रा मे उपलब्ध होता है वह उतना ही भव्य और वैभववान माना जाता है।

साराश यह कि भाव-तत्व का सम्बन्ध हृदय से है। हृदय मे स्थित प्रेम शोक, क्रोध, घृणा आदि वासना रूप मे स्थित भाव ही कविता के उत्स हैं। भाव-तत्व ही काव्य की आत्मा रस को प्रतिष्ठित करने वाला है। बुद्धि तत्व, फिर भी भावना का उपादान तत्व है जिसमे भावतत्व समाविष्ट होता है। बुद्धि के साथ कल्पना तत्व का योग होता है तो अप्रत्यक्ष चिन्तन का मानसिक चित्र प्रस्तुत होता है। इस प्रकार बुद्धितत्व काव्य पुरुष का अस्थि पंजर है तो कल्पना तत्व शरीर की रूप-रचना और भाव-तत्व प्राण।

भ्रमरगीत में बुद्धि-तत्व १.

सूरदास जी महाप्रभु वल्लभाचार्य-प्रणीत शुद्धाद्वैतवाद और पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। महाप्रभु की प्रेरणा[2] पाकर वे भगवान कृष्ण के लीला-गान मे रत हुए। सूरदास जी

---

१. कीरति भनित भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥—रामचरित मानस

२. जब सूरदास जी ने प्रथम बार महाप्रभु के दर्शन किये और उनके समक्ष अपना 'प्रभु हौं सब पतितन को नायक' पद पढा तो महाप्रभु ने कहा—'सूर ह्वै के काहे को घिघियात हौ, कछु लीला बरणन करि'
—सूरदास की वार्ता

के काव्य प्रयोजन मे पुष्टिमार्ग का सैद्धान्तिक प्रचार प्रमुख नही हैं फिर भी मूल ताना-बाना वही है। अनुकूल अवसर पाकर वे भी पुष्टिमार्गीय तथ्यो का कथन करते रहते थे। भ्रमरगीत भाव-प्रधान रचना है उसमे गोपियो की विरह वेदना का मार्मिक चित्रण ही प्रमुख लक्ष्य है तथापि उद्धव-गोपी संवाद के रूप मे भक्ति और ज्ञान मार्ग के सिद्धान्त-कथन भी हुए हैं। गौणरूप से भ्रमरगीत के व्याज से सूरदास जी ने योग-मार्ग अर्थात् तप-व्रत, यम-नियम, ध्यान, प्राणायाम, समाधि आदि साधनो को निरर्थक बताया है। उद्धव और गोपी तो प्रतीक मात्र थे। उद्धव ज्ञान-मार्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं गोपियाँ भक्तिमार्ग का। उद्धव जी पराभूत होते हैं। ज्ञान को छोड़ कर शुद्ध भक्त रूप मे परिवर्तित होकर कृष्ण के समक्ष आते है। जिस प्रकार शंकराचार्य ने बौद्धो को शास्त्रार्थ मे पराजित करके उन्हे हिन्दू होने पर विवश किया, जिस प्रकार वल्लभाचार्य जी ने मायावाद का खडन करके सबमे कृष्णभक्ति का सचार किया उसी प्रकार गोपियाँ उद्धव की ज्ञान-गूदडी को उतरवा देती हैं और वे व्रज से गोप का भेष धारण करके मथुरा वापस जाते हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत मे मूल कथानक के सूत्र मे जो विचार हैं वे इस प्रकार हैं.—

१. निर्गुण निराकार के स्थान पर सगुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा।

२. भक्तिमार्ग विशेपतया पुष्टिमार्ग का महत्व।

निर्गुण ब्रह्म

उद्धव जी ने ब्रह्म का स्वरूप बताते हुए कहा कि वे तो अव्यक्त, अविनाशी और सर्वव्यापक है अत. उनके सगुण रूप को छोडकर निर्गुण का ही ध्यान करना चाहिए—

वै अविगत अविनासी पूरन, सब घट रहे समाइ।
तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, वेद पुराननि गाइ।
सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु इक चित इक मन लाइ।
वह उपाइ करि बिरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म अब आइ।[1]

प्रभु तो सबके हृदय मे निवास करते हैं यद्यपि वे इस प्रकार अदृश्य हैं जैसे वृक्ष मे अग्नि। ऐसी अवस्था मे निर्गुण को छोड कर सगुण के लिए दौडना व्यर्थ है।

घट-घट व्यापक दारु अगिनि ज्यौं, सदा बसै उर माहीं।
निरगुन छांडि सगुन कौं दौरति, सुधौ कहा किहि पाहीं।[2]

उसके रूप, वर्ण और शरीर नही है। उनके माता-पिता आदि नही हैं, वे स्वय ही माता और पिता हैं—

आपुहि पिता आपु ही माता। आपुहि भगिनी आपुहि भ्राता।
... .
जाकै रूप बरन वपु नाहीं। नैन मूंदि चितवौ मन माहीं॥[3]

ब्रह्म अलख है, अपार है, अविगत है, सृष्टि का आदि वही है और सर्वथा निराकार है—

---

१. सूरसागर, पद ४१७०
२. ,, ४२७४
३. ,, ४७१२

एकै अलख अपार आदि अविगत है सोई।
आदि निरजन नाम ताहि रीझै सब कोई ॥[1]

उत्तर में गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म का सैद्धान्तिक विरोध नही करती। वे यह तो नही कहती कि ब्रह्म निर्गुण नही होता सगुण ही होता है किन्तु वे कहती हैं कि हम जानती ही नही और जान भी नही सकती कि निर्गुण ब्रह्म कैसा होता है—

पूरन ब्रह्म तुम्हारो ठाकुर, आगे माया नाची।
यह इहि गाउ न समुझत कोऊ, कैसो निरगन होत ॥[2]

विनोद से वे पूछती हैं कि निर्गुण किस देश का रहने वाला है, उसके माता-पिता का परिचय क्या है—

निरगुन कौन देश को वासी ?
... ...
को है जनक कौन है जननी, कौन नारि को दासी ?[3]

हमे तो निर्गुण से कोई परिचय नही है। हमे तो केवल सगुण का ज्ञान है और हम उनके सगुण रूप-सागर में अपने को निमग्न कर बैठी है और अब किसी प्रकार छोड़ नही सकती चाहे लाभ हो या हानि—

नहीं हम निरगुन सों पहिचानि।
मन मनसा रस रूप-सिन्धु में रही अपुनपौ सानि ॥
जदपि आदि उपदेसत ऊधो पूरन ब्रह्म बखानि।
चित चुभि रही मदन मोहन की चितवनि मृदु मुसकानि ॥
... ...
छूटत नहीं सहज सूरज प्रभु दुःख-सुख लाभ कि हानि ॥[4]

निर्गुण इतना अगाध और अपार है कि वहाँ मन पहुँच ही नही सकता। जल के बिना लहर, दीवार के विना चित्र और चित्त के बिना चतुराई भला कैसे सभव है—

अतिहि अगाध अपार अगोचर मनसा तहाँ न जाई।
जल बिनु तरंग भीति बिनु चित्रन बिनु चित ही चतुराई ॥[5]

निर्गुण ब्रह्म ही भक्तों के कारण सगुण रूप धारण करता है फिर भक्त जन सगुण रूप की भक्ति छोड़कर मुक्ति की चिन्ता क्यो करें—

निगम ध्यान गुनि ज्ञान अगोचर ते भये घोष निवासी।
ता ऊपर अब कहौ देखि धौं मुक्ति कौन की दासी ॥[6]

इस प्रकार भ्रमरगीत मे सूरदास जी निर्गुण ब्रह्म के सैद्धान्तिक स्वरूप का खण्डन

---

१. सूरसागर, पद४७१३
२. ,, ४२४८
३. ,, ४२४६
४. ,, ४४२४
५. ,, ४५४६
६. ,, ४४३४

नही करते। वे मानते हैं कि ब्रह्म पूर्ण है, माया उसकी शक्ति है । वह अव्यक्त, अरूप, सर्वव्यापक और अन्तर्यामी है। किन्तु वह अगाध, अपार और अगोचर है, मन की वहाँ तक पहुंच नही है। रेख-रूप-रंग आदिसे परे निर्गुण ब्रह्म की उपासना से संसारी लोगों का कल्याण नही हो सकता। उद्धव जी के ब्रज भेजने के समय श्री कृष्ण जी अपने मन मे विचार करते हैं—

बिना गुन क्यों पुहुमि उधरै यह करत मन डौर।
बिरस रस किहिं मत्र कहिए, क्यों चलौ ससार।[1]

सगुण ब्रह्म

जो ब्रह्म अव्यक्त और अविनाशी है और जिसे योगी योग के अपार सिंधु मे खोजते हैं और पाते नहीं वही तो साकार रूप मे यशोदा के ऊखल मे बँधा—

जोगी जोग अपार सिंधु मे ढूढेहूँ नहिं पावत।
ह्याँ हरि प्रगट प्रेम जसुमति के ऊखल आपु बँधावत ॥[2]

निर्गुण और सगुण का भेद-भाव व्यर्थ है। जिसे निर्गुण कहते हैं वही तो सतो के लिए सगुण होता है और लीला रूप धारण करता है—

सूर नन्द-सुत दयाल, लीला-वपु धारी।
निरगुन ते सगुन भये, सतन हितकारी ॥[3]

इस प्रकार निर्गुण और सगुण ब्रह्म में कोई अन्तर नही है। सगुण स्वरूप मे गुण का सहारा है। जिस प्रकार रस्सी (गुन) के सहारे चकई घूमती है उसी प्रकार भक्त के लिए गुण के अतिरिक्त और कोई साधन नही :—

ऊधौ हरि गुन हम चकडोर
गुन सौ ज्यौं भावै त्यों फेरौ यहै बात को ओर।
... .
चकडोरी की रीति यहै फिर गुन ही सों लपटाइ।
... ...
हरि के हाथ परै तो छूटे और जतन कछु नाहिं ॥[4]

इस प्रकार सगुणोपासना मे गुण का अवलम्ब है, इसके साथ ही साथ सगुणोपासना मन को रमाने वाली और सरस है। नदनंदन का रस रूप अपने आप मन को आकर्षित करने वाला है।

सु दर वदन नैन देखे बिन निसदिन कछु न सुहाई।
अति सरूप सोभा की सींवा अखिल लोक चतुराई ॥
मृदु मुसकान रोम आनंदत कहं लौं करौं बड़ाई।
सोइ इहिं देह हमारे मन बसि सूरदास बलिजाई ॥[5]

---

१. सूरसागर, पद ४०३१
२. ,, ४३२६
३. ,, ४५१५
४. ,, ४१६२
५. ,, ४२६८

संसार के नाते जो किसी प्रकार छूट नहीं पाते और मन को प्रभु की ओर नही जाने देते, अपने आप कच्चे तागे की भांति टूट जाते हैं—

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यो ।

... ...

मातु पिता हित-प्रीति निगमपथ तजि दुख सुख-भ्रम नाख्यो ॥[1]

सगुणोपासना मे प्रभु के रस रूप के प्रणयन मे ही तल्लीनता मिलती है। इन्द्रियां स्वंत. प्रभु मे इतनी रत हो जाती हैं कि उन्हे हटाना ही असम्भव हो जाता है। आंखे रसरूप मे इतनी मतवाली हो जाती हैं कि और किसी को देख ही नही सकतीं—

अखियां हरि दरसन की भूखी
कैसे रहैं रूप रस रांची ये बतियां सुनि रूखीं ।[2]

... ...

सूर नन्द नन्दन के देखत और न कोऊ सूझै ॥[3]

नेत्रो मे उनके सिवा और किसी को अवकाश ही नही है। सारा स्थान जब प्रभु ने ले लिया तब और सम्बन्धो को कहां स्थान दिया जाय—

मन में रह्यो नाहिन ठौर ।
नन्द नन्दन अछत कैसे आनिए उर और ॥[4]
निगम ध्यान मुनि ज्ञान अगोचर ते भए घोष निवासी ॥
ता ऊपर अब सांच कहो धौं मुक्ति कौन की दासी ॥[5]

प्रभु के सगुण रूप का ध्यान निरापद है। प्रभु का मोहन रूप अपने आप संसार के बंधनो से छुड़ा देता है। उसमे अनुरक्ति की निरन्तरता सहज है। यह भी भय नही है कि आगे किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न हो ; तो फिर इस प्रभु को छोड़ कर उस निर्गुण ब्रह्म की ओर क्यो जाया जाय जिसकी धारणा ही बड़ी दुस्साध्य है। जो है ही 'रूप-रग-गुन-जाति' हीन और जिसकी साधना मे यम-नियम-आसन-प्राणायाम-ध्यान-समाधि आदि के कठिन कर्म करने पड़ते हैं और सिद्धि के उपरान्त भी पतन की आशका नही जाती—

काहे को रोकत मारग सूधो
सुनहु मधुप निर्गुन कटक से राजपंथ क्यों रूंधो ।[6]

सगुण और निर्गुण का सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि सगुण रूप अत्यन्त सरस है तो निर्गुण निपट नीरस ।

---

१. सूरसागर, पद ४१४८
२. ,, ४१०५
३. ,, ४३५६
४. ,, ४३५०
५. ,, ४४३४
६. ,, ४५०८

तजि रस रीति नन्द नन्दन की सिखवत निरगुन फीको ।

... ...

लोक कानि कुल के भ्रम छांडे, प्रभु संग घर वन खेली ।
अलि तुम सूर खवावन आये जोग जहर की बेली ।[1]

कहां प्रभु का सगुण रूप जो मन मे बसा है और कहां गुण रहित नीरस ब्रह्म ।

स्याम सुन्दर कमल नैन, बसौ मेरे जीए ।

... ...

ऐसे प्रभु गुन-निधान, दरस देखि जीजै ।
राम-स्याम निधि पियूष, नैननि भरि पीजै ।
जाकौ श्रयन जल मे, तिहि अनल कैसे भावै ।
सूरज प्रभु गुन निधान, निरगुन कौं गावै ।[2]

उस सगुण रूप के समक्ष सारा संसार फीका है—

आछे सुन्दर स्याम हमारे और जगत सब फीकौ ।
खाटी मही कहा रुचि माने सूर खवैया घी कौ ।।[3]

साराश यह कि सगुण ब्रह्म मे रूप का आलम्बन है । निर्गुण की भाति निरालम्व नही है । सगुण ब्रह्म की उपासना के लिए साधनाओ का पहाड़ नही चढना पडता । प्रभु की मनोहर लीलाए ही जगत के बन्धनो को तोड देती हैं । लोक-वेद की मर्यादाएँ और जगत के भ्रम सदा के लिए दूर हो जाते है । मन इसमे इतना रम जाता है कि उसे छोड़ कर और कही जाता ही नही । वह इतना सरस है कि एक बार उस ओर अनुराग होते ही सारा जगत नीरस लगता है ।

इस प्रकार भ्रमरगीत मे प्रकारान्तर से प्रभु के सगुण रूप की प्रतिष्ठा की गई है । निर्गुण ब्रह्म के सैद्धान्तिक महत्व को स्वीकार किया गया है किन्तु वह रूप सहज ग्राह्य नहीं है । उसकी आराधना दुस्साध्य है, उसमे परम नीरसता है इसलिए भले ही उसमे धर्म-अर्थ-काम और मुक्ति का फल हो, भक्त उसे स्वीकार नही करता ।

अपने सगुन गोपालहिं माई इहि विधि काहे देति ।
ऊधौ की इन मीठी बातनि निर्गुन कैसे लेति ।
धर्म अर्थ कामना सुनावत सब सुख मुक्ति समेत ।

... ...

सूर स्याम तजि को भुस फटके मधुप तुम्हारे हेत ।।[4]

---

१. सूरसागर, पद ४३१५
२. ,, ४३१८
३. ,, ४४७६
४. ,, ४४७९

२. भ्रमरगीत में पुष्टिमार्गीय विचारधारा

सगुण और निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप-भेद के अतिरिक्त योग और भक्ति मार्ग का विवाद प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्म साध्य हैं योग तथा भक्ति-साधन है। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं जप-तप, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि। निर्गुण में उपासना ज्ञानाश्रित है, इसमे महान पौरुष और अभ्यास की आवश्यकता है। इस साधना मे पारंगत होना विरले साधको का ही कार्य है। भक्ति मार्ग का सिद्धान्त ज्ञान साधना से बिलकुल विपरीत है। भक्ति मार्ग मे भक्त जप-तप आदि साधनो का अवलम्ब न लेकर प्रभु की कृपा का सहारा लेता है। भक्त को विश्वास होता है कि ज्ञान के समस्त साधन निरर्थक हैं क्योकि मानव का पौरुष ही क्या है? होता तो वही है जो प्रभु की इच्छा होती है।[1] इसलिए साधन-रूप में प्रभु का अनुग्रह ही सब कुछ है। महाप्रभु बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग मे पुष्टि का अर्थ ही भगवान का अनुग्रह है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से पुष्टिमार्ग साधनात्मक योग मार्ग का विरोधी है। भ्रमरगीत मे इसीलिए साधनात्मक योग मार्ग और शिव-साधना का सैद्धान्तिक विरोध किया गया है। भ्रमरगीत मे साधनात्मक हठयोग और शिव-साधना के उपकरणो के उल्लेख हुए है।

हठयोग के उल्लेख

परी पुकार द्वार गृह गृह तै सुनौ सखी इक जोगी आयौ।
पवन सधावन, भवन छुड़ावन, रवन-रसाल गोपाल पायौ।
आसन बांधि परम ऊरध चित बनत न तिनहिं कहा हित लायो।[2]
को आसन सम बैठे ऊधौ प्रान वायु को साधै।
को धरि ध्यान धारना मधुकर निरगुन पंथ अराधै।
काकै जिय मे नेम तपस्या, काके मन सन्तोष।
काकें सब आचार फलौ बरु को चाहत है मोष॥[3]

उपर्युक्त पक्तियो में प्राणायाम, गृहत्याग (भवन छंड़ावन) आसन, ध्यान, धारणा, यम-नियम (नेम), तपस्या, संतोष वृत्ति और मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

यत्र-तत्र अनहद नाद, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना का भी कथन हुआ है जैसे—

कहत हौ अनगढ़ी अनहद, सुनत ही चपि जात।[4]
हृदय कमल तें जोति विराजै। अनहद नाद निरन्तर बाजै।
इड़ा पिंगल सुषुमन नारी। सहज सुन्न मैं बसहिं मुरारी॥[5]

---

१. करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनो पुरुषारथ मानै, अति झूठौ है सोइ॥
साधन मन्त्र जंत्र उद्यम बल, ये सब डारो धोइ।
जो कछु लिखि राखी नदनदन होनी होइ सो होइ। सूरसागर, पद २६२

२. सूरसागर, पद ४१३१
३. „ ४३३६
४. „ ४५२०
५. „ ४७१२

रहित सनेह सिरोरुहं सब तन, श्रीखंड भसम चढ़ाए।
पहिरि मेखला चीर पुरातन,फिरि फिरि फेरि सियाए ॥
श्रुति ताटंक मेलि मुद्रावलि अवधि अधार अधारी।
दरसन भिच्छा माँगत डोलति लोचन पात्र पसारी ॥
बांधे बेनु कठ सिंगी पिय सुमिरि सुमिरि गुन गावत।[1]
सीस सेली केस, मुद्रा, कान बीरी बीर।
विरह भस्म चढ़ाई बैठीं, सहज कंथा चीर।
हृदय सिंगी टेर मुरली, नैन खप्पर हाथं।
चाहतीं हरिदरस भिच्छा, देहि दीनानाथ।[2]

इस प्रकार कभी उद्धव जी ज्ञान-मार्ग के उपकरणो को उपस्थित करते है तो कभी गोपियाँ विरोध करती हुई इन उपकरणो की खिल्ली उडाती है। गोपियो के उत्तर मे मुक्ति के साधनो—जप-तप-आसन-प्राणायाम आदि की निरर्थकता और अनुपयुक्तता सिद्ध की गई है।

गोपियो के द्वारा प्रस्तुत भक्ति-मार्ग के तथ्य इस प्रकार हैं—

१. भक्ति-मार्ग प्रेम-प्रधान है, इसमे रसवत्ता है। ससार के सभी सम्बन्ध प्रेम प्रधान हैं, इसलिए प्रेम-मार्ग के अवलम्बन से जीवन-मुक्ति सरलता से मिल जाती है। दूसरी ओर योग-मार्ग अत्यन्त कठिन है, उसमे प्राणो की बाजी लगानी पडती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भक्ति-मार्ग योग-मार्ग की अपेक्षा कही बढकर है। दोनो मे कचन और कांच का अन्तर है—

हम बूझति सत भाय न्याय तुम्हरे मुख सांचो।
प्रेम-नेम रस कथा कहौ कचन की कांचो ॥
जो कोउ पावें सीस दे, ताको कीजे नेम।
मधुप हमारी सौं कहौ जोग भलौ किधौं प्रेम ॥
प्रेम प्रेम ते होय प्रेम तें पारहि जेंये।
प्रेम बँध्यो ससार प्रेम परमारथ पैये।[3]

२. भक्ति की प्रेम-साधना और ज्ञान की योग-साधना मे कोई अन्तर नही है। दोनो की उपलब्धियाँ परमेश्वर की प्राप्ति तथा ससार के बन्धनो से मुक्ति—एक सी हैं। दोनो का रूप भी एक ही सा है। भक्ति-मार्ग मे भी योग-मार्ग की भाँति माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र, पति-पत्नी आदि के सम्बन्धो को छोड़कर प्रभु मे एकनिष्ठ होना पड़ता है। समाधिस्थ योगी की भाँति भक्त भी प्रभु की ओर निर्निमेष देखता है। तभी तो गोपियाँ कहती हैं कि हम भी आराधना मे रत है—

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यौ।
मन, क्रम, बच हरि सौं धरि पतिव्रत, प्रेम जोग व्रत साध्यौ।

---

१ सूरसागर, पद ४३१२
२. ,, ,, ४३१३
३. ,, ,, ४७१४

मातु पिता हित प्रीति, निगम पथ, तजि दुख-सुख भ्रम नाख्यौ।
मानापमान परम परितोषी, सुस्थल थिति मन राख्यौ।[1]

योग और वियोग मे कोई अन्तर नही है। गोपियाँ कहती हैं कि जब से कृष्ण मथुरा सिधारे, हम तो योग ही करते हैं—

ऊधौ जोग तबहिं तें जान्यौ।
जा दिन तै सुफलक सुत के संग, रथ ब्रजनाथ पलान्यौ॥
ता दिन तै सब छोह मोह गयौ, सुत-पति-हेत भुलान्यौ।
तजि माया संसार सबनि कौं, ब्रज जुवतिन ब्रत ठान्यौ।
नैन मूँदि मुख मौन रही धरि, तन तप तेज सुखान्यौ।
नन्दनन्दन मुरली मुख धारै, वहै ध्यान उर आन्यौ।
सोई रूप जोगी जेहि भूले, जो तुम जोग बखान्यो॥[2]

३. ज्ञान-योग की उपलब्धि मुक्ति, भक्ति मार्ग की उपलब्धि प्रभु-लीला के रसानन्द के सम्मुख अत्यन्त तुच्छ है—

मुक्ति आनि मंदे मैं मेली।
... ...
याहि लागि को मरै हमारै, वृन्दावन चरननि सौं ठेली।[3]

भक्ति-साधना से मुक्ति के चार रूपो—सालोक्य, सारूप्य सायुज्य और सामीप्य की प्राप्ति होती है—

सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौं, मुक्ति लही हम चारी।
हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यौ, रहँति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरै, तुम अलि बड़े अदाई॥[4]

प्रभु के सामीप्य का आनन्द ही सर्वोपरि है। कोटि स्वर्ग का सुख भी उसकी समता नही कर सकता—

कोटि स्वर्ग सब सुख अनुमानत, हरि समीप समता नहिं पावत।[5]

४ ज्ञान-मार्ग विरक्ति प्रधान निवृत्तिमूलक है। यहाँ ससार के समस्त सम्बन्धो तथा मन की रागात्मक वृत्तियो का परित्याग अनिवार्य है। भक्ति-मार्ग राग-प्रधान है। इसमे निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति प्रमुख है। अन्तर केवल यह है कि यह प्रवृत्ति ससारोन्मुख न होकर कृष्णोन्मुख है। इसलिए जगत के सभी सम्बन्धो से सिमिट कर मनोवृत्तियाँ कृष्ण में रम जाती हैं। इस प्रकार भक्ति-साधना में जहाँ आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि होती है वहाँ इन्द्रियो को भी परम तृप्ति प्राप्त होती है। सयोग और वियोग दोनो अवस्थाएँ समान रूप से आनन्दप्रद हैं—

१. सूरसागर, पद ४१४६
२. ,, ,, ४३१५
३. ,, ,, ४३४३
४. ,, ,, ४५१६
५. ,, ,, ४३४१

बहुरो गोपाल मिलै सुख सनेह कीजै।
नैननि मग निरखि वदन सोभा रस पीजै॥
मदन मोहन हिरदे धरि, आसन उर दीजै।
परे न पलक आँखिनि की, देखि देखि जीजै॥[1]

५ कल्पना-तत्त्व

मानसिक चिन्तन रूप मे प्राप्त पुष्टिमार्गीय भक्ति और प्रभु-विरह को सूरदास जी ने प्रस्तुत किया। कल्पना के आधार पर भ्रमरगीत को उन्होने प्रतीकात्मक बना दिया। योग और भक्ति का जो तर्क-प्रधान, दार्शनिक और नीरस विवाद दार्शनिको और भक्तो के बीच चला करता था तथा जिसे गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के अरण्य-कांड तथा उत्तर-काड मे कई बार प्रस्तुत किया और नन्ददास जी ने अपने भ्रमरगीत के उद्धव-गोपी शास्त्रार्थ मे रखा, उसे ही सूरदास जी ने एक लघु कथा का रूप दे डाला। उद्धव और गोपी प्रतीक मात्र हैं, उद्धव ज्ञानी के और गोपियाँ भक्तो के। भगवान् कृष्ण उद्धव को सदेश वाहक बनाकर भेजते हैं। उद्धव जी के थोड़े से वचन गोपियो मे क्षोभ-पारावार की उत्पत्ति करते हैं। उसकी उत्ताल-तरगो मे उद्धव जी की ज्ञान-गरिमा बह जाती है। वे अपने ज्ञान को भुलाकर गोपियों के शिष्य बन जाते हैं। महाज्ञानी, पडित, कृष्णसखा, वयोवृद्ध उद्धव अशिक्षित, अनुभवहीन, ग्रामीण नवयुवतियो के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करते हैं। इस नाटकीय वृत्त के द्वारा कवि ने अपने अनुरूप चिन्तन को साकार कर दिया है। इस सदर्भ को सुनते ही भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता निर्विवाद हो जाती है। नन्ददास और गोस्वामी के पुष्ट दार्शनिक तर्को के सुनने के उपरान्त भी भक्तिमार्ग का समर्थक अपने साफल्य मे उतना आश्वस्त नही होता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर भी सूर की कल्पना का आधार प्राप्त हो जाता है। दार्शनिक चिन्तन और तर्को का कोई अन्त नही। जिस विषय को जितना ही तर्क-सम्मत समाधान किया जाता है उसमे उतनी ही शकाएँ उत्पन्न होती जाती है। सूरदास भक्ति-भावना मे निष्णात गोपियो की कल्पना करते हैं। गोपियाँ कृष्ण-प्रेम मे पगी थीं। उनके सासारिक विरह---वेदना को दूर करने के निमित्त ज्ञानी उद्धव उपदेश आरम्भ करते है। उनका कथन सुनते ही गोपियाँ इस प्रकार उद्विग्न होकर हुंकार कर उठी जैसे मधुमक्खियाँ उनके छत्ते को छेड देने पर। भावमयी गोपियो का उपालम्भ करना, कटु वचन कहना और रो पडना स्वाभाविक है। भ्रमरगीत मे गोपियाँ अपने हृदय की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करती हुई और उद्धव उनको चुपचाप सुनते हुए दिखाई पडते हैं। सूर की गोपिया नन्ददास की गोपियो की भाँति अपने दार्शनिक ज्ञान को नही प्रस्तुत करती, वे तो निवेदन करती हैं कि उद्धव हमारे हितू हैं, बड़ी अनुपम वस्तु हमारे लिए लाये हैं, किन्तु हम अहीरिनें, युवतियाँ उस श्रेष्ठ ज्ञान को समझ ही नही सकती।[2] इतना ही नही

१. सूरसागर, पद ३८६६
२. मधुकर हम अजान अति भोरी।
यह मत जाइ तहाँ उपदेसौ, नागरि नवल किसोरी।
... ...
निरगुन ज्ञान तुम्हारौ ऊधौ हम अवला मति थोरी।
चाहति सूर स्याम मुख चदहि अँखियां तृषित चकोरी॥ सू० सा० ४१७१
अलप वयस अवला अहीरि सठ तिनहि जोग कत सोहै। सू० सा० ४१६२

वे तो उनका ज्ञान भी अंगीकार करने को प्रस्तुत हैं, किन्तु कठिनाई यह है कि जिस मन से वे ज्ञान को धारण करेंगी, वही कृष्ण के साथ मथुरा चला गया है ।[१] ये अपनी पर वशता का ही निवेदन करती हैं। भ्रमरगीत में कल्पना के स्वरूप बहुत से हैं। कृष्ण के प्रति उनके हृदय की जितनी प्रतिक्रियाएँ हैं, उनका वानक वे भ्रमर को बनाती हैं। भ्रमर स्वार्थी है, कृष्ण भी स्वार्थी हैं। भ्रमर रस लोभी और लम्पट है।[२] पुष्पो के पास तभी तक रमता है जब तक उनमे रस होता है। तृप्ति के उपरान्त वह लौटकर नही देखता। यही दशा कृष्ण की है। नया पुष्प पाते ही भौरा पिछले फूलों को भूल जाता है। कुब्जा को पाकर कृष्ण गोपियो को भूल गये। भौरे का श्याम रग, उसकी गुजार, उसका लकड़ी को काटना और फूल मे बन्द होना आदि कृष्ण के रग, मुरली की कठोरता और सुकुमारता आदि से साम्य रखते हैं। भ्रमर ही नही, अन्य काले वर्ण वाले जीव जैसे कुरग, भुजग, कोयल और बादलो की घटा भी कृष्ण के समान ही है।[३] कुरग एक वन को छोड़कर दूसरे मे चला जाता है, साप विषैला है। कोयल कौए के पास वर्ष भर पलती है, किन्तु वसन्त के आते ही अपने कुल में जा मिलती है[४], बादल ऐसा निर्मोही कि चातक को स्वाती की एक बूँद भी नही दे सकता।[५] कुब्जा के सम्बन्ध मे गोपियो की उक्तिया उनके सौतिया डाह को प्रत्यक्ष करती है। कृष्ण ने केवल कुब्जा के कारण ही कस का वध किया।[६] कुब्जा 'कुटिल, कुचील, जन्म की टेढो' है। अब वह नवल बधू बनी है और ब्रज-गोपियों का उपहास कर रही है।[७]

---

१. ऊधौ मन नहि हाथ हमारैं।
रथ चढाइ हरि सग गए लै, मथुरा जबहि सिधारे।।
नातरु कहा जोग हम छाडहि, अति रुचि कै तुम ल्याये
हम तो झँखति स्याम की करनी मन लै जोग पठाए।
अजहूँ मन अपनो हम पावैं तुम तैं होइ तौ होइ।
सूर सपथ हमैं कोटि तिहारा कही करैंगी सोइ। सू० सा० ४३३८

२. मधुकर काके मीत भए।
द्योस चारि करि प्रीति सगाई, रस लै अनत गए। सू० सा० ४१२६

३. भवन भुजग पिटारी पाल्यौ जैसे जननी तात।
कुल करतूति तजत नहि कबहूँ सहजहि डसि भजि जात।
कोकिल काग कुरग स्याम घन हमहि न देखे भावत।
सूरदास अनुहारि स्याम की फिरि फिरि सुरति करावत। सू० सा० ४३७५

४, ज्यौं कोइल सुत काग जियावै भाव भगति भोजन जु खवाइ।
कुहुकि कुहुकि आए बसत ऋतु, अन्त मिलै अपने कुल जाइ। सू० सा० ४२१०

५. कारी घटा देखि बादर की सोभा देति अपार।
सूरदास सरिता सर पोषत, चातक करत पुकार। सूरसागर, पद ४३६८

६. यह सुनि हमहि आवत लाजि।
जाइ मथुरा कस मार्यौ कूबरी कैं काज। सूरसागर, पद ३७६०

७. कुटिल कुचील जन्म की टेढी, सुन्दरि करि घर आनी।
अब वह नवल बधू ह्वै वैठी, ब्रज की कहति कहानी। सूरसागर, पद ४२५५

सम्पूर्ण भ्रमरगीत मे जो उक्ति-वैचित्र्य तथा अलंकृत पदावली मिलती है । उसमें कल्पना का योग सर्वाधिक है । कालिन्दी कृष्ण के विरह मे ज्वर से पीडित है, कुञ्जें वैरिन प्रतीत होती हैं, लता-पत्रो की अरुणिमा मे ज्वालाओ के दर्शन होते है । चन्द्र-किरण सूर्य किरण की भाँति उष्ण होती हैं । रात काली नागिन और चाँदनी डसने के उपरान्त उल्टी पडी सर्पिणी दृष्टिगोचर होती है । नयनो की विषम और अलक्ष्य वेदना के असख्य रूप कवि-कल्पना के द्वारा चित्रित है । सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि भ्रमरगीत में कवि सूरदास जी की कल्पना अत्यन्त सजग है । यही कारण है कि वे अपने विचारो और भावों का सागोपांग चित्र प्रस्तुत कर सके । निरीह गोपियाँ पाठक के नेत्रो के सम्मुख बिलखती हुई दृष्टिगोचर होती है और पाठक या श्रोता सवेदन से सराबोर होकर मर्मस्पर्शी पीडा की अनुभूति करने लगता है ।

भ्रमरगीत मे सूर की कल्पना के स्वरूप देखने के उपरान्त हमे पं० रामचन्द्र शुक्ल के निम्न मत से सहमति प्रकट करनी पड़ती है कि—

'किसी भावोद्रेक के द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप को गढ कर या काट-छाँट कर सामने रखने लगती है, तब उसे सच्ची कवि कल्पना कहते है ।'

५ भाव या रागात्मक तत्त्व

भ्रमरगीत मे भावोर्मियो का अपार सागर है । विरहानुभूति के सभी पक्ष इसमे साकार हो उठे हैं । जब क्षोभ उभरता है तो उचित-अनुचित, श्लील-अश्लील, मर्यादा-अमर्यादा के बाँध उसे रोक नही पाते । जब शोक उमड़ता है तो गोपियो की अश्रु धाराओ से सारा ब्रज बह जाता है । जब कृष्ण-अनुराग जागरित होता है, तब उनके रोम-रोम हर्षोत्फुल होते हैं और वे उनकी शुभकामनाओ मे अपने को भूल जाती है । विप्रलंभ शृंगार सूर-भ्रमरगीत मे अभूतपूर्व रूप मे चित्रित हुआ है । उसमे शास्त्रीय विरह के सभी अंग-उपाग मिलते हैं । साथ ही उसमे लोकायन मे प्राप्त सहज विरहानुभूति का अकृत्रिम किन्तु मर्मान्तिक चित्रण भी उपलब्ध होता है ।

६ शास्त्रीय विरह

विप्रलंभ शृंगार के चार रूप माने जाते हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण । भ्रमरगीत मे पूर्वराग का प्रश्न ही नही उठता । मान संयोगावस्था मे ही होता है । मान तभी होता है, जब नायक नायिका को मनाये और उसका मान दूर करे । यदि मान-मोचन की आशा न होगी तो मान सर्वथा अप्रयोजनीय है । डा० स्नेहलता श्रीवास्तव कुब्जा-प्रेम-प्रसग को सुनकर गोपियो मे गुरु मान स्वीकार करती है ।[1] किन्तु इसे मान नही माना जा सकता । सपत्नी के प्रति प्रिय-अनुराग देखकर मान तभी होता है जब आशा होती है कि प्रिय अपनी भूल मानेगा और नायिका की अभ्यर्थना करेगा । भ्रमरगीत मे तो मनाने की आशा को कौन कहे, मिलन की आशा भी कुब्जा के कारण धूमिल हो गई—

१, हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, पृ० २०३

आवन की आस मिटी, ऊरध अब स्वासा।
कुबिजा नृप दासी, हम, सब करी निरासा ।[1]

इस प्रकार कुब्जा-प्रसग केवल ईर्ष्या, उग्रता और अमर्ष संचारी भाव को उत्पन्न करने वाला है, किन्तु रहेगा यह प्रवास के अन्तर्गत ही। भ्रमरगीत मे मात्र प्रवास-विरह है। कृष्ण परदेशी (मथुरावासी) हो गये। यद्यपि उन्होने उद्धव के द्वारा योग-सन्देश भेजा और गोपियो को निर्गुण मे निमग्न होकर कृष्ण को भूल जाने का उपदेश करवाया, किन्तु गोपियो की आशा बनी ही रही—

इन्द्री सिथिल भई केसव बिन, ज्यों देही बिनु सीस।
आसा लागि रहति तन स्वासा, जीवहिं कोटि बरीस ॥[2]

भ्रमरगीत के उपरान्त जब कृष्ण द्वारिका-गमन करते है, तब आशा की डोर टूट-सी जाती है—

नैना भए अनाथ हमारे।
मदन गुपाल उहाँ ते सजनी, सुनियत दूरि सिधारे।
... ...
मथुरा बसत आस दरसन की, जोइ नैन मग हारे।
सूरदास हमकों उलटी विधि, मृतकहुं ते पुनि मारे ॥[3]

इतना होने पर भी आशा के तन्तु लगे रहते हैं—

माई री कैसैं बनै हरि को ब्रज आवन।
... ...
सूरदास तरसत मन निसि दिन, जदुपति लौ लै जाइ कवन ॥[4]

विरह की दशाएँ

पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे 'वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ है, जितने ढगो से साहित्य में उन दशाओ का वर्णन हुआ है और सामान्यतया हो सकता है, वे सब सूर के विप्रलभ के भीतर मौजूद हैं।' शास्त्रानुसार विरह की दशाएँ एकादश हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता, मूर्च्छा और मरण। इनमे से मरण दशा का वर्णन विप्रलभ मे वर्जित है।[5] कारण यह है कि मरण वह अन्तिम सूक्ष्म रेखा है, जिसके पार विप्रलंभ जा नही सकता। विद्वानो ने सूर-भ्रमरगीत मे मरण-दशा चित्रण का भी उल्लेख किया है जैसे—

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
... ...
हरि सन्देश सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिनि दूजे अलि जारी।
सूरदास कैसे करि जीवै, ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी ॥[6]

---

१. सूरसागर, पद ३७६२
२. ,, ,, ४३४५
३. ,, ,, ४८७१
४ ,, ,, ४८८०
५. त्यक्तवौग्र्यमरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिणः। साहित्यदर्पण ३।१८६
६. सूरसागर, पद ४६६३

उपर्युक्त पद की अन्तिम पंक्ति के 'सहज मृतक' शब्द में मरण का शाब्दिक कथन मात्र किया गया है, किन्तु वास्तव मे यह मरणावस्था न होकर मूर्छावस्था ही है, क्योकि सूरसागर मे राधा जी की मृत्यु हुई ही नही है। द्वारिकागमन के उपरान्त भी कुरुक्षेत्र मे भगवान के साथ उनका शाश्वत मिलन हो जाता है ।

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई।
... ...
बिहंसि कह्यो हम तुम नहिं अन्तर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज विहार नित नई नई।[1]

डा० श्रीवास्तव ने निम्न पद मे मरण-दशा का उल्लेख किया है[2]—

ऊधौ कही सु फेरि न कहिए।
जौ तुम हमैं जिवायौ चाहत अनिबोले ह्वै रहियो।
प्रान हमारे घात होत हैं, तुम्हरे भाएँ हांसी ।
या जीवन ते मरन भलो है, करवत लैहैं कासी ।।

किन्तु इस पद के शब्दो मे लक्षणा शक्ति है, अभिधा नही। 'जो तुम हमे जिवायो चाहत' का यह अर्थ नही है कि गोपियाँ सचमुच मर चुकी हैं। वे तो अन्तिम पक्ति में स्पष्ट कह रही हैं कि 'या जीवन ते मरन भलो है।' तात्पर्य यह है कि मृत्यु-दशा का कोई उल्लेख इस प्रकार के उद्धरण में मानना ठीक नही है। मृत्यु-पीड़ा सबसे दारुण होती है, इसीलिए विरह की मर्मान्तिक पीड़ा के लिए 'मृत्यु' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग होता है।

मृत्यु को छोड़कर अन्य सभी काम दशाएं भ्रमरगीत मे उपलब्ध होती हैं।

अभिलाषा

गोपियों की एकमात्र इच्छा यही है कि कृष्ण किसी प्रकार व्रज वापस आयें और उनके दर्शन रूपी स्वाति-बूंद के प्यासे चातक-व्रजजन जी उठें।

ऊधौ स्याम इहां लै आवहु।
व्रजजन चातक मरत पियासे, स्वाति बूंद बरषावहु।[3]
+ + +
कब देखौं इहिं भांति कन्हाई।
मोरनि के चँदवा माथे पर, कांध कामरी लकुट सुहाई।[4]

२. चिन्ता

हित की अप्राप्ति मे चिन्ता होती है। इसके लक्षण शून्यता, उच्छ्वास और ताप (दाह) हैं।[5]

---

१. सूरसागर, पद ४६११
२ हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, पृ० २०४
३. सूरसागर, पद ४३६५
४. ,, ,, ३८३६
५. ध्यान चिन्ता हितान्प्ते शून्यताश्वासतापकृत्। साहित्य दर्पण ३।१७१
अर्थात् हित की अप्राप्ति का ध्यान ही चिन्ता है, इसमें शून्यता, उच्छ्वास लक्षण होते है।

गोबिन्द बिनु कौन हरे नैननि की जरनि।
सरद निसा अनिल भई, चन्द भयो तरनि।
तन मै सन्ताप भयौ दुर्‌यो, अनन्द घरनि।[१]

३. स्मृति

कृष्ण के जाने के उपरान्त गोपियां उनकी स्मृति से विह्वल होती है—

देखौ माई स्याम सुरति अब आवै।
... ...
दादुर मोर कोकिला बोलैं पावस अगम जगावे।[२]
+ + +
आजु घनस्याम की अनुहारि।
आए उनइ सांवरे सजनी देखि रूप की आरि।[३]

४. गुण कथन

एक द्यौस कुंजन मैं माई।
नाना कुसुम लेइ अपनै कर, दिय मोहिं सौ सुरति न जाई।
इतने मे घन गरजि वृष्टि करी, तनु भीज्यौ मो भई जुडाई।
कँपत देखि उढाइ पीत पट, लै करुनामय कंठ लगाई।
कहँ वह प्रीति-रीति मोहन की, कहँ अब धौं एती निठुराई।
अब बलबीर सूर प्रभु सखि री, मधुबन बसि सब रति बिसराई।[४]

५. उद्वेग

विरहावस्था मे संयोगावस्था की वस्तुएँ दु खदायी हो जाती हैं। सारा ससार जलता दिखाई पड़ता है, उद्वेग से सारे अ ग लुंज-पुंज से हो जाते हैं—

बिनु गोपाल वैरनि भई कुंज।
तब वै लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजै।
... ...
यह ऊधौ कहियो माधौ सौं मदन मारि कीन्हीं हम लुंजें।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग जोवत अँखियां भई छुंजै।[५]

६. उन्माद

विरह के कारण सारी बुद्धि जाती रहती है। चन्द्रमा को देखकर जो जलन होती है, उससे गोपियाँ क्षुब्ध हो जाती हैं। एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि तीर से मार कर चन्द्रमा को गिरा दे। घर के ऊपर चढकर दर्पण रखो। जब दर्पण मे वह आ जाये तो टुकड़े-टुकड़े कर दो—

१. सूरसागर, पद ३६६२
२. ,, ,, ३६३१
३. ,, ,, ३६३४
४. ,, ,, ४००३
५ ,, ,, ४६८७

सखि कर धनु लै चंदहिं मारि।
... ...
उठि हरवाइ जाइ मन्दिर चढ़ि, ससि सनमुख दरपन बिस्तारि।
ऐसी भाँति बुलाइ मुकुर मै, अति बल खंड-खंड करि डारि ॥[1]

७. व्याधि

विरह के कारण शारीरिक क्लेश-ज्वर, कृशता और पांडुता को व्याधि कहते है।[2]
देखियत कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सौं भई, बिरह जुर जारी।
... .
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी ॥[3]
विरह से शरीर इतना दुर्बल है कि हाथ का कगन भुजाओ मे आ जाता है—
कर कंकन तें भुज टाड़ भई।[4]
+ + +
ब्रज की कहि न परति हैं बातें।
गिरि तनया पति भूषन जैसे विरह जरी दिन रातें।
मलिन वसन हरि हित अंतरगति, तन पीरौं जनु पातै।
गदगद वचन नैन जल पूरित, विलख वदन कुस गातें।[5]

७. प्रलाप

पपीहे को बोलता सुनकर गोपी उस पर क्रुद्ध होकर कहती है—
(हौं तो मोहन के) बिरह जरी तू कत जारत।
रे पापी तू पखि पपीहा पिय पिय करि अधराति पुकारत।[6]
चन्द्रमा को देखकर कहती है कोई इस चन्द्रमा को क्यो नही रोकता, यह हम पर क्रोध करता है। इसके शत्रु वर्षा, सूर्य, मुर्गा, कमल और वादल कहाँ है, वे आकर इसे क्यो नही बन्द करते।
कोऊ माई वरजै री या चन्दहिं।
अति ही क्रोध करत है हम पर, कुमुदिनि कुल आनंदहिं।

---

१. सूरसागर, पद ३९७३
२. अ गगन क्लेश. व्याधि । नाट्यदर्पण ३।१३५
धातु कोप प्रीतम विरह, अन्तर उपजै व्याधि।
जुर विकार गहु अ ग में, ताही वरनै व्याधि ॥ देव--भावविलास
३ सूरसागर, पद ३८१०
४. ,, ४६७९
५. ,, ४७३९
६. ,, ३९५७

कहौ कहाँ बरषा रवि तमचुर कमल बलाहक कारे।
चलत न चपल रहत थिर कै रथ, विरहिन के तन जारे ॥[1]

९. जड़ता

इष्ट या अनिष्ट-दर्शन या श्रवण से उत्पन्न किंकर्तव्य विमूढता का नाम जड़ता[2] है। इसमे एकटक देखना, चुप हो जाना, अश्रु बरसाना आदि लक्षण होते हैं।

उद्धव कृष्ण से राधा का वर्णन करते हैं कि मेरे सन्देश को सुनकर वह किंकर्तव्य-विमूढ हो गई—

देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
...		...		...
चेतति नहीं चित्र की पुतरी समझाई सौं चेत।
द्वार खरी इकटक मग जोवति, उर्ध उसासनि लेत।
सूरदास कछु सुधि नहिं तन की, बँधी तिहारे हेत ॥[3]

१०. मूर्छा

राधा की मूर्छा का वर्णन उद्धव ने भी कृष्ण से किया था—

चित दै सुनौ स्याम प्रवीन।
...		...		...
जब सँदेसो कहन सुंदरि गवन मो तन कीन।
छुटी छुद्रावलि चरन अरुझी गिरी बलहीन।
कंठ वचन न बोल आवै, हृदय परिहस भीन।
उठी बहुरि सभारि भट ज्यौं परम साहस कीन।[4]
+		+		+
अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक विरहिनि दूजे अलि जारी।[5]

संचारी भाव

उपर्युक्त अवस्थाओ के अतिरिक्त भाव-तत्त्व की विविधता के मुख्य स्थल संचारी भाव काव्यशास्त्रो में बताये जाते है। ये सचारी भाव तेंतीस हैं—

१. निर्वेद, २. शका, ३. गर्व, ४ चिन्ता, ५. मोह, ६. विषाद, ७. दैन्य, ८. असूया, ९. उग्रता, १०. मद, ११. आलस्य, १२ श्रम, १३. उन्माद, १४. अपस्मार, १५. स्मृति, १६. अवहित्था, १७. चपलता, १८ त्रास, १९ ग्लानि, २० व्रीड़ा, २१ जड़ता, २२ हर्ष,

---

१. सूरसागर, पद ३९७८
२. अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभि·।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णीं भावादयस्तत्र ॥ साहित्यदर्पण ३।१४८
३. सूरसागर, पद ४७३४
४. ,, ,, ४७२६
५. ,, ,, ४६९२

२३. धृति, २४. मति, २५. आवेग, २६ उत्कंठा, २७. निद्रा, २८. स्वप्न, २९. विबोध, ३० व्याधि, ३१. अमर्ष, ३२. वितर्क, ३३. मरण।

इनमे से चिन्ता, स्मृति, उन्माद, व्याधि, जडता और मरण का उल्लेख ऊपर विस्तार से हो चुका है। शेष मे से अधिकाश संचारी भाव भ्रमरगीत मे उपलब्ध होते हैं। सूरदास की, भ्रमरगीत की रचना में, शास्त्रीय भावो पर सापेक्ष्यदृष्टि नही थी, फिर भी भ्रमरगीत के भाव-विस्तार मे उपर्युक्त भावो का अन्तर्भाव हो जाता है। गोपियों की विरहावस्था मे कुछ ऐसे भाव भी प्राप्त होते हैं जिनका अन्तर्भाव शास्त्रीय भावो मे होना भी कठिन है। भ्रमरगीत के पदों मे भिन्न-भिन्न सचारी भावो के एक-एक उदाहरण उपस्थित हैं—

निर्वेद

निर्वेद शान्त रस का स्थायी भाव है। इसमे शृंगार के स्थायी भाव रति का ठीक विपरीत भाव होता है। विप्रलम्भ शृंगार रतिमूलक है, फिर भी प्रतिदान न मिलने पर अस्थायी विराग प्रतिक्रिया मे मिलता है और प्रेमी अपने किये हुए पर पश्चाताप करता हुआ औरो को प्रेम-मार्ग से दूर रहने का परामर्श देता है। जैसे—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सो आपै प्रान दह्यौ।
+ + +
हम जो प्रीति करी माधव सों चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिन दुख पावत नैननि नीर बह्यौ ॥[1]
+ + +
जनि कोउ काहू के बस होहि।
ज्यो चकई दिनकर बस डोलत मोहिं फिरावत मोहि।[2]

शंका

प्रेमी विरह मे कभी अधीर भी हो जाता है। उसे लगता है कि उसकी इच्छा कभी पूरी ही न होगी—

बहुरि न कबहूँ सखी मिलै हरि।
कमल नैन के दरसन कारन अपनो सो जतन कही बहुतै करि।
... ...
धीर न धरत प्रेम व्याकुल चित लेत उसाँस नीर लोचन भरि।
सूरदास तन थकित भई अब, इहिं वियोग सागर न सकत तरि।[3]

गर्व

जब प्रिय प्रेयसी की उपेक्षा करता है, तो उसमे क्षण भर के लिए जोश आता है। वह अपने गुण, सौन्दर्य और प्रीति की ओर देखती है और प्रिय को बड़ी हीन दृष्टि से देखती है। उसका

१ सूरसागर, पद ३९०७
२. ,, ,, ३९१०
३. ,, ,, ३९१४

यह गर्व अधिक समय नही ठहरता और वह पुनः विषादमय हो जाता है। कुब्जा का समाचार पाकर गोपियां भी एक बार गर्व में आ गई थी—

भामिनी कुबिजा सौ रंगराते।
राजकुमारि नारि जौ पवते तौ कब अंग समाते।
... ...
ए अहीर वह कस की दासी जोरी करी विधातें।
व्रज वनिता त्यागी सूरज प्रभु बूझी उनकी बातें।[१]

गोपी कुब्जा के सौन्दर्य के बहाने अपने सौन्दर्य पर गर्व कर रही हैं—

तुम भली निबाही प्रीति कमल मनमोहन।
... ...
हम तौ सब गुन आगरी, कुबजा कूबर बाढि।
कहौ तौ हमहू लै चलै, पाछे कूबर काढ़ि॥[२]

अपने प्रेम और सौन्दर्य पर गर्व और कृष्ण के कृत्य तथा कुब्जा के असौन्दर्य के प्रति घृणा प्रस्तुत की गई है।

गर्व की अवस्था मे पौरुष उभरता है, तभी तो एक गर्वीली दूसरे को रोने-धोने से मना करती है—

सखी री काके मीत अहीर।
काहें कौं भरि भरि ढारति हौ नैननि को नीर।[३]

मोह

भय, दुख, घबराहट और चिन्ता के कारण चित्त की व्याकुलता को मोह कहा गया है।[४] इसमे मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर आना तथा आँखो के सामने अँधेरा आदि लक्षण होते हैं। विरह मे राधा की ऐसी ही स्थिति निम्न पद मे है—

अब या तनहिं राखि का कीजै।
सुनि री सखी स्याम सुन्दर बिनु, बाँटि विषम विष पीजै।
... ...
दुसह वियोग विरह माधौ के, को दिन ही दिन छीजै।
सूर स्याम प्रीतम बिन राधे, सोचि सोचि कर मींजै॥[५]

विषाद

उपाय के अभाव के कारण पुरुषार्थ की हीनता का नाम विषाद है। इसमे नि.श्वास

१ सूरसागर, पद ३७७२
२. ,, ,, ३७७४
३. ,, ,, ३७७५
४. मोहो विचित्रता भीति दुःखावेगानुचिन्तनैः।
मुर्च्छनाज्ञान पतन भ्रमणादर्शनादिकृत्॥ साहित्यदर्पण ३।१५०
५, सूरसागर, पद ३९८१

उच्छ्वास, मनस्ताप, सहायोन्वेषण की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं।[1]

राधिका का विषादमय चित्र उद्धव ने कृष्ण के सम्मुख प्रस्तुत किया था —

तुम्हरे विरह ब्रजनाथ राधिका नैननि नदी वढ़ी।
... .
ऊर्ध्व उसांस समीर तरंगनि, तेज तिलक तरु तोरति।
... ...
नाहीं ओर उपाय रमापति विनु दरसन क्यो जीजै।
आँसु सलिल बूड़त सब गोकुल, सूर स्वकर गहि लीजै।[2]

दैन्य

कृष्ण के अन्याय के बावजूद गोपियाँ अपने दीन भाव को नही छोडती, अपने ही दुर्भाग्य को दोष देती हुई कृष्ण की दासी बनी रहती हैं—

ऊधो हम हैं हरि की दासी।
काहे कौं कटु वचन कहत हौं, करत आपनी हांसी॥
... ...
जो कुछ भली बुरी तुम कहिहौ, सो सब हम सहि लैहैं।
आपन कियौ आपही भुगतहिं, दोष न काहू दैहैं॥[3]

असूया

कुब्जा को लेकर भ्रमरगीत मे अनेक पद लिखे गये हैं। सपत्नी भाव होने के कारण कुब्जा के प्रति गोपियो की असूया स्वाभाविक है। असूया दूसरो की समृद्धि को न सहन कर सकने के भाव को कहते हैं। इसमे दोष-दर्शन, तिरस्कार तथा क्रोध प्रमुख रूप से देखे जाते हैं।[4]

कितनी तिरस्कार और खीझ से भरी उक्ति है—

काम गँवारी सौं पर्यौ।
रूपहीन कुलहीन कूबरी, तासु मन जु ढर्यौ।
उनकौं सदा सुभाउ सलिल कौ, खोरनि खार भर्यौ।
सकुच्यौ नहीं जानि ऊंचौ तन उमँगि तहँउ पसर्यौ॥
फेरे फिरत असुर दासी के, जनु जन भाँड़ धर्यौ।
सूरदास गोपाल रसिक मनि अकरन करन कर्यौ॥[5]

---

१. उपायाभावजन्या तु विषाद· सत्व सक्षय।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्ताप सहायान्वेषणादिकृत्। साहित्यदर्पण ३।१६७

२. सूरसागर, पद ४७३२

३. ,, ,, ४१६२

४ असूयान्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता।
दोषोद्घोष भ्रू विभेदावज्ञाक्रोधेंकितादिकृत्॥ साहि० द० ३।१६५

५. सूरसागर, पद ४२६५

हर्ष

उद्धव की बातों से जहाँ गोपियों को निराशा हुई, वहाँ कृष्ण के सखा समझ कर उन्हे हर्ष भी हुआ। वे कहती हैं—

ऊधो हम आजु भईं बड़भागी।
जिन अँखियन तुम स्याम बिलोके, ते अँखिया हम लागीं।
जैसे सुमन वास लै आवत, पवन मधुप अनुरागी।
अति आनन्द होत है तैसे, अग अंग सुख रागी।[1]

ग्लानि

गोपियो को अपने भोलेपन पर पश्चाताप होता है। उन्हे ग्लानि होती है कि क्यो कृष्ण के रूप पर मोहित होकर वे उनके वश हो गईं—

तुमहिं दोष नहिं हम अति बौरी। रूप निरखि दृग लागे ठौरी।
चित चुराइ लियो मूरति सो री। सुभग कलेवर कुंकैम खोरी।[2]

मति

गोपियाँ अपने को समझाने को भी तैयार हो जाती हैं और कृष्ण को भुलाने और निर्गुण को ग्रहण करने का प्रयास भी करती हैं, किन्तु अन्त मे बात जहाँ की तहा रहती है—

ऊधो जो तुम हमहिं सुनायो।
सो हम निपट कठिनई हठ करि या मन को समुझायो।
जुगति जतन करि जोग अगह गहि, अपथ-पथ लौं लायो।
भटकि फिरयो बोहित के खग लौं पुनि हरि ही पै आयो।[3]

धृति

गोपियाँ जब देखती है कि आने के स्थान पर कृष्ण ने निर्गुण का सदेशा भेज दिया, तो वे अत्यन्त दुखी होती हैं, किन्तु फिर धीरज धारण करती है और कहती है, चाहे जो हो, अब हम अपने को बदल तो सकती नही—

अब मेरे मन ऐसियै षटपद, होनी होउ सु होऊ।
छुटि गयो मान परेखो रे अलि हुदै हुतो वह जोऊ।
सूरदास प्रभु गोकुल विसर्यो, चित चिन्तामनि खोऊ।[4]

+ + +

जुर्यो सनेह नंद नदन सौं, तजि परिमिति कुलकानि।
छूटत नहीं सहज सूरज प्रभु, दुख सुख लाभ कि हानि॥[5]

---

१. सूरसागर, पद ४१५१
२. ,, ,, ४५९०
३. ,, ,, ४३६३
४. ,, ,, ४५९४
५. ,, ,, ४४२५

उत्कंठा तथा चपलता

उद्धव के रथ को दूर से ही देखकर गोपियां बड़ी उत्कण्ठा से दौड़ी। सूरदास ने उनकी उत्कठा और आवेग के सुन्दर शब्द-चित्र प्रस्तुत किये है—

निहचैं आए गुपाल आनंदित भई बाल,
मिट्यौ बिरह कौ जजाल जोवत तिहिं काला।
गदगद तन पुलक भयो, बिरहा को सूल गयो
कृष्न दरस आतुर अति प्रेम कै बिहाला॥[1]

आवेग

चलन-चलन स्याम कहत, लैन कोउ आयो।
+ + +
ब्रज की नारि गृह बिसारि ब्याकुल उठि धाई।
समाचार बूझन को, आतुर ह्वै आई॥[2]

निद्रा

विरह की स्थिति मे सबसे बुरी दशा नीद की होती है। किसी प्रकार नीद आती ही नही। सूरदास ने इस दशा का बडा विस्तृत, काल्पनिक और मर्मस्पर्शी वर्णन किया है—

हमकौं जागत रैनि बिहानी।
पिय बिन नागिनि कारी रात।
जौं कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात।[3]

स्वप्न

वियोग मे नींद नही आती। विरहिणी नीद की कामना इसलिए नही करती कि उससे उसे आराम मिलेगा, अपितु वह तो चाहती है कि नीद आवे और स्वप्न मे प्रिय-मिलन हो—

सुपनैहूं में देखिए, जो नैन नींद परे।[4]

सयोग से एक क्षण के लिए नीद लग ही जाती है और स्वप्न मे कृष्ण-दर्शन सुलभ होते है किन्तु स्वप्न टिकता ही नही—

सुपनै हरि आए हौं किलकी।
नींद जु सौति भई रिपु हमकौं सहि न सकी रति तिलकी।
जो जागौं तो कोऊ नाहीं रोके रहति न हिलकी।[5]

---

१. सूरसागर, पद ४०८३
२. ,, ,, ३५७८
३. ,, ,, ३८९०-९१
४. ,, ,, ३८७७
५. ,, ,, ३८८०

विबोध

स्वप्न की उत्तरावस्था (जागरण) का नाम विबोध है। विरहिणी को स्वप्न का सुख तो क्षणिक होता है, बोध का दुःख ही अधिक हाथ लगता है—

जो जागौं तो कोऊ नाहीं, अन्त लगी पछितान।
जानौं साँच मिले मनमोहन, भूली इहि अभिमान।
नींदहि मैं मुरझाइ रही हौं, प्रथम पच संधान।[1]

वितर्क

वितर्क विनोद का अमोघ अस्त्र है। इसीलिए गोपियाँ भी उद्धव से विनोद करती हुई वितर्क प्रस्तुत करती हैं। वे कहती हैं प्रतीत होता है कृष्ण ने तुम्हें यहाँ नही भेजा, तुम बीच में ही भुला गये हो। या यह भी हो सकता है कि कृष्ण ने तुम्हारे साथ ही विनोद किया हो—

उधौ जाहु तुमहिं हम जाने।
स्याम तुमहिं ह्याँ नाहिं पठायौ, तुम हौ बीच भुलाने।
... ...
साँच कहौं तुमकौं अपनी सौं, बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुमहिं पठायौ, तब नैकहुँ मुसुकाने।[2]

अमर्ष

गोपियाँ अपने अपमान से क्षुब्ध होती है कि उद्धव के प्रति अपने हृदय के आदर भाव को वहन नही कर पाती। कृष्ण की पत्री को वे फैंक देती हैं और इस प्रकार अपने अमर्ष-भाव को व्यक्त करती है—

ऊधौ कहा करैं ले पाती।
जौ लौं मदन गुपाल न देखैं विरह जरावन छाती।
... ...
यह पाती लै जाहु मधुपुरी, जहँ वै बसैं सुजाती।[3]

उग्रता

कभी इतनी उग्रता भर जाती है कि वे उद्धव को नीच, शठ, कपटी, लम्पट, अपराधी आदि कह डालती हैं—

---

१. सूरसागर, पद ३८८२
२. ,, ,, ४१४०
३. ,, ,, ४११३

रहु रे मधु मधुकर मतवारे।

... ...

लोटत पीत पराग कीच मैं, नीच न अंग सम्हारे।[1]

+ + +

लंपट, ढीठ, बहुत अपराधी, कैसैं मन पतियाइ।[2]

अपस्मार

ज्यौं जलहीन मीन तरफत, त्यौं व्याकुल प्रान हमारौ।
सूरदास प्रभु के दरसन बिनु, दीपक भौन अँध्यारौ।[3]

त्रास

वर्षा ऋतु के आगमन पर बादलों की घटाएँ गोपियों मे भय उद्दीप्त करती हैं। वडा ही भयावह वर्णन है। लगता है निरीह गोपियाँ, बर्बर, प्राणघाती शत्रु-सेना देखकर भाग निकली हैं, पर बेचारी जाय भी तो कहाँ? उनका रक्षक तो उन्हें निस्सहाय छोडकर चला गया है—

देखियत चहुँ दिसे तै घन घोरे।
मानौं मत्त मदन के हथियनि बल करि बंधन तोरे।

... ...

अब सुनि सूर कान्ह, केहरि बिनु, गरत गात जैसैं ओरे।[4]

व्रीड़ा

भ्रमरगीत मे राधा व्रीडा की मूर्ति ही दिखाई पडती है। विरह के कारण वह घर के बाहर पद ही नही निकालती। उद्धव के समक्ष केवल एक बार सदेश देने के लिए आईं, फिर भी लज्जा और विषाद के कारण कुछ कह न पाईं।[5]

तैंतीस सचारी भावो मे से श्रम, आलस्य, अवहित्था और मद सयोग-शृंगार सम्बन्धी हैं। चिन्ता, स्मृति, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण का उल्लेख विरह-दशा मे किया गया है। शेष सभी सचारी भाव ऊपर प्रस्तुत हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत का भाव-सौन्दर्य विस्तृत और गहन है, उसमे शास्त्रीय रस-विवरण सरलता से देखे जा सकते हैं।

●

---

१. सूरसागर, पद ४१२३
२. ,, ,, ४२१५
३. ,, ,, ३८१३
४. ,, ,, ३९२२
५. ,, ,, ४७२५, ४७३१, ४७५३

: ३ :

भ्रमरगीत के पात्र

गोपियाँ

भ्रमरगीत मे सर्वाधिक चित्रण गोपियो का है। गोपियाँ ही प्रमुख रूप से संवाद की वक्ता हैं। अधीश्वरी राधा बोल ही नही पाती, अश्रु ही उनकी वाणी बनते हैं। उद्धव बोलने पाते ही नही, वे भी एक-दो बार अपना मन्तव्य कम-से-कम शब्दों मे व्यक्त करके एक प्रकार से श्रोता ही बने रह जाते हैं। गोपियाँ बड़ी मुखर और वाचाल हैं, फिर भी बड़ी भावुक और भोली है। सूर की गोपियो की बडी विशेषता यह है कि उनमे भावुकता के साथ वाग्विदग्धता भी है। प्रायः सहृदय और भावुक व्यक्ति भावातिरेक के कारण अधिक बोल नही पाता। भोला व्यक्ति सरल होता है, उसे वाक्पटुता नही आती, किन्तु सूर की गोपियाँ चरम सीमा की भोली होते हुए भी बड़ी ही वाक्पटु हैं। उद्धव जैसा ज्ञानी और विद्वान् व्यक्ति उनके तर्कों के सम्मुख हतबुद्धि होकर मूक बना बैठा रहता है।

सहृदयता और भावुकता

गोपियां यह सुनते ही कि कोई रथ पर बैठा हुआ कृष्ण सरीखा आ रहा है, अपना सारा काम छोड़ कर भागी—

> जो जैसै तैसै उठि धाईं, छांड़ि सकल गृह काम।
> पुलक रोम गदगद तेहीं छन, सोभित अंग अभिराम।[1]

किन्तु, ज्योही उन्होने उद्धव को देखा और उन्होने बताया कि वे तो कृष्ण नही, कृष्ण-सखा है, उनकी दशा ठीक विपरीत हो गई। उमग मूर्छा मे परिवर्तित हो गई—

> जबहिं कह्यो ये स्याम नहीं।
> परीं मुरछि धरनी ब्रजबाला, जो जहँ रही सु तहीं।[2]

फिर भी, ज्यो ही वे स्वस्थ हुई, उनका हृदय पिघल गया। वे उद्धव को श्रद्धा और प्रेमभाव से देखने लगी—

---

१. सूरसागर, पद ४०८५
२. ,, ,, ४०८७

निरखत ऊघौ कौं सुख पायौ।
सुन्दर सुलज सुबंस देखियत, यातै स्याम पठायौ।[1]

कुशल-क्षेम पूछने की हड़बड़ी बड़ी ही हृदय-द्रावक है। गोपियाँ इस प्रकार सकपकाई, घबराई हुई आई कि उद्धव भी सभ्रम मे पड गये—

सकसकात तन धक-धकात उर, अकबकात सब ठाढे।
सूर उपंगसुत बोलत नाही, अति हिरदै ह्वै गाढ़े।[2]

कृष्ण की पत्री को देखकर भोली ग्राम-गोपियाँ भाव-विभोर हो गई। पत्री पढना तो उनके वश का भी नही, वे तो सफेद कागज पर काले अक्षरो को देखकर उनके कालेपन मे ही कृष्ण-रूप को देखकर हर्षोद्रेक से फूली न समाईं। उन्होने पत्री को छाती से लगा लिया और कृष्णालिगन का सुख अनुभव किया—

निरखति अंक स्याम सुन्दर के, बार-बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद-मसि मिलि कै, ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।[3]

पत्री का हाथ मे लेना था कि विरह-ज्वर चढ आया। उनकी दशा विचित्र हो गई। न तो वे पत्री को छोड सकती हैं और न ले सकती हैं। हाथो मे इतनी उष्णता आई कि कागज की जलने की नौबत आ गई, अश्रु प्रवाह भी बह निकला—

नैन सजल कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती।
परसे जरै विलोके भीजै, दुहूँ भाँति दुख छाती॥[4]

जिस प्रेम-पत्र के लिए वे झखती थी और कहती थी कि—

लिखि नहि पठवत हैं द्वै बोल।
द्वै कौडी को कागद मसि कौ लागत है बहु मोल।[5]

उसी पत्र को पाकर उल्टी बात होने लगी—

काहे को लिखि पठवत कागर।
मदन गुपाल प्रगट दरसन, विन क्यौं राखै मन नागर।[6]

उद्धव के सदेश को सुनते ही उनके सुहृद भाव को ठेस लगती है। निश्छल हृदया होने के कारण वे स्पष्ट कहती हैं कि हम तो कृष्ण के देखे बिना नही रह सकती—

सुन्दर रूप लाल गिरधर कौ, बिनु देखे क्यौं रहियै।
सूरदास प्रभु समुझि एक रस, अब कैसे निरबहिए।[7]

भावुकता के आवेश मे गोपिया खीझी, कुपित हुई, क्रुद्ध होकर उन्हे धूर्त और बेशरम कह डाला और कहा कि यहाँ से उठकर क्यो नही चले जाते, तुम तो हमारे हृदय मे आग

१. सूरसागर, पद ४०९०
२ ,, ,, ४०९८
३. ,, ,, ४१०६
४. ,, ,, ४१०९
५. ,, ,, ३८७३
६. ,, ,, ४११२
७. ,, ,, ४१२०

लगी रहे हो—

मधुप कहि जानत नाहीं बात।
फूँकि फूँकि हियरो सुलगावत, उठि न यहाँ तैं जात।[1]

किन्तु इन कठोर वचनो के उपरान्त उन्हे स्वयं अपनी भूल पर पश्चाताप होता है और नम्रतापूर्वक क्षमा भी मांगती हैं—

बिलग जनि मानो हमरी बात।
डरपति वचन कठोर कहत अलि, मति बिनु पति उठि जात।[2]

उनका दैन्य भाव उभर आता है—

ऊधौ हम हैं हरि की दासी।[3]

वे कहती हैं कि इसमें कोई सन्देह नही कि योग-मार्ग अत्यन्त श्रेष्ठ है किन्तु, हम तो अज्ञानी अबलाएँ हैं, हम भला उस योग को धारण करने की सामर्थ्य कहाँ पावें—

मधुकर हम अजान मति भोरी
... ...
निरगुन ज्ञान तुम्हारो ऊधौ हम अबला मति थोरी।[4]

दूसरे यह भी है कि हम तो अपनी इन्द्रियो के परवश हैं। हमारे नेत्रों की समस्या सबसे विकट है—

ऊधौ इन नैननि नेम लियौ।
नदनंदन सौं पतिव्रत राख्यौ, नाहिन दरस बियौ।[5]

ये नेत्र केवल कृष्ण-दर्शन के भूखे-प्यासे हैं। वही रूप इन नयनो मे बसा है और किसी को प्रवेश का अवसर ही नही है। ये निर्निमेष उन्ही की राह मे अड़े हैं, देखते-देखते पीड़ा भर गई है जिसका इलाज कृष्ण-रूप-रस-अंजन मात्र है—

मग जोवत पलकौ नहिं लावति, विरह विकल भई भारी।
... ...
सूर सुअंजन आंजि रूप रस आरति हरहु हमारी।[6]

आँखों की भाँति मन की भी समस्या है। मन में नन्दनन्दन इस प्रकार बस गये हैं कि और किसी को अवकाश ही नही है—

मन मैं रह्यौ नाहिन ठौर।
नद नंदन अछत कैसे आनियै उर और।[7]

---

१. सूरसागर, पद ४१६४
२. ,, ,, ४१५२
३. ,, ,, ४१६२
४. ,, ,, ४१७२
५. ,, ,, ४१८१
६. ,, ,, ४१८६
७. ,, ,, ४३५१

ये मन इतने बिगड चुके हैं कि अब वश में आते ही नहीं—

मधुकर ये मन बिगरि परे ।
समुझत नहीं ज्ञान गीता कौ, मृदु मुसकानि अरे ।[1]

तात्पर्य यह है कि गोपियाँ अपनी इन्द्रिय-परवशता की ओर इंगित करती हैं। वे तो अपने मन को सब तरह से समझा कर भी थक गईं, फिर भी कुछ उपाय नही चलता और मन तो नंदलाल में लगा रह जाता है—

ऊधौ कह्यौ तिहारौ कीन्हौं
जिहिं जिहिं भांति सिखावन दीन्हो, सोइ विचारन लीन्हो।
नैन मूंदि धरि ध्यान निरतर, मन देख्यौ दौराइ।
अरुझि रह्यौ नंदलाल प्रेम रस, निमिष न इत उत जाइ।[2]

अन्त मे गोपियाँ उद्धव से बड़ी नम्रता से निवेदन करती हैं कि आप हम पर कृपा बनाये रखें। हमारी दशा आपने अपनी आँखो से देख ली, हम अपनी व्यथा क्या निवेदन करें। कृपा करके आप इसका वर्णन कृष्ण से करें—

हम पर हेत किए रहिबौ।
या ब्रज कौ ब्यौहार सखा तुम, हरि सौं सब कहिबौ।
देखे जात आपनी अखियनि, या तन कौ दहिबौ।
तन की बिथा कहा कहौं तुम सौं, यह हमकौं सहिबौ।[3]

सारांश यह कि सूर की गोपियाँ भोली हैं, उन्हे अपने ज्ञान का कोई अभिमान नही है। वे नंददास की गोपियो की भाँति विदुषी नही हैं, जो ज्ञानी उद्धव से शास्त्रार्थ करें तथा अपने तर्कों और सैद्धान्तिक तथ्यो के आधार पर उन्हे पराजित करें। साथ ही इतनी मुखर भी नही कि कटु वचन कहते हुए अपनी भूल भी स्वीकार न करे। सूर की गोपियाँ क्षुब्ध होती हैं, भावुकता के आवेश मे शठ, लम्पट, नीच, धूर्त और बेशरम कह डालती है, किन्तु साथ-साथ क्षमा भी मांगती हैं। कृष्ण के लिए भी स्वार्थी, लम्पट, मधुवनियां, चोर आदि अपशब्द प्रयोग करती हैं, किन्तु ऐसा एक भी पद नही है, जिसमे वे अपनी परवशता न व्यक्त करें। सूर की गोपियो मे सहृदयता केन्द्र विन्दु है, दैन्य उनका सहज गुण है।

वाग्विदग्धता

सूर की गोपियाँ भावुक, अनजान, भोली और अबला हैं। रो पडना उनका स्वभाव है। निशिदिन उनके नेत्र बरसते रहते हैं। कृष्ण की मोहनी-मूर्ति को देखते ही दीवानी हो उठी। उन्होने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, लोकलाज-कुलकानि को कच्चे धागे की तरह तोड़ दिया। ये गाँव की गवारिन ग्वाल-बालाएँ अपनी मनोदशा की अभिव्यक्ति शब्दों की अपेक्षा स्तभ, कंप, स्वरभग, अश्रु, स्वेद और मूर्छा से अधिक करती हैं। इतना होने पर भी

---

१. सूरसागर, पद ४३४६
२. ,, ,, ४४३०
३. ,, ,, ४६७५

गोपियां बडी ही वाक्पटु हैं। उन्होने उद्धव के योग-सिद्धान्त का उत्तर दार्शनिक विवेचन से न देकर विनोद, व्यग, उपहास, कटूक्तियो और भाव-प्रेरित वक्रताओ से दिया। इन सबके मूल मे वाक्पटुता ही मिलती है।

विनोद

वाक्पटु व्यक्ति विपक्षी का विनोद करता है और ऐसी फबतिया कसता है कि निरुत्तर होने और हाथ जोडने के अतिरिक्त प्रतिवादी के पास कोई चारा नही होता। विनोद प्रहार का अत्यन्त शिष्ट अस्त्र है जिसमे आक्रमण मे ही प्रतिरक्षा का तत्त्व विद्यमान होता है। गोपियाँ उद्धव के उपदेश पर व्यंग करती हैं—

देन आए ऊधो मत नीकौ।
आवहु री मिलि सुनहु सयानी, लेहु सुजसु कौ टीकौ।
तजन कहत अ बर आभूषन, गेह-नेह सुत ही कौ।[१]

गोपियाँ कहती हैं कि शायद आप यहाँ भूल कर आये, आपको कृष्ण ने कही और तो नही भेजा—

स्याम तुमहि ह्यां नाहिं पठायौ तुम हौ बीच भुलानै।

कैसा मधुर विनोद है, जब वे कहती हैं कि अच्छा हम अन्तिम बात पूछती हैं आप सौगन्धपूर्वक कहे कि जब कृष्ण ने आपको यहाँ भेजा, तब वे मुस्कराए तो नही थे, भाव यह है कि उन्होने आपको मूर्ख बनाने के लिए तो नही भेजा है—

साँच कहौं तुमकौं अपनी सौं, बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुमहिं पठायौ, तब नैकहु मुसकाने॥[२]

उद्धव के ज्ञान-गौरव पर उनका विनोद बड़ा मीठा और तीखा हैं। कहती है कि पांडे जी (पडित) योग का उपदेश करने के लिए पुराणो का बोझ लाद कर आये हैं कि हम अपने पति कृष्ण को छोड़ कर रांड (विधवा) हो जाय—

आए जोग सिखावन पांड़े।
परमारथी पुराननि लादे ज्यौं बनजारे टाड़े
हमरे गति-पति कमल नैन कौं, जोग सिखे ते राँड़े।[३]

इसी प्रकार उद्धव को व्यापारी का खिताब भी देती हैं और कहती हैं कि ऐसा भोला और सीधा है कि भूसी देकर सोना माँग रहा है —

आयो घोष बड़ौ व्यौपारी।
खेप लादि गुरु ज्ञान जोग की, ब्रज मे आनि उतारी।
फाटक दै, कै हाटक माँगत, भोरौ निपट सुधारी॥[४]

---

१. सूरसागर, पद ४१३३
२. ,, ,, ४१४०
३. ,, ,, ४२०३
४. ,, ,, ४५८४

व्यंग्य

विनोद मे तीखापन होता तो है किन्तु मधुर शब्दावली के आवरण मे। व्यंग्य मे जब तीखापन बढ जाता है, तो वह लक्ष्य पर तीर की भाँति लगता है। इतना होने पर भी भाषा शिष्टता का पल्ला नही छोडती। व्यग्य भी वाक्पटुता का अंग ही है।

गोपियाँ कृष्ण के कुब्जा-प्रेम पर व्यग करती हैं—

ऊधौ हरि मथुरा कुबिजा गृह, वहै नेम व्रत लीन्हौ।
चारि मास वरषा के आगम, मुनिहुँ रहत इक ठौर।
दासी धाम पवित्र जानि कै, नहिं देखत उठि और।[1]

कृष्ण पहले गोपीनाथ थे, अब गोपियो को छोड़ गये, उन्होने कुब्जा को गोपियों का पद दे दिया है, तो फिर उन्हें अब अपना नाम भी बदलना ही चाहिए—

✓काहे कौं गौपीनाथ कहावत।

... ...

जो पै कृष्न कूबरी रीझे, सोइ किन बिरद बुलावत।[2]

कृष्ण के लिए गोपियाँ कहती हैं, कि बहुत अच्छा हुआ जो कृष्ण यहाँ नही आते, क्योकि अब तो ब्रज मे बुरे दिन हैं, जिसे गोपी और ग्वाल भोग रहे हैं। कृष्ण तो तीन भकार वाले—भोगी, भौंरे और भुवाल है वे, बुरे दिन का कष्ट कैसे झेलते?

✓ऊधौ भली करी गोपाल।
आपुन तौ हरि आवत नाहीं, बिरमि रहे इहि काल।
चन्दन, चन्द हुते तब सीतल, कोकिल सब्द रसाल।
अब समीर पावक सम लागत, सब ब्रज उलटी चाल।

... ...

हम तो न्याइ इतौ दुख पावें, ब्रज बसि गोपी ग्वाल।
सूरदास स्वामी सुख सागर भोगी भँवर भुवाल।।[3]

श्याम रंग पर अनेक तर्क उपस्थित करती हैं। एक-एक से तीखे हैं जैसे—

✓ बिलग जनि मानौ ऊधौ कारे।
वह मथुरा काजर की ओबरी, जो आवै ते कारे।[4]

उद्धव से कहती हैं कि आप बडे ठीक समय पर आये। हमारे अन्दर कृष्ण-प्रेम का घट कच्चा बना था। तुमने योग-सदेश देकर विरह को प्रज्वलित कर दिया। प्रेम-पुनीत-जल से घट पूरित है। कृष्ण नये-नये राजा हुए हैं, उनके अभिषेक के लिए प्रस्तुत है—

---

१. सूरसागर, पद ४२६३
२. ,, ,, ४२६६
३. ,, ,, ४३५५
४. ,, ,, ४३८१

ऊधौ भली भई ब्रज आए।
बिधि कुलाल कीन्हे कांचे घट ते तुम आनि पकाए।
... ...
भरे संपूरन सकल प्रेम जल, छुअन न काहू पाए।
राज काज तै गए सूर प्रभु, नन्दनन्दन कर लाए।[1]

उपहास

व्यंग का वह रूप, जो प्रतिपक्ष को मूर्ख बना दे। प्रायः इस प्रक्रिया मे हीन उपमाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। जैसे—

प्रकृति जो जाकें अग परी।
स्वान पूंछ कोउ कोटिक लागै, सूधी कहुँ न करी।[2]

इसी प्रकार जोग का उपहास करते हुए गोपियाँ खिल्ली उड़ाती हुई कहती है—

ऊधौ जोग कहा है कीजतु।
ओढियतु है कि बिछयत है किधौं खैयतु है किधौं पीजतु।
किधौ कछू खिलौना सुन्दर, कि कछु भूषन नीकौ।
हमरे नन्दनन्दन जो चहियतु, मोहन जीवन जी कौ॥[3]

कटूक्ति

कटूक्ति में विरोध सीधे शब्दों मे होता है। व्यंजना कम और प्रहार तीव्र और गहरा होता है। हृदय का रोष और विषाद स्पष्ट होते हैं। कटूक्ति के तीर सीधे जाते है और विषैले और अणियारे होते हैं। जहाँ लगते है, वहाँ जलन उत्पन्न करते है। शिष्टता की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। गोपियाँ कुब्जा के सन्दर्भ मे कटूक्तियो का प्रयोग खुल कर करती हैं—

काम गंवारी सौं पर्‌यो।
रूपहीन कुलहीन कूबरी तासों मन जु ढर्‌यो।
उनको सदा सुभाउ सलिल कौ खोरनि खार भर्‌यौ।
सकुच्यौ नहीं जानि ऊचौ तन, उमंगि तहुंउ पसर्‌यौ।[4]

इसमे जहाँ कुब्जा पर कटूक्ति है, वहाँ वाक्चातुर्य से कृष्ण पर व्यग्य है कि जल तो अधोमुखी ही होता है अत. कृष्ण भी पतनोन्मुख हुए। कुब्जा के सौभाग्य पर वे अपनी जली-कटी इस प्रकार कहती हैं—

---

१. सूरसागर, पद ४४०९
२. ,, ,, ४१४५
३. ,, ,, ४५८५
४, ,, ,, ४२६५

मधुकर उनकी बात हम जानी ।[1]

... .

कुटिल कुचील जन्म की टेढी, सुंदरि करि घर आनी।

अब वह नवल वधू ह्वै बैठी, ब्रज की कहति कहानी।[1]

गोपियों की कटूक्ति चरम सीमा को पहुँच जाती है, जब वे मर्यादा का उल्लंघन करके अश्लीलत्व को स्पर्श करती हैं। कुब्जा के कुबड़े रूप को दृष्टि मे रख कर कृष्ण-सुरति का संदर्भ प्रस्तुत करती हैं और ग्राम्य-उपहास प्रस्तुत करती है—

ऊधो यहै अचम्भौ बाढ़ ।
आपु कहां ब्रजराज मनोहर, कहां कूबरी राढ़ ।।
जिहिं छिन करत कलोल संग रति, गिरिधर अपनी चाढ़।
काटत हैं परजंक ताहि छिन, कै धौं खोदत खाढ ।।
किधौं सदा बिपरीत रचत हैं, गहि गहि आसन गाढ़ ।
सूर सयान भए हरि, बाधत, मांस खाइ गल हाड़ ।।[2]

भाव-प्रेरित वक्रताएं

उपर्युक्त वाक्-पाटव के अतिरिक्त सर्वश्रेष्ट स्थल वे हैं जहां गोपियो मे दैन्यका प्राधान्य होता है और उनकी वक्रोक्तियो का आधार उनके हृदय की वेदनाएं है। हृदय की परवशता की तलहटी पारदर्शक वाक्पाटव मे झलकती रहती है। जैसे—

इहिं उर माखन चोर गड़े ।
अब कैसेहु निकसत सुनि ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े ।[3]

तिरछी गड़ी वस्तु का निकलना कठिन होता है। कृष्ण त्रिभंगी हैं, अत इस प्रकार गड़ हुए को कैसे निकालें?

ऊधो मन न भए दस बीस ।
एक हुतो सो गयौ स्याम संग को अवराधै ईस ।[4]

मन तो एक ही होता है, वह कृष्ण के साथ चला गया है। अब भला आप ही बताएं हम दूसरा मन कहाँ पाएं और निर्गुण ब्रह्म की उपासना करें। अब तो केवल यही उपाय है कि आप हमारे मन को वापस ला दें—

ऊधौ मन नहिं हाथ हमारै ।
रथ चड़ाइ हरि संग गए लै, मथुरा जबहिं सिधारे ।।
ना तरु कहा जोग हम छांड़हिं, अति रुचि कै तुम ल्याए ।
हम तौ झंखित स्याम की करनी, मन लै जोग पठाए ।।
अजहुँ मन अपनो हम पावै, तुम तै होइ तौ होइ ।
सूर सपथ हमैं कोटि तिहारी कही करेंगी सोइ ।।[5]

---

१. सूरसागर, पद ४२५५
२ ,, ,, ४२६१
३. ,, ,, ४३५०
४. ,, ,, ४३४५
५, ,, ,, ४३३८

सारांश यह है कि सूरदास ने गोपियों का जो चित्र खीचा है, उसमें सद्भाव, प्रेम, भोलापन और वाक्चातुर्य का समन्वय है। निश्छल सरलता उनका सहज गुण है। वे जितनी ही भोली और अनजान है, उनका प्रेम उतना ही नागर और तीव्र है। उनकी भाव-प्रेरित वक्रता मे जितना तीखापन है, उससे भी कही अधिक उनके मर्माहत हृदय की टीस है। वे जितनी कटु हैं, उतनी ही मृदु और दीन भी। भावुकता उनकी जितनी मनोहारी है, वाक्-पटुता उतनी ही चटपटी। भ्रमरगीत परम्परा मे कवियों ने सूर का आदर्श सम्मुख रखा, किंतु कही भी वह हृदयग्राही चित्र न बन सका। कवियो ने गोपियों को अधिक गुणी, अधिक विदुषी और अधिक मुखर बनाने का प्रयास किया, किंतु सूर की गोपियो का सौरस्य, माधुर्य और लावण्य अप्रतिम ही रहा।

राधा

राधा कृष्णानुराग-लीला की अधीश्वरी और गोपीभाव की सार है। गोपियाँ स्वामिनी की दासी एव सहचरियाँ थी। कृष्ण-विरह मे उनका जो चित्र सूरदास ने प्रस्तुत किया, वह सब वास्तव मे राधा का ही विविध रूप था। गोपियाँ अंग और राधा अंगी हैं। राधा बिम्ब और गोपियाँ प्रतिबिम्व हैं। प्रतिबिम्व दृश्य और बिम्ब अदृश्य होता है इसीलिए भ्रमरगीत मे प्रतिबिम्बरूपा गोपियो के हीउद्‌गार सुनाई पड़ते हैं। राधा का विरह तो गम्भीरता की चरम सीमा पर पहुचा हुआ था। प० रामचन्द्र शुक्ल ने सीता विरह के गाम्भीर्य की भूरि-भूरि प्रशसा की थी। सीता के मार्मिक विरह की व्यजना हनुमान जी ने भगवान राम से इस प्रकार की थी—

> नाम पाहरू दिवस निशि, ध्यान तुम्हार कपाट।
> लोचन निज पद जत्रिका, प्राण जाहिं किहिं बाट।[1]

अर्थात् सीता जी आपके ध्यान में मग्न, निम्न दृष्टि किए हुए, आपका नाम जपती हुई जी रही हैं। गोस्वामी जी ने उनके रुदन, विरहताप, कृशता आदि का कोई उल्लेख नही किया।

सूरदास की राधा का विरह तो और भी गम्भीर है। राधा तो कृष्ण-विरह के कारण बाहर ही नही निकली। उद्धव कृष्ण से इस तथ्य का निवेदन व्यजना से करते हैं —

> तब तै इन सबहिनि सचु पायो।
> जबतें हरि सदेस तुम्हारौ सुनत तांवरो आयौ।
> फूले व्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायौ।
> ... ...
> अब जनि गहर करहु हो मोहन, जो चाहत हो ज्यायौ।
> सूर बहुरि ह्वै राधा को, सब वैरिनि को भायो।[2]

---

१. रामचरित मानस, सुन्दरकांड

२. सूरसागर, पद ४७६०

भ्रमरगीत मे राधा का विरह-वर्णन परोक्ष रीति से गोपियो के माध्यम से हुआ है। फिर भी कुछ स्थल हैं, जहाँ राधा के दर्शन भी होते हैं। उद्धव के ब्रज आगमन से पूर्व राधा एकान्त मे पश्चाताप-मग्न दीख पड़ती है। कितनी सरल हृदया हैं, उन्हे कृष्ण के प्रति कोई आक्रोश नही होता। अपने कृत्य पर ही ग्लानि उन्हे होती है। पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय मे राधा स्वकीया रूप से कृष्ण-प्रिया मानी जाती हैं। स्वकीया का सबसे बडा लक्षण यह है कि वह प्रिय-दोष की ओर दृष्टि नही डालती। उसमे प्रेमाधिक्य इतना होता है कि वह क्रोध कर ही नही सकती। राधा कृष्ण-संयोग की स्मृति करती हुई छठपटा रही हैं—

मेरे मन इतनी सूल रही
वे बतियाँ छतियां लिखि राखीं जे नन्दलाल कही॥
एक द्यौस मेरै गृह आए, हौं ही महत दही।
रति मांगत मै मान कियो, सखि सो हरि गुसा गही॥
सोचति अति पछिताति राधिका, मूरछित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तै, बिथा न जाति सही॥[1]

कैसा भोला स्वभाव है। ग्लानि, चिन्ता, मूर्छा और पश्चाताप उनके मर्मान्तिक विरह को साकार कर रहे है।

मथुरा की ओर जाते हुए पथिक को देखकर घर से निकल कर राधा दौड़ पड़ती हैं, उसे भाई कह कर प्रणाम करती हैं, सदेश रूप मे कुछ कहना चाहती हैं, किन्तु कहे तो कैसे, गला रुँध गया, रो कर रह गई —

सुरति करि ह्वां की रोइ दियौ।
पथी एक देखि मारग मै राधा बोलि लियौ।
कहि धौं वीर कहां तै आयो, हम जु प्रनाम कियौ।
पा लागौं मदिर पग धारौ, सुनि दुखियान त्रियौ।
गदगद कठ हियौ भरि आयो, वचन कह्यौ न दियो।
सूर स्याम अभिराम ध्यान मन, भरि भरि लेत हियौ।[2]

कृष्ण-वियोग के दिन राधा किस प्रकार काटती हैं, इसका थोड़े शब्दो मे सूरदास जी ने बडा हृदय-द्रावक वर्णन किया है—

हरि कौ मारग दिन प्रति जोवति।
चितवत रहत चकोर चद ज्यौं, सुमिरि सुमिरि गुन रोवति॥
पतियां पठवति मसि नहिं खूँटति, लिखि लिखि मानहु धोवति।
भूख न दिन निसि नींद हिरानी, एकौ पल नहिं सोवति॥
जे जे वसन स्याम संग पहिरे, ते अजहूँ नहिं धोवति।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, वृथा जनम सुख खोवति॥[3]

---

१ सूरसागर, पद ४०१४
२. ,, ,, ४०१५
३. ,, ,, ४०२२

विरहिणी प्रतीक्षा में राह पर आंखें लगाये है, न कुछ खाती है, न सोती है। हरि-स्पर्श के आनन्दातिरेक को स्मरण कर कपड़े नही बदलती। मलीन तन-वसन में ही निश्चेष्ट पड़ी रहती है।

राधा का शरीर सूख कर कांटा हो गया है। राधा के असौष्ठव, कृशता, पांडुता और दौर्बल्य का साक्षात् चित्र निम्न पद मे दृष्टव्य है—

> बिन माधौ राधा तन सजनी, सब विपरीत भई।
> गई छपाइ छपाकर की छवि, रही कलंक मई॥
> अलक जु हुती भुवंगम भूसी, बट लट मनहुँ भई।
> ... ...
> आंचि लग्यौ च्योनो सोनो सौं, यौ तनु धातु घई।
> कदली दल सी पीठि मनोहर, मानों उलटि ठई।
> संपति सब हरि हरी सूर प्रभु, बिपदा देह दई॥[१]

कृष्ण-विरह मे परम सुन्दरी राधा का शरीर क्षीण हो गया है, शरीर मलिन है, बालो मे बट की सी लटे पडी हैं, सारा शरीर पीला हो गया है, शरीर मे हड्डियां मात्र ही रह गई हैं। फिर भी ऐसा गाम्भीर्य है कि ज़बान नही खुलती, हृदय पर हाथ धरे बैठी हैं, आखो से अश्रु धारा वह रही है, जघा पर हाथ की कुहनी लगाए कपोलो पर हाथ धरे नाखून से जमीन खुरचती बैठी हैं—

> कर कपोल भुज धरि जघा पर, लेखति माइ नखनि की, रेखनि।
> ... ...
> नैन नीर भरि भरि जु लेति है धिक धिक जे दिन जात अलेखनि।[२]

इतना होने पर भी, न तो उसे कृष्ण से कुछ गिला है, न शिकवा, पुर्नमिलन की आशा विद्यमान है और उसी के सहारे प्राण टिके हैं —

> इहि दुख तन तरफत मरि जैहैं।
> कबहुँ न सखी स्याम सुन्दर घन मिलि हैं, आइ अक भरि लैहैं ?
> ... ...
> याही तैं घट प्रान रहत हैं कबहुँक फिरि दरसन हरि दैहैं।
> सूरदास परिहरत न यातें प्रान तजें नहिं पिय ब्रज ऐहैं।[३]

राधा कितनी सहृदया है, इसी से प्रकट होता है, कि वे अपना कोई विशेष अस्तित्व नही मानती। सोचती हैं कि जब कृष्ण ने नन्द-जसोदा ही को भुला दिया तो मेरी क्या गिनती ?

१. सूरसागर, पद ४०२३
२. ,, ,, ४०२४
३. ,, ,, ४०२६

उनकौं व्रज बसिवौ नहिं भावै ।

... ...

नंद जसोदा हूँ को बिसर्यो, हमरी कौन चलावै ।
सूरदास प्रभु निठुर भए री, पातिहु लिखि न पठावै ।।[1]

उद्धव-गोपी-संवाद के बीच राधा के दर्शन नही होते, केवल दो ऐसे पद मिलते हैं, जिनमे प्रतीत होता है कि राधा उद्धव से अपनी दशा का निवेदन कर रही हैं—

जदपि मैं बहुतै जतन करे ।
तदपि मधुप हरि-प्रिया जानि कै काहु न प्रान हरे ।।
सौरभ जुत सुमननि लै निज कर सतत सेज धरे ।
सनमुख सहति सरद ससि सजनी, ताहु न अंग जरे ।।

... ...

जानत नहीं कौन गुन इहि तन, जातै सब बिडरे ।
सूरदास सकुचनि श्रीपति की, सुभटनि बल बिसरे ।[2]

स्पष्ट है इस पद मे राधा विरह से तग आकर अपनी मृत्यु के लिए प्रयास करती है किन्तु उनके सभी प्रयत्न निष्फल होते है ।

दूसरा पद स्मृति सम्बन्धी है—

हरि बिछुरन की सूल न जाइ ।
बलि बलि जाउं मुखारविंद की, वह मूरति चित रही समाइ ।
एक समै वृन्दावन महियाँ, गहि अंचल मेरी लाज छडाई ।
कबहुँक रहसि देत आलिगन, कबहुँक दौरि बहोरत गाई ।
वे दिन ऊधौ बिसरत नाहीं, अबर हरे जमुन तट आई ।
सूरदास स्वामी गुन सागर, सुमिरि सुमिरि राधे पछिताई ।।[3]

गोपिया भी राधा का स्पष्ट उल्लेख नही करती । जब उद्धव गोपियो की दशा देख कर उनके प्रेम भाव से प्रभावित होते हैं और मथुरा जाने को प्रस्तुत होते हैं, तब गोपियाँ जो सदेश भेजती हैं, उसमे वे अवश्य राधा की विरहाकुल अवस्था का निवेदन करती हैं । एक ही पद मे राधा के मन और शरीर की दुरवस्था का सागोपाग चित्रण है—

अति मलीन वृषभानु कुमारी ।
हरि श्रम-जल भींज्यो उर अंचल तिहि लालच न धुवावति सारी ।।
अधमुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी ।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यो नलिनी हिमकर की मारी ।।
हरि संदेस सुनि सहज मृतक भई, इक विरहिनि दूजे अलि जारी ।
सूरदास कैसे करि जीवै, व्रज बनिता बिन स्याम दुखारी ।।[4]

---

१. सूरसागर, पद ४०२९
२. ,, ,, ४३८६
३. ,, ,, ४३८८
४. ,, ,, ४६९२

उद्धव के ऊपर भी सबसे अधिक प्रभाव राधा का ही था। गोपियो ने सारे भ्रमरगीत मे सब प्रकार से अपने मनोभाव व्यक्त किये, किन्तु जिसे देख कर उद्धव का धीरज-बाँध टूटा, वे विह्वल हो गये और अपने ज्ञान को भूल गये, वह राधा ही थी। इसलिए वे कृष्ण से राधा का हृदय-विदारक चित्रण करते हैं :—

तन अति कंप हृदय अति व्याकुल, उर धुक-धुक अति कीन्हीं।
चलत चरन गहि रही गई गिरि, स्वेद सलिल भइ भीनी॥
छुटी न भुज, टूटी वलयावलि, फटी कंचुकी झीनी।
मनो प्रेम की परनि परेवा, याही तै पढ़ि लीनी॥[1]

वे स्पष्ट कहते है कि राधा सौन्दर्य-प्रसाधनो - तेल, ताम्बूल, भूषण आदि का कोई उपयोग नही करती। वस्त्र सारे अत्यन्त मैले पहनती हैं। शरीर इतना दुर्बल है कि कगन टाँड (बाजूबन्द) हो रहा है—

हरि तुम्हार विरह राधा मैं जु देखी छीन।
तज्यौ तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर रहत नाहीं टाँड भुज गहि लीन।[2]

सबको सदेशा भेजते हुए देख कर राधा ने भी अपने मे साहस बटोरा और निवेदन करने के लिए आगे बढी, किन्तु भावातिरेक के कारण वे गिर पडी, कठ अवरुद्ध हो गया, नेत्रो से आँसू निकल पड़े, बार-बार प्रयत्न किये, किन्तु एक शब्द भी न निकल पाया—

जब सदेसौ कहन सुंदरि गवन मो तन कीन।
छुटी छुद्रावलि, चरन अरुझी गिरी बल हीन।
कंठ वचन न बोलि आवै, हृदय परिहस भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनौ, ग्रसित आपद दीन।
उठी बहुरि संभारि भट ज्यौं, परम साहस कीन।
सूर हरि के दरस कारन, रही आसा लीन।[3]

राधा कही वर्षा आगमन को सुन कर उद्दीप्त न हो जाय, इस डर से सखियाँ राधा को वर्षा ऋतुओ की सूचना तक नही देती—

बातें बूझत यौं बहरावति।
सुनहु स्याम वे सखी सयानी, पावस रितु राधेहि न सुनावति।
घन देखत गिरि कहति कुसल मति, गरजत गुहा सिंह समुझावति।
.. ..
कबहुँक प्रकट पपीहा बोलत, कहि कुपच्छि करतारि बजावति।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, सो बिरहिनि इतनौ दुख पावति।[4]

---

१. सूरसागर, पद ४७२२
२. ,, ,, ४७२६
३. ,, ,, ४७२६
४. ,, ,, ४७६५

राधा कृष्ण के ध्यान में इतनी विह्वल हैं कि कभी माधव-माधव रटने लगती है। रटते-रटते भूल जाती है और अपने को ही कृष्ण मान कर नाट्य करती हुई सी राधा-राधा चिल्लाने लगती हैं। इस प्रकार दोनो ही अवस्थाओं मे वेचारी विरहाग्नि से जल रही है —

सुनहु स्याम यह बात और कोउ क्यों समुझाइ कहै।
दुहूँ दिसि को अति विरह विरहिनी कैसे कै जु सहै।
जब राधा तबहीं मुख माधौ, माधौ रटत रहै।
जब माधौ ह्वै जात सकल तन राधा-विरह दहै॥[1]

इस प्रकार भ्रमरगीत मे परम वियोगिनी के रूप मे राधा चित्रित की गई है। वे प्रत्यक्ष बहुत कम आती हैं। परोक्ष-वर्णन ही उनका मिलता है। विरह की दश-दशाएँ— अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, उन्माद, व्याधि, प्रलाप, जड़ता और मूर्छा का सांगोपांग चित्रण मिलता है। सबसे बडी बात तो यह है कि राधा कही भी जबान नहीं खोलती। भावो और अनुभावो का सम्यक् विधान ही उनकी मनस्थिति और दुरवस्था का चित्रण करने मे समर्थ है। भ्रमरगीत कितना बड़ा उपालम्भ-काव्य है, किन्तु उसमे एक पक्ति भी राधा-उपालम्भ नही है। राधा जी वियोग, सहृदयता और भावुकता की मूर्ति हैं। सस्कृत और हिन्दी साहित्य मे राधा-चित्रण के विविध रूप हैं, किन्तु जो चित्र सूरदास ने प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा नवीन और अप्रतिम है। सूर की राधा को देख कर कौन सहृदय है, जो उद्धव की भाँति ही विह्वल न होगा ?

उद्धव

कृष्ण-सखा परम ज्ञानी उद्धव भी भ्रमरगीत के प्रमुख पात्र है। भागवत तथा अन्य भ्रमरगीतो मे उद्धव ज्ञानी, उपदेशक या विद्वान के रूप मे ही प्रतिष्ठित हैं। रत्नाकर जी के उद्धव-शतक को छोड़कर अन्यत्र और कही उनके मानवीय गुणों पर भी दृष्टि नही डाली गई है। आरम्भ मे उद्धव ज्ञानी दर्शनाचार्य के रूप मे दिखाई पड़ते हैं। वे निर्गुणोपासना के समर्थक हैं और कृष्ण-सखा होते हुए भी कृष्ण के सगुण रूप को परब्रह्म का रूप नही मानते। कृष्ण उनके सम्वन्ध मे चिन्ता करते है—

रेख रूप न बरन जाके, इहि धर्यौ वह नेम।
त्रिगुन तन करि लखत हमकौं, ब्रह्म मानत और॥[2]

उद्धव कट्टर अद्वैतवादी थे, ज्ञान के अतिरिक्त और कोई मार्ग स्वीकार नही करते। भक्ति (प्रेम) मार्ग का नाम सुनते ही विपरीत तर्क देना आरम्भ करते है—

यह अद्वैत दरसी रग।
... ...
प्रेम सुनि विपरीत भावत, होत है रस भग।[3]

---

१. सूरसागर, पद ४७२४
२. ,, ,, ४०३२
३. ,, ,, ४०३३

उद्धव योगी थे और योगियों की सगति में ही बैठते थे। उन्हे अपने ज्ञान का अभिमान भी था। ब्रह्म-ज्ञान और मिथ्याभिमान इनमे भरा है—

अति अभिमान करेगो मन मे जोगिनि की यह भाँति।
सूर स्याम यह निहचै करिकै, बैठत है मिलि पाँति ॥ [१]
... ...
जगत में यह सग देखौ वचन प्रति कहै ब्रह्म।
सूर ब्रज की कथा कासों कहौं, यह करै दभ ॥ [२]

इसीलिए जब-जब कृष्ण ब्रज-लीला या प्रेम की बाते करते, उद्धव अपने ज्ञानाभिमान के कारण कृष्ण का विरोध करते और उन्हे भी प्रेम की ओर से हटाने का प्रयत्न करते थे—

जब ब्रज की बातें इहि कहियत, तब ही तब उचटावत। [३]

जब श्रीकृष्ण जी ने ब्रज की बातें चलाईं तो उद्धव मुस्कराने लगे—

बार बार उसांस डारत कहत ब्रज की बात।
सूर प्रभु के वचन सुनि सुनि उपंग सुत मुसकात ॥ [४]

मुस्कराने तक ही बात न रही, कृष्ण के समक्ष अपना ज्ञान भी बघारने लगे—

हंसि उपंग सुत वचन बोले, कहा हरि पछितात।
सदा हित यह रहत नाहीं, सकल मिथ्या जात।
सूर-प्रभु यह सुनौ मोसौं, एक ही सौं नात ॥ [५]

कृष्ण ने उनके ज्ञान की प्रशसा की और निवेदन किया कि आप ब्रज जाकर ब्रजवासियो को ज्ञान दीजिए और इस प्रकार उनका दुख दूर कर दीजिए। यह सुनकर उद्धव का अभिमान और बढ गया। उन्होने समझा कि कृष्ण मेरे मत से आश्वस्त हो गये है और मेरे प्रति कृतज्ञ होगे यदि मैं ब्रजवासियो को ज्ञान दे दूँ—

ऊधो मन अभिमान बढ़ायौ।
जदुपति जोग जानि जिय साँचौ, नैन अकास चढ़ायौ। [६]

जाते समय अपना दावा भी पेश कर दिया कि दो दिन मे ही ब्रजवासियो का दुख दूर कर दूँगा—

तुम पठवत गोकुल को जैहौं
... ...
यह मिथ्या संसार सदाई, यह कहि कै उठि ऐहौं ॥
सूर दिना द्वै ब्रज-जन सुख दै, आइ चरन पुनि गैहौं ॥ [७]

---

१. सूरसागर, पद ४०३८
२. ,, ,, ४०३६
३. ,, ,, ४०३७
४. ,, ,, ४०४०
५. ,, ,, ४०४३
६. ,, ,, ४०४८
७. ,, ,, ४०४६

व्रज पहुँचने पर उद्धव मे मानवता के दर्शन होते है। जो उद्धव ज्ञान-गौरव से उन्नत मस्तक आये थे, वे गोपियो के बीच पहुचने पर उनके प्रेम-भाव को देख कर विह्वल हो गये—

प्रेम मगन ऊधौ भये, देखत ब्रज के भाइ।[1]

उद्धव ने फिर भी अपने ज्ञान के आधार पर अपने मन को वश में किया और वे अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हुए। उन्होने ब्रजवासियो को उपदेश करने की सोची और कृष्ण की पत्री निकाली। पत्री को देखकर गोपियों की जो दशा हुई उसे देखकर उद्धव का हृदय सहानुभूति से भर आया। वे स्वय पत्री पढने का प्रयास करने लगे, किन्तु भावातिरेक के कारण उनके लिए वह कार्य भी कठिन हो गया—

पाती बाँचि न आवई, रहे नैन जल पूरि।
देखि प्रेम गोपीन को, ज्ञान गरब गयौ दूरि।

फिर भी उन्होने अपने कर्तव्य और ज्ञान को स्मरण किया और जैसे-तैसे धैर्य-धारण किया—

फिरि इत उत बहराइ नीर नैननि को सोध्यौ।
ठानो कथा प्रमोधि बोलि सब घोष समोध्यौ।[2]

स्मरणीय है कि यही उद्धव जी नन्ददास के भंवरगीत मे पक्के ज्ञानी हैं, उन पर गोपियो का प्रेम-विभोर रूप कुछ भी प्रभाव नही डालता। वहाँ पर तो उद्धव कर्तव्य-कर्म मे बँधे आये और गोपियो को देखते ही बडी रुखाई से बोले कि मैं तो तुम सबको बडी देर से खोज रहा था। मैं तो कृष्ण का सदेश देकर शीघ्र ही मथुरा लौट जाना चाहता हूँ। उनके वचनो से प्रतीत होता है मानो वे संदेश के बोझ से थक रहे थे। उनकी कामना थी कि किसी प्रकार बोझ उतरे और वे कष्ट-मुक्त हो—

कहन स्याम सदेस एक हम तुम पै आयौ।
कहन समय संकेत कहूँ अवसर न पायौ।
सोचत ही मन में रह्यौ, कब पाऊं एक ठांव।
कहि सँदेश नन्दलाल को बहुरि मधुपुरी जाऊँ॥
सुनौ व्रज नागरी।[3]

कृष्ण के सदेश का नाम सुनकर गोपियाँ विह्वल हो गई। उन्हें रोमाच हुआ और अ ग-अ ग मे भावावेश इतना बढा कि वे मूर्छित होकर गिर पडी। इतने पर भी उद्धव पर कोई असर न हुआ और उन्होने जल का छीटा देकर उन्हे जगाया और उन्हे जगा देख कर उपदेश आरम्भ कर दिया—

वै तुमसे नहिं दूर ज्ञान की आँखिन देखौ।
अखिल विस्व भरपूर सबहिं उन माँहि विसेखौ।

कहाँ नन्ददास के इस प्रकार के ज्ञानी उद्धव और कहाँ सूर के सहृदय उद्धव!

यहाँ उद्धव ने अपने कर्तव्य का पालन भी किया। निर्गुण ब्रह्म और ज्ञान-योग का

---

१. सूरसागर, पद ४७१४
२. ,, ,, ४७१४
३. नंददास का भवरगीत

उपदेश प्रस्तुत कर दिया, किन्तु ज्योंही गोपियों ने अपने हृदयोद्गारों को प्रस्तुत करना आरम्भ किया, उद्धव जी श्रोता बन गये। एक दो-बार बड़े साहस से और बोले, किन्तु जैसे ही उनके उपालम्भों की बाढ आई, उसमे वे स्वय डूबने लगे और उनका ज्ञान बह गया। उन्होने अपनी दशा का सटीक वर्णन कृष्ण के समक्ष किया—

बातै सुनहु तौ स्याम सुनाऊ ।
जुवतिनि सौं कहि कथा जोग की, क्यौं न इतौ दुख पाऊँ।
हौं पचि एक कहौं निरगुन की, ताहू मैं अटकाऊँ।
वै उमड़े वारिधि के जल ज्यौं, क्यो हू पार न पाऊँ ॥ [1]

तथा—

हौं हूँ बूड़ि चल्यौ वा गहिरै, केतिक बुड़की खाई।
ना जानौं वह जोग वापुरौ, कहँ धौं गयौ गुसाई ॥ [2]

उद्धव जी का आमूल परिवर्तन हो गया। जो उद्धव कृष्ण के समक्ष भी उनके सगुण रूप को स्वीकार नही करते थे, वे ही व्रज मे सर्वत्र कृष्ण के साकार रूप का दर्शन करने लगे—

व्रज मै सभ्रम मोहि भयौ।
तुम्हरौ ज्ञान सँदेसो प्रभु जू, सबै जु भूलि गयौ।
तुमहीं सो वालक किसोर वपु, मैं घर-घर प्रति देख्यौ।
मुरलीधर घनस्याम मनोहर, अद्भुत नटवर पेख्यौ। [3]

इस प्रकार शुद्ध गोप रूप धारण करके उद्धव श्री कृष्ण के समक्ष आये और उन्होने जैसा कुछ व्रज मे देखा अक्षरश वर्णन किया। राधाजी का तो साक्षात् चित्र ही प्रस्तुत कर दिया और साग्रह निवेदन किया कि—

एक बेर व्रज जाहु देहु गोपिन दिखराई।
वृन्दावन सुख छाडि कै कहाँ बसे हो आइ। [4]

संक्षेप मे सूर-भ्रमरगीत मे उद्धव जी मे सहज मानवता के दर्शन होते हैं। उनमे सहृदयता पर्याप्त मात्रा मे है। यद्यपि वे तत्त्वज्ञानी थे तथापि कृष्ण-सखा होने के वे सच्चे अधिकारी थे। उनमे सौहार्द्र का मूल पहले ही से था, जिसे कृष्ण ने व्रज भेज कर पल्लवित किया। उनका चारित्रिक-विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है। भागवत के उद्धव जी ज्ञानी थे। वे जैसे व्रज गये थे, उसी प्रकार वापस भी आ गये। वहाँ भी उद्धव जी कृष्ण-सखा और कृष्ण-भक्त कहे गये हैं, किन्तु उसका सखात्व या भक्त रूप सर्वथा अस्पष्ट है। सूरदास जी ने जैसे उस अस्पष्ट तत्त्व का व्याख्यान कर दिया हो।

भ्रमरगीत के गौण पात्र—श्रीकृष्ण

राधा, गोपियाँ और उद्धव के अतिरिक्त जिनका उल्लेख भ्रमरगीत मे हुआ है, वे हैं श्रीकृष्ण, नन्द, यशोदा, देवकी और कुब्जा। श्रीकृष्ण जी भ्रमरगीत के आदि और अन्त मे

१. सूरसागर, पद ४७४५
२. ,, ,, ४७१६
३. ,, ,, ४७७१
४. ,, ,, ४७१४

ही मिलते हैं। आदि मे वे उद्धव के सखा हैं। मथुरा में उद्धव ही ऐसे हैं, जिनसे वे अपने मन की बात कह सकते है किन्तु ज्ञानी उद्धव का भाव जानकर उन्हे दुख होता है कि इनसे अपनी बात हम क्या करें—

सग मिलि कहौं कासौं बात।
यह तो कहत जोग की बांतै, जामैं रस जरि जात।[१]

अपनी इसी समस्या के समाधान तथा उद्धव के मत-परिवर्तन के हेतु वे उद्धव जी को व्रज भेजते हैं। सूरदास जी ने सयोग लीला मे भी उन्हे नटवर रूप दिया था। यहाँ भ्रमरगीत रूपी नाटक के कृष्ण सूत्रधार हैं। उन्हें परिणाम पहले ही ज्ञात था। इसीलिए जैसे ही उद्धव जी ने व्रजदशा का निवेदन किया, कि उनके नेत्रो मे अश्रु भर आये और अवरुद्ध कंठ मे व्यग्यपूर्वक कहा कि क्या आप गोपियो को जोग सिखा आये—

सूर स्याम भूतल परे, नैन रहे जल छाइ।
पोंछि पीत पट सौं कह्यौ, भले आये जोग सिखाइ।[२]

भाव-विभोर होकर कृष्ण जी कहने लगे कि मुझे तो एक क्षण के लिए भी व्रज तथा व्रजवासी नही भूलते। यहाँ का राज्य और स्वर्ण-नगरी अच्छे नही लगते। कहते-कहते कठावरोध हो गया और वे मौन हो गये—

ऊधौ मोहिं व्रज बिसरत नाहीं।
... ...
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगंत तन नाहीं।
अनगन भाँति करी बहुलीला, जसुदा नंद निवाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं।[३]

यशोदा

नन्द-यशोदा का उल्लेख भ्रमरगीत की भूमिका मे मिलता है। सूर वात्सल्य रस के सिद्ध कवीश्वर हैं। सयोग वात्सल्य का बहुत बड़ा विस्तार सूरसागर मे मिलता है। वियोग वात्सल्य भी वैसा ही हृदयस्पर्शी है। नन्द को लौटा देखकर यशोदा क्षुब्ध हो उठी। जिस माँ के नैनो का तारा छिन जायगा, वह क्या चुप बैठेगी? नन्द को देखते ही बरस पड़ी—मेरा कन्हैया कहाँ है? तुम उसके बिना कैसे आये? तुम्हारी छाती नही फटी? केवल आधी वात के कहने पर चल पडे और व्रज वापस आ गये आदि-आदि।

जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूटि न गई तुम्हारी चारौं, कैसै मारग सूझै॥
+ + +
धिक तुम धिक ये चरन अहो पति, अध बोलत उठि धाये।
सूर स्याम बिछुरन की हम पै, दैन बधाई आये।[४]

१. सूरसागर, पद ४०३४
२. ,, ,, ४७१४
३. ,, ,, ४७७६
४. ,, ,, ३७५३

कैसा स्वाभाविक कथन है । मातृ-हृदय की प्रतिक्रिया कितनी स्पष्ट है। तुलनीय है कौशल्या जिसका पुत्र राम वन जा रहा है । राम ने माँ को समाचार दिया और बताया कि किस प्रकार कैकेयी और राजा दशरथ ने उन्हे वन का राज्य दिया है । सुनते ही माँ चौक पड़ी किन्तु धीरज धर कर उसने कहा—

जो पितु मातु कहेउ वन जाना । तो कानन सत अवध समाना ।।

इस प्रकार कौशल्या जी ने राम के वनगमन की अनुमति दी । आदर्श की दृष्टि से निश्चय ही यह बहुत ही श्रेष्ठ रूप है, किन्तु मातृ-हृदय को दृष्टि मे रख कर यह बिल्कुल अस्वाभाविक और असम्भव है । मातृ-हृदय का तो सच्चा रूप वही है जो यशोदा का है। वह कहने लगी—चलते समय कृष्ण ने क्या कहा और उनके निष्ठुर वचनों को तुमने कैसे सहा, दशरथ की भाँति प्राण क्यो नही छोड़ दिये—

नंद हरि तुमसौं कहा कह्यौ ।
सुनि सुनि निठुर वचन मोहन के, कैसें हृदय रह्यौ ।
... ...
दरकि न गई वज्र की छाती, कत यह सूल सह्यौ ।
. ...
तजे न प्रान सूर दशरथ लौं, हुतौ जन्म निबह्यौ ।[1]

यशोदा जी देवकी को सदेशा भेजती हैं और व्यग्य से अपने मातृ-वियोग की वेदना व्यक्त करती हैं—

हौं तो धाइ तिहारो सुत की मया करत ही रहियो ।

साथ ही यह भी कहलाना नही भूलती कि उनके लाल को माखन रोटी भाती है और वह संकोच के कारण न मांगता होगा—

प्रात होत मेरे लाल लड़ैतें माखन रोटी भावै ।
+ + +
मेरो अलक लड़ैतो मोहन, ह्वै है करत संकोच ।[2]

उद्धव जी ने यशोदा को कृष्ण का सदेशा अक्षरशः सुना दिया—

कह्यौ कान्ह सुनि जसुदा मैया ।
आवहिंगे दिन चारि पांच म, हम हलधर दोउ भैया ।
... ...
जा दिन तै हम तुमसों बिछुरे काहु न कह्यौ कन्हैया ।।[3]

यह सुनकर माँ विह्वल हो उठी और वोली—

ऊधौ कहौ सांची बात ।
दधि मह्यो नवनीत माधव, कौन के घर खात ।
... ...
इतौ बूझत माइ जसुमति, परी मुरछित गात ।[4]

---

१. सूरसागर, पद ३७५४
२. „ „ ३७६४
३. „ „ ४०६२
४. „ „ ४०६४

नन्द

नन्द का उल्लेख कम हुआ है। यशोदा को प्रत्युत्तर वे नहीं देते। नन्द जी में भावुकता कम है। वे अल्पभाषी और धैर्यवान हैं। उद्धव जी के आने पर वे पूछते है कि क्या वे कभी हमारी याद करते हैं? उन्हे इस बात का पछतावा अवश्य रहता है कि परब्रह्म के अवतार कृष्ण को अपने यहाँ पाकर वे वैसी श्रद्धा उन्हे न दे सके—

कबहुँ सुधि करत गुपाल हमारी।

... ...

बहुतै चूक परी अनजानत, कहा अबकै पछिताने।
बासुदेव घर भीतर आये, मै अहीर करि जाने।[1]

यदि वे वैसा जानते तो उनकी कुछ सेवा अवश्य करते—

हमतैं कछु सेवा न भई।
धोखैं ही धोखैं जु रहे हम, जाने नाहि त्रिलोकमई।[2]

कुब्जा

कुब्जा का अधिकाश उल्लेख गोपियों की ईर्ष्यामूलक उक्तियो मे हुआ है। गोपियों ने ज्यो ही सुना कि कृष्ण ने कुब्जा पर कृपा की है, वे कुब्जा को बुरा-भला कहने लगी। कुब्जा नृप की दासी है, महल के निकट एक माली की बेटी है, कुटिल, कुचील, कुदर्शन और कुबरी है। सुना है कृष्ण ने उसे सुन्दरी बना दिया, किन्तु कोई कोटि बार पीतल को अग्नि मे जलाये और कसौटी पर कसे, भला कभी वह कचन होगा? किन्तु हो भी क्या सकता है—

महल निकट माली की बेटी, देखत जिन्ह नर-नारि हँसै।
कोटि बार पीतरि जो दाहौ, कोटि बार जो कहा कसै।
सुनियत ताहि सुन्दरी कीन्ही, आपु भए ताकौं राजी।
सूर मिलै मन जाहि जाहि सौ ताकौ कहा करै काजी।[3]

कृष्ण-कुब्जा सग को वे अत्यन्त ही अनमेल बताती हैं और हस-काग तथा लहसुन और कपूर की सगति से उपमा देती है—

जैसे काग हंस की सगति, लहसुन सग कपूर।
जैसें कंचन कांच बराबरि, गेरु काम सिंदूर।[4]

कुब्जा की कुरूपता ही गोपियो के घृणामूलक उपहास का आधार है—

हम तौ सब गुन आगरी, कुबिजा कूबर बाढ़ि।
कहौ तौ हमहूं लै चलैं, पाछै कूबर काढ़ि॥[5]

कुब्जा भाग्यशालिनी है, तभी तो कहाँ तो कृष्ण और कहाँ कस की दासी?

---

१. सूरसागर, पद ४०९१
२. ,, ,, ४०९३
३. ,, ,, ३७६६
४ ,, ,, ३७७१
५. ,, ,, ३७७४

सुनि सुनि ऊधौ आवति हांसी।
कहँ वै ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहाँ कस की दासी।[1]

कुब्जा बड़भागिनी है, किन्तु उसके इस सौभाग्य का कारण उसकी पिछली तपस्या ही है—

सुफल भयौ पाछिलौ तप कीन्हौ, लखि सुरूप रति भाजी।
जग के प्रभु बस किये सूर, सिर सकल सुहागिन गाजी।[2]

गोपियां ईर्ष्या-भाव से कुब्जा पर व्यग्य-बाण चलाती रही, किन्तु कुब्जा मे सहृदयता का अभाव नही है। वह कृष्ण-प्रिया है, उसका स्वरूप भले ही कुदर्शन है, किन्तु उसके हृदय मे उदारता, शिष्टता, माधुर्य और दैन्य भरा है। वह सुनती है कि गोपियां उससे रुष्ट है, उसके सुख-सुहाग को देख नही सकती। निर्दोष होते हुए भी उस पर गोपिया अनेक कटुवचनो के बाण चला रही है। कुब्जा ने उत्तर मे बडा ही विनम्र और सौहार्द-पूर्ण पत्र भेजा—

हम पर काहे फुकति ब्रजनारी।
साझै भाग नहीं काहू कौ, हरि की कृपा निनारी।
\+ \+ \+
फलनि माँझ ज्यों करुई तोमरी, रहत घुरे पर डारी।
अब तौ हाथ परी जन्री के, बाजत राग दुलारी।[3]

घूरे पर पडी रहने वाली तुमडी के समान वह तो तुच्छातितुच्छ थी, उसकी अपनी कोई विशेषता नही। वह तो प्रभु की कृपा ही थी, जिसने इस प्रकार की निकृष्ट वस्तु को ऐसा रूप दिया कि उसमे अत्यन्त सुरीला स्वर उत्पन्न हो गया। मेरे इस सौभाग्य में किसी का क्या साझा?

निष्कर्ष

भ्रमरगीत के सभी पात्रो मे सहृदयता, भावुकता, दैन्य और औदार्य की मिठास है। गोपियो का चटकीलापन उसमे लावण्य उत्पन्न करता है। जिस प्रकार विरह-ताप प्रेम-कचन की काति को चौगुनी करता है, उसी प्रकार गोपियो का अमर्ष, औग्र्य, औद्धत्य भ्रमरगीत के भाव-पक्ष को और भी सरस और सर्वांगीण करते हैं। भ्रमरगीत काव्य-कल्पना और काव्य-कला का अनूठा स्थल है। इसमे कलात्मकता की करामातें भरी पडी हैं, वक्रोक्तियो का अक्षय भण्डार है, किन्तु सबके मूल मे भाव-तत्त्व ही वर्तमान है। सहजानुभूति की कमनीयता ही अभिव्यजना कला का रूप ले लेती है। भ्रमरगीत के पात्रो की भावमयता ही उनके आकर्षण और वैलक्षण्य की मूल है।

---

१. सूरसागर, पद ४७६२
२. ,, ,, ४२६७
३. ,, ,, ४०६३

: ४ :

काव्यरूप–गीतिकाव्य

काव्यरूप

काव्य के दो भेद है—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध मे शृ खलाबद्ध कथा और पदों मे पूर्वापर सम्बन्ध की अनिवार्यता होती है। मुक्तक मे अल्पकालीन अनुभूति सम्बन्धी स्वतन्त्र पद होते हैं। एक पद का दूसरे मे सम्बन्ध आवश्यक नही होता। मुक्तक का ही एक रूप गीति-काव्य होता है। गीत हृदय की सुख-दु.खात्मक आत्मकहानी का रागात्मक शब्द-रूप है। उसमे स्वत निस्सृत नैसर्गिक भाव एक प्रवाह मे बहता है। गीत मे कवि किसी योजनाबद्ध विचारधारा का प्रकाशन नही करता। जो वह प्रकट नही करना चाहता, वही स्वतः फूट निकलता है। गीत मे विचार कम, भाव अधिक होते हैं और वे भी अन्त प्रेरणा के सहज समुच्छ्-वसित रूपमात्र होते है। इस प्रकार सुखानुभूति यद्यपि गीत का विषय बन तो पाती है, किन्तु वेदना, कसक और दर्द के अन्यतम विषय बनते हैं जिनके प्रकाशन का एकमात्र रूप गीत है। गीतो मे कृत्रिमता और बाह्य-प्रसाधनो को अवकाश नही मिलता। विचार और चिन्तन स्थान नही पाते। कलात्मकता, तथ्य-निरूपण और चित्राकन की मनोवृत्ति चल नही पाती। हृदय फूट-फूट कर एक ही विषय के इर्द-गिर्द बहता रहता है। गीत का बाह्य रूप गेय होता है। वेदनामय सहजानुभूति का व्यक्तीकरण गेय पदावली के अतिरिक्त और रूपो मे हो नही सकता। विश्व भर के लोकगीत इस तथ्य के प्रमाण हैं। मनोभावाभिव्यजक शब्दावली, जो भाषा की प्राचीनतम संपत्ति है, गेय रूप मे ही समुद्भासित हुई थी। लय प्रधान गेय रूप ही हृदय की वाणी है। साराश यह है कि गीत की आत्मा, कवि की व्यक्तिगत सहजानुभूति और उसका शरीर गेय पदावली है।

समस्त सूर-सागर गीतिकाव्य के अन्दर ही परिगणित होता है, यद्यपि उसमे आदि से अन्त तक कथात्मकता मिलती है। कवि की व्यक्तिगत सहजानुभूति का प्रत्यक्ष रूप केवल विनय पदो मे या पदो की अन्तिम पक्तियो मे ही प्रतिभासित होता है। केवल गेय-पद शैली के आधार पर किसी काव्य को शुद्ध गीति-काव्य नही माना जा सकता। सूरसागर को शुद्ध गीति-काव्य नही माना जा सकता। सूरसागर का गीतिकाव्य केवल इसलिए माना जाता है कि उसके पदो मे पूर्वापर सम्बन्ध की अनिवार्यता नही है, पद सदर्भानुसार वर्णनात्मक कथा के अ ग होते हुए भी अपने आप मे स्वतत्र हैं और अपने स्पष्टीकरण के लिए पूर्वपद के मुखापेक्षी नही हैं। दूसरी बात यह है कि सूरसागर मे वर्ण्य-विषय का सकोच है, विषय के एक ही केन्द्र-बिन्दु पर कथावृत्तो का घूर्णन होता रहता है और वर्ण्यवृत्त इति से अथ और अथ से इति पर चलता रहता है। इतना होने पर भी कथा निर्बाध गति से चलती रहती है।

अतः सूरसागर शुद्ध गीति-काव्य नहीं है, वर्णनात्मक गीति-काव्य है, जिसमे प्रबन्ध, मुक्तक और गीति-काव्य का अद्भुत मिश्रण है।

भ्रमरगीत, काव्यरूप की दृष्टि से, शेष सूरसागर से कुछ भिन्न है। भागवत का भ्रमर-गीत शुद्ध गीत है। एक गोपी भ्रमर को देखकर फूट पडती है। सूरदास जी ने भ्रमरगीत मे एक लघु कथानक उपस्थित किया है, जिसका विस्तृत विवेचन कथानक प्रकरण मे किया गया है। फिर भी यदि भ्रमरगीत का वैज्ञानिक परीक्षण किया जाय तो अधिकाश पद वेदना, आक्रोश, अपमान, ईर्ष्या, स्मृति, आवेग, मति, विषाद, पश्चात्ताप आदि के स्वतंत्र व्यक्तीकरण ही हैं। भ्रमरगीत के तीन प्रमुख अ श है—भूमिका, उपालम्भ और कृष्ण-प्रति उद्धव-कथन। भूमिका में गोपियो का विरह, पावस-प्रसंग, पथिक-सँदेश आदि हैं। इस अंश के सबके सब पद शुद्ध गीत है। इनमे कोई कथात्मकता नही मिलती। इनमे गोपियो की मनोदशा, विरह-ताप, उद्वेग, अभिलाषा, चिंता और आशा आदि के प्रत्यक्ष और स्वतन्त्र निवेदन सर्वथा मुक्त पदो मे प्रस्तुत किये गये हैं जैसे—

करि गए थोरे दिन की प्रीति।
कहँ वह प्रीति कहाँ यह बिछुरनि कहँ मधुबन की रीति।
अब की बेर मिलौ मनमोहन बहुत भई विपरीति।
कैसे प्रान रहत दरसन बिनु, मनहु गए जुग बीति।
कृपा करहु गिरिधर हम ऊपर, प्रेम रह्यौ तन जीति।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, भई भुस पर की भीति।[1]

+ + +

सबै ऋतु औरै लागति आहि।
सुनि सखि वा ब्रजराज बिना सब, फीकौ लागत चाहि।
वै घन देखि नैन बरसत हैं, पावस गएं सिरात।
सरद सनेह सँचै सरिता उर, मारग ह्वै जल जात।
... ...
षट रितु ह्वै इक ठाम कियौ तनु उठे त्रिदोष जुरे।
सूर अवधि उपचार आजु लौं, राखे प्रान भुरे।[2]

उपालंभ मे गोपियो के उद्गार सम्बन्धी पद सर्वथा मुक्त हैं। प्रश्नोत्तर या कथोप-कथन का साधारण रूप उसमे नही मिलता। भ्रमरगीत सक्षेप के रूप मे जो तीन वर्णनात्मक पद हैं, उन्हें छोड़कर कही भी न तो पूर्वापर सम्बन्ध की अपेक्षा है और न सुनियोजित तर्क-प्रणाली की अवस्थिति है। बिना किसी क्रम के वे मधुप, मधुकर, अलि या ऊधो के सम्बोधन द्वारा अपने अन्तस्तल की वेदना का निवेदन करती है। जैसे—

मधुकर स्याम कहा हित जानै।
कोऊ प्रीति करै कैसै हू वह अपनो गुन ठानै।
देखौ या जलधर की करनी, बरसत पोषै आनै।
चातक सदा चरन कौ सेवक, दुखित बिना जल पानै।

१. सूरसागर, पद ३८०३
२. „ „ ३९६४

भँवर भुजंग काक कोकिल कौं, कविगन कपट बखानै।
सूरदास सरवस जौ दीजै, कारौ कृतहिं न मानै।[1]

स्पष्ट है, उपर्युक्त पद में प्रीति का प्रतिदान न पाने की प्रतिक्रिया तथा प्रियतम की कठोरता का ही चित्रण है। न इसमे कोई तथ्य निरूपण है, न चिन्तन, न कोई संदर्भ। उद्धव का सम्बोधन अवश्य है पर उससे पद की रागात्मकता मे कोई अन्तर नही आता।

ऐसे पद, जिनमे योग की चर्चा है, उसमे भी न तो योग सम्बन्धी तथ्य-निरूपण है और न किसी सदर्भ विशेष का उत्तर। योग का सामान्य उल्लेखमात्र रागात्मक उपालंभ मे किसी प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न नही करता। जैसे—

ऊधौ जोग किधौं यह हाँसी।
कीन्हीं प्रीति हमारे ब्रज सौं, दई प्रेम की फाँसी।
तुम हौ बड़े जोग के पालक, सग लिए कुबिजा सी।
सूरदास सोई पै जानै, जा उर लागै गाँसी।[2]

पद मे योग विषय पर कोई प्रत्युत्तर नही है। इसमे तो कहा गया है कि कृष्ण ने प्रेम करके हमे किस विषम-स्थिति मे डाल दिया। स्वय तो कुब्जा के साथ रमण कर रहे हैं और हम विरह के उस दुख को भोग रही हैं, जिसे वही जानता है, जो विरही होता है।

भ्रमरगीत का उपसंहार उद्धव द्वारा कृष्ण प्रति ब्रजदशा-निवेदन है। यहाँ पर भी उद्धव के अन्तस्थल का सहजोद्गार ही मिलता है। उद्धव गोपियो या राधा के सदेश-वाहक के रूप मे नही, वरन् स्वय इतने द्रवीभूत है कि राधा का दुख-निवेदन करते हुए उन्हें तृप्ति ही नही होती। बार-बार एक ही बात को कहते और भाव-विभोर होते हैं—

हरि जू, सुनहु वचन सुजान।
बिरह व्याकुल छीन तन-मन हीन लोचन-कान।
यहै है सदेश ब्रज कौ नाथ सुनहु निदान।
... ...
करि जतन कछु सूर के प्रभु, ज्यौं जियै ब्रज बाल।[3]

उपालंभ, जिसमें हृदय की सच्ची और सीधी अभिव्यक्ति है, जिसकी कटूक्तियो मे भी दिल का रोदन सुनाई पडता है, भ्रमरगीत का मुख्य वर्ण्यविषय है। भ्रमरगीत की विरहानुभूति गीतिकाव्य के लिए सर्वाधिक अनुकूल विषय है। १०३३ पदो की विस्तीर्ण परिधि में एक ही भावधारा का निर्बाध प्रवाह मिलता है। भ्रमरगीत मे गोपियो के रूप में भक्त-कवि की अन्तरात्मा ही बोलती है। सूरदास जी विरह-सुख को परमानन्द मानते है। प्रभु के माध्यम से सयोग के विविध सुखो का चूडान्त आनन्दोपभोग के उपरान्त उन्होने विरह-वेदना की काव्यात्मक अनुभूति का भरपेट आस्वादन किया। प्रत्येक पद मे साधनात्मक योग की खिल्ली उडाते हुए रागात्मक भक्ति के लोक-व्यवहारानुरूप पद्धतियों का सरस चित्रण

१. सूरसागर, पद ४३६६
२. ,, ,, ४३२६
३. ,, ,, ४७१६

किया है। सारांश यह है कि प्रत्यक्ष पद्धति न होते हुए भी भ्रमरगीत मे कवि की वैयक्तिक स्वानुभूति का प्रतिफलन प्रमुख रूप से मिलता है।

अन्विति

रागात्मक अन्विति गीत-रचना का मूल-मन्त्र है। प्रत्येक पद में एक ही विचार-बिन्दु तैल-बिन्दु की भाँति परिधि की ओर प्रसरित होता और पर-हृदयाकाश को स्पर्श करता है। विचारैक्य ही उसे अपने मे पूर्ण बनाता है, उसमे पूर्वापर की अपेक्षा नही होती। विचारो की बौद्धिकता और इतिवृत्तात्मकता का अभाव होता है। जिन पदो मे प्रथम पंक्ति विचार-प्रधानता को इंगित करती है, वे भी भाव-प्रधान ही होते है। जैसे—

देन आये ऊधौ मत नीको।
आवहु री मिलि सुनहु सयानी, लेहु सुजस को टीकौ।
तजन कहत अम्बर आभूषन, गेह नेह सुत नीकौ।
अंग भसम करि सीस जटा धरि, सिखवत निर्गुन फीकौ।
मेरे जान यहै जुवतिन कौ, देत फिरत दु:ख पी कौ।
ता सराप तै भयो स्याम तन, तऊ न गहत डर जी कौ।
जाकी प्रकृति परी जिय जैसी, सोच न भली बुरी कौं।
जैसे सूर व्याल रस चाखै, मुख नहिं होत अमी कौं।[1]

प्रथम पक्ति मे मत की ओर सकेत है, किन्तु मत प्रधान न होकर 'नीकौ' शब्द का व्यग्य ही प्रमुख है कि सयानी नारियो के लिए कैसा सुन्दर उपदेश है। वस्त्र, आंभूषण, गृह और सुत-स्नेह का त्याग कितना उपयोगी और मूल्यवान परामर्श है। प्रथम पक्ति के 'नीको मत' का व्याख्यान दूसरी पक्ति मे 'सुजस को टीकौ' के रूप मे, तृतीय पक्ति मे अम्बर आभूषण आदि के त्याग के रूप मे चतुर्थ पक्ति मे अंग-भस्म और सीस जटा के रूप मे और पाँचवीं में पति छोड़ने के रूप मे बढता जाता है। आगे की पंक्तियों मे उस 'नीकौ मत' की प्रतिक्रिया व्यक्त हो जाती है और वे शाप ही देने लगती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पद मे विचार के स्थान पर भाव की प्रधानता है और एक ही भाव विभिन्न पक्तियो में लक्षणा और व्यजना द्वारा भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रकट किया गया है। योग का वस्तुगत आधार व्याजमात्र है, प्रतिपाद्य तो प्रेमी के कठोर व्यवहार के विरोध मे प्रतिवेदन है। हर पंक्ति के शब्द प्रथम पंक्ति के केन्द्रीय भाव की ही पुष्टि करते हैं।

कुछ ऐसे पद भी मिलते हैं, जिनका आकार बड़ा है और उनमें तथ्य-कथन अधिक मात्रा में है। इस प्रकार के पदो में भी अन्विति का निर्वाह पूर्णरूपेण है, तथ्य भाव-पोषक है। सूरदास जी की कवि-कल्पना जब कुलाचें भरती है तो सागरूपक अपने अंग-प्रत्यगो के विस्तार मे वृहदाकार हो जाता है। ऐसा होने पर जब तक रूपक के अंगागो की परिगणना होती है तब तक भाव-संकोच दीख पड़ता है, किन्तु रूपक की अन्तिम परिसमाप्ति अन्विति को प्रगाढ़ कर देती है और पद अपनी पूर्व स्थिति मे आ जाता है। पदगत सारी तथ्यात्मकता और विचार-बवंडर विलीन हो जाता है। जैसे—

---
१. सूरसागर, पद ४१३३

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यो ।[1]

सोलह पंक्तियो के इस पद मे आराधना का सागरूपक प्रस्तुत किया गया है। मानापमान से निवृत्ति, परमपरितोष वृत्ति, मन-संयम, आसन, प्राणायाम, पचाग्नि, समाधि, त्रिकुटी-त्राटक, अनहद नाद, चन्द्र सूर्य मिलन और ब्रह्मानन्द-प्राप्ति के साथ प्रेम के सभी अंगो का मेल प्रस्तुत किया गया है। इस प्रक्रिया मे तथ्य-निरूपण अधिक है, किन्तु यह सब विरह की कठिनाइयो को और अधिक सशक्त रूप से व्यक्त करने मे समर्थ होते हैं। इस प्रकार रागात्मक अन्विति मे किसी प्रकार की विकृति नही आती। इस प्रकार के पद भ्रमरगीत मे कम संख्या मे हैं भी।

गेयत्व

सूरदास जी सगीतज्ञ कवि हैं। उन्होंने अपने पदो की रचना कीर्तन के क्रम मे की है। इस प्रकार पदो मे स्वर-लहरियो का वैभव स्वाभाविक है। संगीत-योजना के कारण भ्रमरगीत के पदो का गेयत्व निर्विवाद है। फिर भी भ्रमरगीत के पदो के ऊपर निर्दिष्ट रागो पर स्थूल दृष्टि डालने पर लगता है कि पदो के विषयो और रागो का भी कुछ भाव-साम्य है। भ्रमरगीत मे मलार का प्रयोग सर्वाधिक है। उद्धव-आगमन से पूर्व पावस-प्रसंग आता है। मलार, जो वर्षाकालीन राग है, विषय के अनुकूल है। साथ ही जिन गोपियो के नैन निश-दिन बरस रहे थे, उनके लिए सदा ही पावस ऋतु थी। उनमे मलार-गान अपने आप स्वाभाविक लगता है। उद्धव के आने पर भी मलार राग का प्रयोग बहुत है। यहाँ भी दशा वही है। सदेश सुनकर उनके धीरज का बाँध टूट जाता है और आँसुओ की झडी लग जाती है। इस सदर्भ मे केवल एक पद का उदाहरण पर्याप्त होगा—

राग मलार

कमलनैन की अवधि सिरानी अजहूँ भयौ न आवन।
निसि वासर को सगुन मनावति मिलहु कृपा करि भावन।
सबै स्वदेश विदेसी आए, वृच्छ पखेरू छावन।
मानौ विरह विवाहन आयो, क्रीड़ा मगल गावन॥
ता महँ मोर घटा घन गरजहिं, सग मिले तिहिं सावन।
भरि भादौं वे छाइ गोपपति, नारिनि दु ख बिसरावन॥[2]

स्पष्ट है, पद मे विरह के रूप मे वर्षा ऋतु का आगमन प्रस्तुत किया गया है। पद मे मलार राग का उल्लेख इस प्रकार विषयानुकूल ही है।

योग को लेकर जो विवाद छिडता है, उससे क्षोभ के कारण गोपियो का दर्द उभरता है। उनके स्वभाव मे क्षणिक उग्रता आ जाती है इसलिए तीखे और कठोर स्वरो वाले मारू जैसे राग प्रयुक्त होते है।

---

१. सूरसागर, पद ४१४६
२. ,, ,, ४२८०

राग मारू

हरि मुख देखे ही परतीति।
जो तुम कोटि भाँति परमोधौ, जोग ध्यान की रीति॥
नाहीं कछू समान ज्ञान मैं, यह नीकै हम जानै।
कहौ कहा कहिऐ अनुभव कौं, कैसे सत मै आनै॥
यह मन एक, एक वह मूरति, भृंगी कीट समानै।
सूर सपथ दै ऊधौ पूछौ, इहि विधि कौन सयानै॥[1]

गोपियों की विवशता और कारुणिक दशा के कारण ऐसे रागो का भी अधिक प्रयोग मिलता है, जिनके स्वरो मे गाम्भीर्य और दर्द का तीखापन प्रतीत होता है। ऐसे राग हैं—केदारो, विहाग, कान्हरा, धनाश्री, कल्याण, आसावरी, सोरठ, ईमन और रामकली। भ्रमरगीत मे इन रागो के प्रयोग से भावो की द्रवणशीलता बढ़ाई गई है। जैसे—

राग आसावरी

जा दिन तै गोपाल चले।
ता दिन तै ऊधौ या व्रज में, सब स्वभाव बदले।
घटे अहार बिहार हरष हित, सुख सोभा गुन गान।
अंग तेज सब रहित सकल विधि, आरति असम समान।
... ...
अब यह दसा प्रगट या तन की कहियो जाइ सुनाइ।
सूरदास प्रभु सो कीजौ जिहिं, वेग मिलहिं हरि आइ॥[2]

भ्रमरगीत मे माधुर्य और प्रसाद गुणो की प्रधानता है। कोमलकान्त पदावली गीत की भावधारा से मिल जाती है। चयन की कोई आवश्यकता नही। कोई भी पद उठायें, शब्दावली का माधुर्य और सौकुमार्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। 'नैनन नदन ध्यान', 'अंखियां हरि दरसन की प्यासी', 'नैननि उहै रूप जो देखै।' 'रहुरे मधु मधुकर मतवारे', 'मधुकर स्याम हमारे चोर', 'मधुकर दीनी प्रीति दिखाई' आदि सब मे प्रसाद गुण और मधुर पदावली मिलती है। जिस प्रकार गोपियो के हृदय की द्रवणशीलता पदगत अर्थ मे मिलती है और जिस प्रकार स्वरो की मधुरिमा वेदना को वढाने वाली हैं, उसी प्रकार शब्दो की कोमलकान्तता भाव-ध्वनन की सहायक होती है। जैसे—

ऊधौ इन नैननि अजन देहु।
आनहु क्यौं न श्याम रँग काजर, जासो जुर्यौ सनेहु।
तपति रहति निसि वासर मधुकर, नहिं सुहात बन गेहु।
जैसे मीन मरत जल विछुरत, कहा कहौं दुख एहु।
सब विधि वानि ठानि करि राख्यौ, खरि कपूर कौ रेहु।
वारक स्याम मिलाइ सूर सुनि, क्यौं न सुजस जग लेहु॥[3]

---

१. सूरसागर, पद ४४२१
२. ,, ,, ४२९३
३. ,, ,, ४२९२

पद की समासरहित ऋजु शब्दावली प्रसाद गुण भर रही है। एक भी शब्द न तो कठिन है और न कर्णकटु। केवल एक वर्ण 'ठ' कठोर कहा जा सकता है, किन्तु दो 'नि' के बीच मे होने से उसकी कटुता लुप्त हो गई है। 'र' को भी कठोर वर्णो मे ही परिगणित किया जाता है, किन्तु इस पद मे 'र' सहज मार्दव को बढ़ाने वाला है। जिन वर्णो का पद मे सर्वाधिक प्रयोग है और जो सारे पद की ध्वनियो पर छाये हैं, वे है न, स, म, ज। इनकी मधुर-ध्वनि भाव-ध्वनि से साम्य ही रखती हैं। यही सिद्ध कवि का अन्त सगीत है जो पद के गेयत्व मे चार चाँद लगा देता है।

कही-कही सूरदास जी ने कठोर वर्णों के अपेक्षाकृत आधिक्य से प्रसगानुकूल क्षोभ को बढाने का सफल प्रयत्न किया है। जैसे—

राग सोरठ

ऊधौ प्रीति नई नित मीठी।
आधुन जाइ मधुपुरी छाए, हमकौ जोग बसीठी।
काटे ऊपर लौन लगावत, लिखि लिखि पठवत चीठी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, जरि जरि भई अँगीठी ॥[1]

ठकार की आवृत्ति, 'काटे ऊपर लौन' का मुहावरा, 'जरि जरि भई अंगीठी' की उपमा और सोरठ राग की सगति गेयत्व मे कलात्मक प्रदीप्ति उत्पन्न कर रहे हैं।

भ्रमरगीत के प्रत्येक पद मे मधुप, मधुकर, ऊधौ, अलि रे, सुनि रे, माई, सजनी, देखी री माई, सम्बोधन मिलते है। इनसे पद के गेयत्व मे लोकगीतो की सहज ध्वनि सुनाई पड़ती है। सोहर, सावन, होरी, बिरहा, कजली, रसिया आदि ग्राम-गीतो मे प्राय. सम्बोधन होता है। यह पुकार अनगढ आलाप को अवसर देता है और सहज, अनूठी और अकृत्रिम भावमयता को उभारता है। ग्रामगीतो की मिठास अपनी होती है, शास्त्रीय सगीत अथवा काव्य मे उसे अवसर नही मिलता। सूर की पद-योजना की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि शास्त्रीय सगीत के स्वरो तथा परिमार्जित एवं अलकृत काव्य-भाषा होते हुए भी लोकगीतो का सहज माधुर्य सुरक्षित है। भ्रमरगीत मे सूर की यह कला सबसे अधिक सजग है, इसीलिए भ्रमरगीत का गेयत्व सबसे अधिक चित्ताकर्षक और गम्भीर प्रभाव उत्पन्न करने वाला है।

इस प्रकार भ्रमरगीत का वर्ण्य-विषय तथा उसकी शैली गीतिकाव्य के सर्वथा अनुरूप है। समस्त भ्रमरगीत मे कुछ विवरणात्मक पद अवश्य ऐसे है जिनमे गीतिकाव्य के उपर्युक्त गुण उपलब्ध नही होते। इन पदो मे चार पद (४१०२, ४१०३, ४३०३, ४४८४) उद्धव के वचन हैं तथा पाँच पदो (४६६७-६८, ४७११-१२, ४७१३) मे भ्रमरगीत सक्षेप मे गाया गया है। इन सब पदो का वाह्याकार भी गीत के स्वरो मे आवद्ध है। सक्षिप्त भ्रमरगीत मे छन्दात्मक रूप मिलता है। इनमे गीतिकाव्य की आत्मा के दर्शन नही होते। अत. इन्हे छोड़कर शेष भ्रमरगीत गीतकाव्य की कसौटी पर खरा उतरता है और हिन्दी-काव्य मे एक ही स्थल पर गीतिकाव्य की चुनी हुई अनमोल रत्न-राशि है।

---

१. सूरसागर, पद ४१६१

: ५ :

अलंकार

अलंकार और रस

अलकार और रस का निरन्तर सम्बन्ध है ।[१] महाकवि के लिए रस और अलकार पृथक्-पृथक् प्रयत्न से अर्जित नही होते, एक ही प्रयत्न से दोनो की सिद्धि स्वत: हो जाती है ।[२] इस प्रकार रससिद्ध कवीश्वर की कल्पना, रस-सृष्टि की प्रक्रिया मे स्वत' प्रादुर्भूत होती रहती है । अलंकार इस प्रकार काव्य के बाह्य सौन्दर्य-प्रसाधन मात्र नहीं हैं, काव्यात्मा के भी शोभाकारक है । सूरदास जैसे कवि की रचना मे अलकार केवल हार, कगन आदि बाहर से सजाये जाने वाले आभूषणो की भाँति नही आये । कवि-कल्पना की सजग अवस्था मे रस और अलकार संपृक्त रूप मे प्रकट हुए है । सूरदास के काव्य मे रस की धारा बही है, उसमे अलकारों की तरगें उछलती गयी हैं । अलकार बहुल सूर-काव्य को दृष्टि मे रखते हुए आनन्दवर्धन की यह उक्ति कितनी चरितार्थ होती है कि "प्रतिभाशाली कवि के रस समाहित चित्त मे से अलकार समूह होड़ा-होड़ी करके स्वत. अभिव्यक्त होते हैं ।"[३]

भ्रमरगीत मे प्रधानता रस की है । रसात्मक उक्तियाँ स्वत. अलकृत हो उठी हैं । रसावेश मे कवि-कल्पना सजग हो उठी है । उक्तियो मे भाव-प्रेरित वक्रता का इतना अधिक समावेश हो गया है कि अनेक बार लगता है कि कवि अलकारो की ओर सचेष्ट है । पदो मे अलंकारो की लडिया गुम्फित मिलती है । इतना अवश्य है कि अलंकार रस का उपकार सर्वत्र करने हैं, अलकारिता भावो को अधिक सशक्त करती है । लम्बे सागरूपक और गगन-चुम्बी उत्प्रेक्षाएँ विरहानुभूति को मूर्त करने के साधन ही सिद्ध होती हैं । अलकारो की चमत्कारिता, प्रमुख होते हुए भी, मूल भाव को आच्छादित नही करती, बल्कि वह तो भावो को और भी मूर्त रूप देने में सहायक होती है । भ्रमरगीत के समस्त पदों का सिंहावलोकन करने पर ज्ञात होता है कि उसकी अधिकाश पक्तियाँ अलकृत है, जिनमे कुछ को

---

१. अलकृतमसक्षिप्त रसभावनिरंतर—दडी—काव्यादर्श १।१८

२. रसाक्षिप्ततया यस्य वन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथक् यत्न निर्वर्त्यः सोऽलकारो ध्वनो मत —ध्वन्यालोक २।१६

३. अलकरणान्तराणि ˙ रससमाहित चेतस.
प्रतिभावतै कवेरहस्पूर्विकयापरायतान्ति ।—ध्वन्यालोक २।१६ वृत्ति

अलंकार शास्त्र-विहित अलकारो में रखा जा सकता है। किन्तु शेष के लिए अलकार निर्धारण कठिन हो जाता है। इसका कारण यही है कि भ्रमरगीत मे अलंकृति केवल बाह्याकार मे नही है, वरन् काव्यात्मा मे ही है।

सादृश्यमूलक

सूरदास के अलंकार-विधान मे सादृश्यमूलक अलकार सर्वाधिक हैं। कारण यह है कि सादृश्यमूलक अलकारो का सम्बन्ध रस से बिल्कुल सीधा है। वर्ण्य के सम्बन्ध से जिस रसानन्द की उपलब्धि होती है उसके प्रकाशन के लिए उपमान ही सहायक होते हैं। उल्लसित मन मे अंकित अरूप सौदर्य का व्यक्तीकरण कैसे हो? लोक मे प्राप्त असख्य वस्तुओं के व्यवहार का माध्यम आशिक रूप से सम्बल होता है। फिर भी सादृश्य-विधान अनुभूति को पूर्णतया प्रतिफलित नही करता। इसलिए कवि एक भाव को प्रकट करने के लिए अनेक उपमान प्रस्तुत करता है, पहले वह सारूप्य खोजता है, जब ठीक उस जैसी वस्तु या व्यक्ति को नही पाता तब साधर्म्य से संतोष करना चाहता है। उपमानो की माला प्रस्तुत करके भी उसका चित्त अतृप्त होता है। समस्त अंगो के निरूपण की ओर उसकी प्रवृत्ति सजग हो उठती है। शब्दो को छोड़कर वाक्यो का पल्ला पकड़ता है। तात्पर्य यह है कि रसानंद की स्थिति मे कवि तब तक कुछ-न-कुछ कहता जाता है जब तक उसकी कल्पना हार नही जाती। तृप्ति तो कभी हो ही नही सकती, किन्तु जिस प्रकार असाध्य परिणाम की सिद्धि मे निरत प्रयत्न ही आनन्दकर होता है और संतुष्टि-विधायक होता है उसी प्रकार उपमान-विधान की प्रक्रिया कवि तथा पाठक दोनो के लिए आनन्दविधायिनी होती है।

उपमा

सादृश्यमूलक अलकारो मे उपमा को सर्वोपरि स्थान मिलता है। सूरदास जी उपमा के उस्ताद थे। जो स्थान संस्कृत-साहित्य मे कालिदास को उपमा के क्षेत्र मे उपलब्ध है वही सूरदास को हिन्दी-साहित्य मे मिलना चाहिए। भ्रमरगीत मे प्रेम का प्रतिदान न पाने से गोपियो मे क्षोभ है। उनके प्रिय कृष्ण ने कपट का व्यवहार किया है, उन्हे सर्वथा दीन और निरालम्ब छोड़ दिया है और स्वय कुब्जा के साथ रगरेलियो मे निरत हैं। इस प्रमुख भाव के द्योतन के लिए उपमा का वह विधान नही हो सकता, जो सयोग-लीला की अनिर्वचनीय सौंदर्य-माधुरी और उल्लास-लहरी मे प्राप्त होता है। यहाँ उपमान हृदयस्थित नैराश्य, वेदना, शूल, अनाथावस्था, दाह आदि कटुभावो के द्योतक है। मिठास के स्थान पर तिक्तता और जलन की तीव्रता उत्पन्न करने की शक्ति ही इनकी विशेषता है। उपमान परम्परागत भी हैं और नवीन भी।

परम्परागत उपमाएँ

जैसें बधिक चुगाइ कपट कन, पाछे करत बुरी। (३८०४)
ज्यौं जलहीन मीन तरफत, त्यो व्याकुल प्रान हमारौ (३८१३)
ज्यौ मृग नाद रीझि तन दीन्हीं। (३८१४)
चदन चद समीर अगिनि सम। (३८१७)

उर भयौ कुलिस समान। (३८३२)
सिंहिका सुत (राहु) हर-भूषन (चंद्र)
ग्रसि ज्यों सोइ गति भई हमारी। (३८४१)
विधु चकोर ज्यों लीन, वारिज ज्यों जलहीन। (३८६०)
तरफरात ज्यों मीन। (३८६०)
लोचन लालच तै न टरे।
ज्यौं मधुकर रुचि रच्यौ केतकी कंटक कोटि ग्ररै।
तैसैंई लोभ तजत नहिं लोभी फिरि फिरि फेरि फिरै।
मृग ज्यौं सहज सहज सर दारुन सन्मुख ते न ढुरै।
सूर सुभट हठ छांड़त नाहीं काटे सीस लरै। (३८६३)
लोचन चातक ज्यों हैं चाहत (३८६३)
सोवत मैं सपनै सुनि सजनी ज्यौं निघनी निधि पाई। (३२७८)
नींद जु सौति भई रिपु हमकौं सहि न सकी रति तिलकी। (३८७६)
ज्यौं बिनु मनि अहि मूक फिरत है। (३८६६)
जैसे चकोर चंद को चाहत। ३६०६)
निरखि पतंग ज्योति-पावक ज्यौं जरत न आप संभारै। (३६०६)
कमलिनि हुतीं हेम ज्यौं हम अति। (३६६२)
चितवत रहत चकोर चंद ज्यौं। (४०२२)
काग हंसहिं संग जैसौ। (४०३६)
ज्यौं गजराज काज के औरै, औरै दसन दिखावत। (४२६६)
थकित सिंधु-नौका के खग ज्यौ। (४३४१)
चदन-चंद-किरनि पावक सम। (४५३०)
ज्यो ससि बिना मलीन कुमुदिनी रबि बिनहीं जलजात।
सूरदास प्रभु बिनु हम यौं है ज्यौ तरु जीरन पात॥ (४५४१)
वै तो कुबिजा असुर की दासी, हम जु सुहागिनि रावरी।
सूरदास प्रभु पारस परसै लौहौ कनक बराबरी॥(४५५२)
हरि सौं हीरा खोइ कै हम रहीं, समुद्र झकोरि। (४६३८)
ज्यौं जलहीन दीन कुमुदिनि बन, रवि प्रकाश की डाढी।
जिहिं विधि मीन सलिल तें बिछुरै तिहिं अति गति अकुलानी। (४७५६)

लोकमानस से प्राप्त नयी उपमाएँ

सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, भईं भुस पर की भीति। (३८०३)
आई उघरि कनक कलई सी दै निजु गए दगाई। (३८०५)
सूरदास तन यौंऽब करौंगी ज्यौं फिरि फागुन मेह। (३८१५)
गृह कदरा समान सेज भइ। (३८१६)

अबें लागति पुकार दादुर सम। (३८१७)
सदा रहत चित चाक चढ्यो सो। (३८१६)
सूरदास यौं भई फिरति ज्यौं मधु दूहे की माखी। (३८२८)
भीषम लौं सहत मदन-अरजुन के बान। (३८३१)
ज्यौं रितुराज विमुख भृंगी की, छिन छिन बानी दीन। (३८६०)
हम तौ भई जज्ञ के पसु ज्यौं। (३६१२)
जैसें बिनु मल्लाह सुंदरी, एक नाउ चढ़ई। (३६१५)
अब सुनि सूर कान्ह-केहरि बिनु गरत गात जैसे औरे। (३६२२)
सूरदास करि काज आपनौ, गुडी डोर ज्यौं तोरी। (३६८०)
बिन माधौ राधा तन सजनी सब बिपरीत भई।

+ + +

अँखियां हुती कमल पँखुरी सी, सुछवि निचोरि लई।
आँच लग्यौ च्यौनौं सोनो सो यो तन, धातु घई।
कदली दल सी पीठि मनोहर मानो उलटि ठई। (४०२३)
देखिबे को परम सुन्दर रहत नैननि जोइ।
कनक कलस अपान जैसै, तैसोई यह रूप। (४०३१)

हंस काग कौ सग भयौ।
कहँ गोकुल कहँ गोप गोपिका विधि यह संग दयौ।
जैसे कचन काच सग ज्यो, चदन सग कुगधि।
जैसें खरी कपूर एक सम, यह भइ ऐसी सधि। (४०३७)
हम पर काहे झुकति ब्रजनारी।

... ...

हौं तो दासी कस राइ की, देखौ मनहिं बिचारी।
फलनि माँझ ज्यौं करुइ तोमरी रहत घुरे पर डारी।
अब तो हाथ परी जत्री के, बाजत राग दुलारी। (४०६३)
हम नहीं कमला सी भोरी, करि चातुरी मनावहु।
अति विचित्र लरिका की नाईं, गुर दिखाइ बौरावहि। (४११७)

ऊधौ हम आजु भई बड़ भागी।
जिन अँखियनि तुम स्याम बिलोके, ते अँखियां हम लागीं।
जैसै सुमन बास लै आवत, पवन मधुप अनुरागी।
अति आनन्द होत है तैसै, अंग अग सुख रागी।
ज्यौं दरपन मैं दरस देखियत, दृष्टि परम रुचि लागी।
तैसें सूर मिले हरि हमकौं, बिरह बिथा तन त्यागी। (४१५१)
ता दिन तै उन स्याम मनोहर, चित बित चोरि लियौ।

जैसे कनक कटोरी मदिरा, आरतवंत पियौ।
बिसरी देह गेह सुख सपति, पर बस प्रान कियौ। (४१८४)

मधुकर सुनौ लोचन बात।
रोकि राखे अ ग-अ गनि, तऊ उड़ि उड़ि जात।
ज्यौं कपोत वियोग व्याकुल, जात है तजि धाम।
जात यों दृग गिरि न आवत, बिना दरसन स्याम।
मूंदि नैन कपाट पल दै, किये घू घट ओट।
स्वाति-सुत ज्यों जात कतहूँ निकसि मनि नग फोट। (४१९७)
रूपहीन कुलहीन कूबरी तासो मन जु ढर्‌यो।
उनको सदा सुभाउ सलिल को, खोरनि खार झर्‌यो। (४२६८)
चातक स्वाति बूंद लौं सागर, भरे देखियत पानी।
दिन दिन मोह बध्यौ सुकनल ज्यौं, बसी धुनि कल कीन्हीं। (४३९३)
ऐसो एक कोद कौ हेत।
जैसे बसन कुसुम रग मिलिकै, नैकु चटक पुनि सेत।।
जैसे करनि किसान बापुरो, नव नव बाहै देत।
एतेहूं पर नीर निठुर भयौ, उमगि आपुही लेत।
सूरदास-प्रभु जन तै बिछुरे, ज्यौं कृत राई रेत। (४५३८)
ज्यौं चातक ब्रत नेम धारिकै जल बरषत रहै प्यासौ।
जाइ नहीं सर दूजै क्यौं हूँ, स्वाति बूद की आसौ।
ज्यौं पतग तन मन धन अरपै, प्रेम सहित मर जानै।
नैकु न प्रीति धरै चित अन्तर, दीपक दया न आनै। (४५५४)
टूटी जुरै बहुत जतननि करि, तऊ दोष नहिं जाइ।
कपट हेत की प्रीति निरतर, नाथि चुषाई गाइ।
दूध फाटि जैसे ह्वै कांजी, कौन स्वाद करि खाइ।
केरा पास जु बैरि निरतर, हालत दुख दै जाइ।
सूरजदास दिगम्बर पुर तें, रजक कहै व्यौसाइ। (४५७६)
पुरइन पात रहत जल भीतर, ता रस देह न दागी।
ज्यौं जल माँह तेल की गागरि, बूंद न ताकौं लागी।
प्रीति नदी मै पाउ न बोरयौ, दृष्टि न रूप परागी।
सूरदास अबला हम भोरी, गुर चींटी ज्यौं पागी। (४५८७)
बाहर मिलत कपट भीतर यौं, ज्यौं खीरा की रीति। (४६६०)
ज्यौं ऊजर खेरे की पुतरी, को पूजै को मानै।
त्यौं हम बिनु गोपाल भइं ऊधौ, कठिन पीर को जानै। (४६६३)
बातै सुनहु तो स्याम सुनाऊ।
जुवतिनि सौं कहि कथा जोग की, क्यौं न इतौ दुख पाऊ।

हौं पचि एक कहौं निरगुन की, ताहू मै अटकाऊं।
वै उमड़ै बारिधि के जल ज्यौं, क्यौं हूं थाह न पाऊं।।

कौन कौन कौ उत्तर दीजै, तातैं भज्यौ अगाऊं।
वै मेरे सिर पटिया पारै, कंथा काहि उढ़ाऊं।
एक आंधरौ, हिय की फूटी, दौरत पहिरि खराऊ।
सूर सकल षट दरसी वै, हैं बारह खड़ी पढ़ाऊं। (४७४५)

उपर्युक्त उद्धरण इस तथ्य के प्रमाण हैं कि भ्रमरगीत की उपमाएँ नवीन अधिक हैं। जो उपमाएँ काव्य-परम्परा मे पहले से ही प्राप्त थी, उनमे भी सूर का प्रस्तुतीकरण नवीन है। उपमाएँ भावो को सशक्त करने वाली हैं। सच तो यह है कि इनका प्रयोग विशिष्ट है। अलकारिता का सौन्दर्य रसोत्कर्ष-विधान में ही है।

उपमा की विकृति

मन की कटुता के कारण कही-कही अशोभन उपमाएँ भी मिलती हैं, जैसे—

प्रकृति जो जाकै अग परी।
स्वान पूछ कोउ कोटिक लागै सूधौ कहूँ न करी।
जैसैं काग भच्छ नहि छांडे, जनमत जौन धरी।
ज्यौं अहि डसत उदर नहि पूरत, ऐसी धरनि धरी।
सूर होइ सो होइ सोच नहि तैसेंइ एऊ अरी। (४१४५)
मधुकर श्याम हमारे चोर।
. ...
सूरदास प्रभु सरबस लूट्यौ, नागर नवल किसोर। (४३५३)

नटिनी लौं कर लिए लकुटिया,
कपि ज्यौं नाच नचावैं। (४२५८)
उनकौ सदा सुभाउ सलिल कौ,
खोरनि खार भर्यौ। (४२६५)
जोरी भली बनी है उनकी,
राजहस अरु काग।
सूरदास प्रभु ऊख छाड़ि कै,
चतुर चचोरत आग। (४२७१)
रस की बात मधुप नीरस सुनि,
रसिक होइ सो जानै।
दादुर बसै निकट कमलनि के,
जनम न रस पहिचानै। (४५७९)

हमको छांड़ि भए सुखरासी, लीन्ही कुबिजा ढूंढ़ ।
सूरदास प्रभु आग चचोरत, छाड़ि ऊख को मुंढ़ । (४३५२)

प्रतीप

उपमा का ही विलोम प्रतीप है । प्रतीप में प्रसिद्ध उपमान का उपमेय के सम्मुख अनादर होता है । प्रतीप मे कल्पना का योग कुछ अधिक होता है, इसीलिए उसमे कमनीयता भी अधिक होती है ।

प्रथम प्रतीप—उपमा का ठीक विलोम बनकर उपमान उपमेय के सदृश प्रस्तुत होता है । इस विपरीत भाव से उक्ति का सौन्दर्य बढ़ता है । जैसे—

सखी री चातक मोहि जियावत ।
जैसेहि रैन रटत हौं पिय-पिय, तैसेहिं वह पुनि गावत । (३९५२)

द्वितीय प्रतीप - उपमेय उपमान को पराभूत करता है । इस प्रकार उपमान की हीनता से उपमेय के प्रकर्ष पर बल दिया जाता है ।

हमारै हिरदै कुलिसहु जीत्यौ ।
फटत न सखी अजहुँ उहि आसा, बरष दिवस परि बीत्यौ । (४००१)

कुलिश (वज्र) जैसी कठोरतम वस्तु भी हृदय (उपमेय) से हार रही है । इस प्रकार सिद्ध हो रहा है कि हृदयस्थित वेदना इतनी भीषण है कि हृदय को फट जाना चाहिए था । स्पष्ट है उपमान का पराभव भावोत्कर्ष का सहायक है ।

प्रतीप का एक मनोहारी प्रयोग सूरदास जी ने भ्रमरगीत के दो पदों मे किया है । आंख के उपमानो की निष्फलता सिद्ध की है और इसके द्वारा कृष्ण-दर्शन के अभाव मे नेत्रो की जो दुर्दशा है, उसकी मार्मिक व्यजना प्रस्तुत की गई है । अलकार रस-व्यजना का साधन बन कर आया है, यद्यपि समस्त पद मे अलकारिकता ही व्याप्त है । सूरदास का यह प्रयोग अनूठा है ।

स्याम वियोग सुनौ हो मधुकर, अँखियां उपमा जोग नहीं ।
कंज, खज, मृग, मीन होंहि नहिं, कवि जन वृथा कहीं ।
कंजनहूँ की लगति पलक-दल, जामिनि होति जहीं ।
खजनहूँ उड़ि जात छिनक मैं, प्रीतम जहीं तहीं ।
मृग होते रहते सग ही सग, चद-वदन जितहीं ।
रूप सरोवर के बिछुरे कहुँ, जीवत मीन नहीं ? (४१९०)
उपमा नैन न एक गही ।
कवि जन कहत कहत चलि आए, सुधि करि नाहिं कही ।
कहि चकोर विधु-मुख बिनु जीवत, भ्रमर नहीं उड़ि जात ।
हरि मुख कमल कोष बिछुरे ते, ठाले कत ठहरात ।
ऊधौ बधिक व्याध ह्वै आए, मृग सम क्यों न पलात ।
भागि जाहिं बन सघन स्याम मैं, जहां न कोउ घात ।

खंजन मनरजन होंहि ये, कबहुँ नहीं अकुलात।
पंख पसारि न होत चपल गति, हरि समीप मुकुलात॥ (४१९१)

व्यतिरेक

व्यतिरेक मे उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष वर्णन होता है। प्रतीप का अग्रिम चरण व्यतिरेक बन जाता है। प्रतीप मे उपमेय और उपमान की तुलना होती है। उसमें उपमान की हीनता प्रमुख होती है, किन्तु व्यतिरेक में उपमेय के विशेषण पर बल दिया जाता है और ऐसा करने के लिए उपमेय के उत्कर्ष का कारण प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार व्यतिरेक प्रतीप की अपेक्षा कही आकर्षक होता है। जैसे—

नैना सावन भादौं जीते।
इनहीं विषय आनि राखे मनु, समुदनि हैं जल रीते।
वै झर लाइ दिना द्वै उघरत, ये न भूलि मग देत।
वे वरषत सब के सुख कारन, ये नंदनंदन हेत।
वे परिमान पुजे हद मानत, ये दिन धार न तोरत।
यह विपरीति होति देखति हो, बिना अवधि जग बोरत। (३८५४)

प्रतीप और व्यतिरेक के उदाहरणो मे साम्य प्रतीत होता है, किन्तु द्रष्टव्य यह है कि ऊपर प्रतीप के उदाहरण मे नैन के उपमान —कंज, खज, भृग, मीन तथा चकोर, भ्रमर, मृग और खंजन की हीनता ही दिखाई गई है, जबकि व्यतिरेक के उदाहरण मे उपमेय नैन का ही उत्कर्ष सकारण वर्णित है और यह प्रतीप के उदाहरणो से अधिक कमनीय भी है।

एक नवीन अलंकार

व्यतिरेक का एक विशिष्ट प्रयोग भ्रमरगीत मे मिलता है। इसे व्यतिरेक या प्रतीप अथवा शास्त्र मे बताया हुआ अन्य अलकार नही कह सकते। सूरदास जी ने व्यतिरेक का विलोम प्रस्तुत किया है। व्यतिरेक मे उपमान का अनौचित्य सहेतु प्रस्तुत करके उपमेय का उत्कर्ष दिखाया जाता है। इसी का विलोम करके सूरदास जी ने उपमान का औचित्य प्रस्तुत किया है और इस प्रकार की नयी-योजना से रस-व्यजना को शक्ति दी है—

ऊधो अब हम समुझि भई।
नंदनंदन के अंग-अग ग प्रति उपमा न्याय दई॥
कुंतल कुटिल भँवर भामिनि की मालति भुरै लई।
तजत न कुटिल कियौ तन कपटी, जननी निरस भई।
आनन इंदु विमुख सपुट तजि, करषे ते न नई।
निरमोही नव नेह कुमुदिनी, अ तहु हेम हई।
तन घन सजल सेइ निसि-वासर, रटि रसना छिजई।
सूर विवेक हीन चातक मुख, बूँदौं तौ न स्रई। (४५३९)

कुटिल वालो के उपमान भ्रमर हैं जो ऐसे कुटिल और कपटी हैं कि पहले तो पुष्प (केतकी) के चारो ओर गुनगुनाकर वश मे करते हैं किन्तु रस के समाप्त होते ही छोड़

देते हैं। मुख का उपमान चन्द्रमा अपनी प्रिया कुमुदिनी को अन्त मे पाले से मार देता है। शरीर-वर्ण के उपमान बादल चातक के मुख में एक स्वाति-बूंद नही डाल सकता। इस प्रकार उपमानो का औचित्य सिद्ध है। इस नयी उपमान-योजना से गोपियों की आन्तरिक पीड़ा कितनी सफाई से व्यक्त हो सकी है। व्यतिरेक के विलोम की भाँति प्रतीप का विलोम भी भ्रमरगीत मे वैसी ही बारीकी से उपस्थित किया गया है। प्रतीप मे उपमान उपमेय के भय से भागते है और कोई जल मे, कोई आकाश मे और कोई वन या बिल मे घुसते है।[1] इसी का ठीक विलोम इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता हैं कि भागे हुए उपमान पुन. साभिमान आगे आ खड़े होते हैं—

तब तैं इन सबहिन सचु पायौ।
जब तैं हरि सदेस तुम्हारौ, सुनत तांवरौ आयौ।
फूले व्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायौ।
खोले मृगनि चौक चरननि के, हुतौं जु जिय बिसरायौ।
ऊचे बैठि बिहग सभा मैं, सुक बनराइ कहायौ।
किलकि किलकि कुल सहित आपनैं, कोकिल मंगल गायौ।
निकसि कदरा तैं केहरि, पूछ मूड पर ल्यायौ।
गहवर तैं गजराज आइकैं, अंगहिं गर्व बढ़ायौ।
अब जनि गहरु करहु हौ मोहन, जो चाहत हौ ज्यायौ।
सूर बहुरि ह्वैहै राधा कौं, सब बैरिनि कौ भायौ॥ (४७६०)

प्रतीप का ठीक विलोम है। सारे पद मे उपमानो के प्राकट्य से राधा की असीम विरह-वेदना का चित्रण है। राधा को ऐसा विरह ज्वर है कि वे कभी घर से बाहर नही निकल सकती। उनके नख-शिख के उपमान हर्षोत्फुल्ल विचर रहे हैं क्योकि पहले लज्जा के मारे वे छिपे थे। पद मे अलकार-योजना की नयी रीति रस-ध्वनि को प्रमुखता दे रही है।

प्रतिवस्तूपमा

कई उपमान-वाक्य जहाँ समानधर्मी होकर आते हैं और एक ही अर्थ भिन्न-भिन्न वाक्यो मे मिलता है वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है। प्रतिवस्तूपमा को भामह ने *उपमा*

---

१. उपमा हरि तनु देखि लजानी।
कोउ जल मे कोउ बननि रहीं दुरि कोउ कोउ गगन समानी।
मुख निरखत ससि गयौ अबर कौं, तड़ित दसन छवि हेरि।
मीन कमल कर चरन नयन डर, जल में कियो बसेरि।
भुजा देखि अहिराज लजाने, बिवरनि पैठे धाइ।
कटि निरखत केहरि डर मान्यौं बन-बन रहे दुराइ।
गारी देहिं कबिनि कै बरनत, श्री अग पटतर देत।
सूरदास हमकौं सरमावत, नाउं हमारौ लेत॥ (सूरसागर २३७५)

का भेद माना था किन्तु परवर्ती आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और अप्पय दीक्षित उसे स्वतंत्र अलंकार मानते हैं। प्रतिवस्तूपमा की एक विशेषता यह भी कही गई है कि भिन्न-भिन्न वाक्यो मे धर्म का पृथक्-पृथक् शब्दो द्वारा कथन हो। सूरदास जी के उदाहरण मे वाक्यार्थों की समानता तो मिलती है, किन्तु समानार्थक शब्दो मे धर्म-कथन नही करवाया है—

मथि मथि सिंधु सुरनि कौ पोषं, शंभु भए विष आसी।
इन हति कंस राज औरहिं दै, चाहि लई इक दासी। (३९९४)
चंद उदय चकोर चाहै, मोर चाहै मेहु।
हमहुँ चाहैं मदन मूरति, स्याम संग सनेहु॥ (४५४२)
औरौ सुमन अनेक सुगंधित, सीतल रुचि जु करै।
क्यौं तुमकौं अलि बिना सरोजहिं, उर अंतर न अरै।
दिनकर महाप्रताप पुंज बल सबकौ तेज हरै।
क्यो न चकोर छांडि मृग अंकहिं, वाकौ ध्यान धरै।
मुक्ता अवधि मराल प्रान मम, जौ लगि ताहि चरै।
निघटै निपट सूर ज्यौं जल बिनु, व्याकुल मीन मरै॥ (४५४०)

उपर्युक्त उद्धरणो मे प्रतिवस्तूपमा की भांति वाक्यार्थो की समानता मिलती है। चकोर चन्द्र को चाहता है, मोर बादलो को चाहता है, हम कृष्ण को चाहती हैं तथा अन्य सुगन्धित पुष्पों मे रुचि न रखकर भ्रमर कमल को चाहता है, सूर्य-तेज को छोड़कर चकोर चन्द्र को चाहता है, हंस मोती ही चाहता है और किसी को नही लेता तथा मीन जल को छोडकर जी नही सकती।

इतना अवश्य है कि इन उदाहरणो मे प्रतिवतूपमा का शास्त्र-विहित रूप नही है। समान धर्म तो वाक्यों में मिल रहे हैं, किन्तु उनमे समानार्थक शब्दो का प्रयोग नही है।

रूपक

उपमा मे अलकार-वृत्ति उतनी मुखर नही होती, जितनी भाव-प्रकाशन की सहज मनोवृत्ति। उपमा प्रायः अनायास भावो के साथ उन्ही के अनुरूप फूट पड़ती है। रूपक का निरंग रूप प्राय उपमा जैसा ही होता है किन्तु सांगरूपक गढने मे कवि का सचेष्ट प्रयास परिलक्षित होता है। इसीलिए काव्य-कला मर्मज्ञ बड़े-बड़े सागरूपक प्रस्तुत करते है। इस रूपक-विधान मे कला प्रमुख हो जाती है और व्यंजना पिछड जाती है। केशवदास जैसे अलंकारी मनोवृत्ति के कवि तो रूपक के अंगो के विस्तार मे भाव-शृंखला की बलि भी करने लग जाते हैं। इस प्रकार सागरूपक-विधान कवि की सचेष्ट कला-प्रियता का प्रमाण है। सूरदास जी को रूपक बडे प्रिय थे। रूपक-विधान मे गोस्वामी तुलसीदास जी को छोड़ कर कोई हिन्दी कवि सूर की बराबरी नही कर सकता। रूपको के अलकार-विधान में अंगागो की परिगणना प्राप्त होती है। परिगणना की नीरसता और अलंकारिकता के बाह्य-प्रदर्शन से कवि अपने को बचा नही सकता, फिर भी सूर के रूपको मे एक अप्रतिम सौन्दर्य-

विधान है। यह है उपमेय-उपमान के अंगांगो में रस-व्यंजना की व्यापकता और पद के आदि और अन्त मे मूल भाव का सन्निवेश और सपुष्टि। परिणाम यह होता है कि सूर के साग रूपकों के अंगांग बिजली के वल्वो की भाँति चकाचौध उत्पन्न नही करते, तारावलियो के कम्पन की भाँति सजीव लगते हैं और एकान्त मे पाठक या श्रोता रूपकत्व के चमत्कारी विधान को भूलकर व्यजनात्मक अनुभूति मे ही निमग्न होता है।

भ्रमरगीत मे प्राप्त निरग रूपको की गणना का प्रयास अवांछनीय और दुस्साध्य भी है, क्योकि तारागणो की भांति वे असंख्य है। सांगरूपक अवश्य ही गणनीय और दर्शनीय हैं। उनकी तालिका नीचे दी जाती है—

बधिक

प्रीतिकर दीन्हीं गरै छुरी।
जैसे बधिक चुगाइ कपट-कन पाछे करत बुरी।
मुरली मधुर चेप कांपा करि, मोरचन्द्र फँदवारि।
बक बिलोकनि लगी, लोभ बस, सकी न पंख पसारि।
तरफत छांड़ि गए मधुबन कौ, बहुँरि न कीन्ही सारि॥
सूरदास प्रभु संग कल्पतरु, उलटि न बैठीं डारि। (३८०४)

रस-व्यंजना के लिए रेखांकित पंक्तियाँ विचारणीय हैं।

ज्वर

देखियति कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सौं, भई विरह जुर जारी।
गिरि-प्रजक तैं गिरति धरनि धसि, तरग तरफ तन भारी।
तट वारू उपचार चूर, जलपूर प्रस्वेद पनारी।
विगलित कच कुस कांस कूलपर, पंक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमति मति, दिसि दिसि दीन दुखारी॥
निसदिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी॥
सूरदास प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी। (३८१०)

ज्वर के अंगो की गणना मे गोपियो की वाह्य और अन्तर्व्याधियो का सटीक चित्रण तथा अन्तिम पक्ति मे अभिधा से उसका उल्लेख रूपक की चमत्कारिता को ओझल करने मे समर्थ है।

नृप

फिरि ब्रज आइयै गोपाल।
नद नृपति कुमार कहिहैं, अब न कहिहैं ग्वाल॥

मुरलिका धुनि सप्त दिसि दिसि, चली निसान बजाइ ।
दिगविजय को जुवति मडल, भूप परिहैं पाइ ॥
सुरभि सखा सु सैन भट सग, उठैगी खुर रैन ।
आतपत्र मयूर चद्रिका, लसत है रवि ऐन ॥
मधुप वन्दीजन सुजस कहि, मदन आयसु पाइ ।
द्रुम लता बन कुसुम बानक, बसन कुटी बनाइ ॥
सकल खग मृग पैक पायक, पौरिया प्रतिहार ।
सूर प्रभु व्रजराज कीजै, आइ अबकी बार । (३८४६)

इस पद मे ध्वनि की प्रधानता है । कृष्ण के नृपति रूप, स्वार्थ, अन्याय और आडम्बर पर व्यग्य है । गोपाल और ग्वाल रूप के मनोहारी रूप की स्मृति दिलाकर ब्रजलीला मे राज-सुख का अन्तर्भावन इस रूपक का प्रतिपाद्य है । इस प्रकार रूपक के अन्त मे व्रजलीला की सुखद स्मृतियो का आकलन रसवत्ता लाने वाला है ।

घन

सखी इन नैननि तें घन हारे ।
बिनही रितु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे ॥
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे ।
वदन सदन करि बसे बचन-खग, दुख पावस के मारे ।
दुरि दुरि बूद परत कंचुकि पर, मिलि अंजन सौ कारे ।
मानौ परनकुटी सिव कीन्ही, बिबि मूरति धरि न्यारे ॥
घुमरि-घुमरि बरसत जल छाँड़त, उर लागत अँधियारे ।
बूडत ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे ॥ (३८५२)

पद मे रूपक प्रधान है, यद्यपि प्रथम पक्ति मे प्रतीप, द्वितीय मे विभावना, पाँचवी मे तद्गुण, छठी मे उत्प्रेक्षा, अन्तिम मे अत्युक्ति और परिकर अलकार भी विविध रगी वल्वो की द्युति दिखा रहे हैं । इतने अलकारो का जमघट होते हुए भी रस-व्यजना प्रमुख है । विरहिणियों के अनवरत अश्रु, आहे, विषाद, मौन रूप मे मन की मसोस, आँखो के सामने निस्सहायावस्था प्रत्यक्ष होकर विप्रलभ शृगार की मर्मानुभूति को मूर्तिमान कर रहे है । 'बूडत ब्रजहिं' प्रलय के बादलो के जल-प्लावन की भयकरता और साथ मे इन्द्र-कोप से व्रज पर की हुई वर्षा और गिरिवरधर कृष्ण के द्वारा रक्षण की सुखद स्मृति को भी ताजा करने वाला है । इस प्रकार रूपक-विधान चमत्कार विधायक न होकर रस-व्यजना का साधनमात्र है ।

नागिनि

पिय बिनु नागिनि कारी रात ।
जौ कहु जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात ।

जत्र न फुरत मत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु विकल बिरहिनी, मुरि मुरि लहरैं खात। (३८६१)

पद की प्रथम पक्ति में विनोक्ति, द्वितीय मे हेतूत्प्रेक्षा तथा अनुप्रास और वीप्सा की चमक-दमक के होते हुए भी रूपक ही प्रधान है। सर्पिणी का डसना, उल्टा होना, जत्र-मत्र के उपचार, डसी हुई नारी का लहरें खाना रूपक के अंग रूप मे आकर अन्य-अन्य अलंकारों की छटा को दबा देते हैं। फिर भी अलकारों की प्रमुखता सिद्ध नही होती, रसानुभूति ही प्रमुख है। रस-व्यंजना के लिए इससे सुन्दर उदाहरण मिलना कठिन है। विरह की तड़पन, कसक, दर्द और वेदना अलकार के माध्यम से सुस्पष्ट हैं।

मदन-हाथी

देखियत चहुँ दिसि तै घन घोरे।
मानौं मत्त मदन के हथियनि, बल करि बंधन तोरे॥
स्याम सुभग तन चुवत गडमद, बरषत थोरे थोरे।
रुकत पवन महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे॥
मनौ निकसि बग-पक्ति दत, उर अवधि सरोवर फोरे।
विनु बेला बल निकसि नयन-जल, कुच कचुकि बद बोरे।
तब तिहिं समय आनि ऐरावति, व्रजपति सों कर जोरे।
अब सुनि सूर कान्ह केहरि बिनु, गरत गात जैसै ओरे॥ (३९२२)

विरहिणियों को बादलो की घटाएँ बड़ी भयावह लगती हैं। मदमत्त हाथी का हमला बड़ा भयकर होता है। बिना अकुश का छूटा हुआ मतवाला हाथी जिधर जाता है, उधर ही भगदड होती है। सब आर्त स्वर से चिल्लाते हैं, बचने का कोई उपाय नही होता। गोपियाँ कृष्ण-विरह मे घटाओ को देखकर उसी प्रकार भयभीत हो रही है। इसलिए मतवाले हाथी का रूपक उनके त्रास को मूर्तिमान कर रहा है। भय की सिहरन के लिए 'गरत गात जैसे ओरे' की उपमा कितनी सटीक है। ऐसी अवस्था मे 'कान्ह-केहरि' ही एकमात्र रक्षक हो सकता है।

पावस

व्रज पर सजि पावस दल आयौ।
धुरवा धुध उठी दसहुँ दिसि, गरज निसान बजायौ॥
चातक, मोर, इतर पैदर गन, करत अवाजै कोयल।
स्याम घटा-गज, असनि बाजि रथ, बिच बगपाति सँजोयल।
दामिनि कर-करवाल, बूंद सर, इहिं विधि साजे सैन।
निधरक भयो चल्यौ व्रज आवत, अग्र फौजपति मैन।
हम अबला जानियै तुमहिं बल, कहौ कौन विधि कीजै।
सूर स्याम अबकै इहिं अवसर, अनि राखि व्रज लीजै॥ (३९२३)

सेना

सखी री पावस सैन पलान्यौ।

... ...

सूर स्याम अपने व्रज की, लागत क्यौं न गुहार। (३६२४)

बदरिया बधन विरहिनी आई।

... .

मनमथ फौज जोरि चहुँ दिसि तैं व्रज सन्मुख ह्वै धाई।

.. ..

सूरदास प्रभु मिलहु कृपा करि, होति हमारी धाई।(३६२८)

तुम्हारौ गोकुल हो व्रजनाथ।
घेर्यौ है अरि मन्मथ लै, चतुरंगिनि सेना साथ।

... ...

नंद कुमार स्याम घन सुन्दर, कमल नयन सुखधाम।
पठवहुँ वेगि गुहार लगावन, सूरदास जिहि नाम॥ (३६३२)
अब व्रज नाहिन नंदकुमार।
इहै जानि अजान मघवा, करी गोकुल आर।
नैन जलद निमेष दामिनि, आंसु बरषत धार।

... ...

सत्रु सेन सुधाम घेर्यौ, सूर लगौ गुहार॥ (३६४१)

ऊपर पाचो रूपक शत्रु इन्द्र की सेना के आक्रमण सूचित करते हैं। प्राय रूपको की सामग्री एक-सी है। इन्द्र ने व्रज पर कोप किया था, किन्तु कृष्ण के कारण वह हार कर चला गया था। अब कृष्ण के चले जाने पर उसने अपने प्रतिशोध के लिए आक्रमण किया है। ऐसी अवस्था मे अबला, असहाय गोपियो की घबराहट स्वाभाविक है। भयानक रस का सुन्दर परिपाक इन रूपको द्वारा हुआ है। प्रत्येक पद मे अनाथ गोपियाँ रक्षा के लिए कृष्ण से गुहार करती हैं। इस प्रकार इन रूपको मे भी भावपक्ष ही प्रधान है और रूपक रस-व्यंजना का साधक है।

मिलिक (जागीर) रूपक

वर्षा ऋतु विरहिणयो को दुखदायी इसलिए होती है कि यह कामोद्दीपक है। काम कामनियो को पीडित करता है और वे अपने प्रिय के अभाव मे निस्सम्बल रहती हैं। पिछले रूपको मे सुरपति इन्द्र के आक्रमण का वर्णन है। कृष्ण की पुकार कर-करके गोपियाँ हार गई। इन्द्र ने व्रज पर विजय प्राप्त कर ली और अन्त मे उसने व्रज की रियासत कामदेव को दे दी। मदन अधिपति होकर चारो ओर अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है। सूर-काल मे सामन्तवाद की स्थापना हो चुकी थी, मुगल बादशाहो ने अपने सामन्तो को जागीरें दे रखी थी। उसी का प्रतिफलन निम्न रूपक मे बडी सुन्दरता से हुआ है—

सखि कोउ नई बात सुनि आई।
यह ब्रज भूमि सकल सुरपति सों मदन मिलिक करि पाई ॥
घन धावन बगपाँति पटोसिर, बैरख तड़ित सुहाई ॥
बोलत पिक चातक ऊँचे सुर, फेरत मनहु दुहाई ॥
दादुर मोर चकोर मधुप सुक, सुमन समीर सुहाई।
चाहत वास कियौ वृन्दावन, विधि सौं कछु न बसाई।
सींव न चाँपि सक्यौ तव कोऊ, हुते बल कुंवर कन्हाई।
सूरदास गिरिधर बिनु गोकुल, ये करिहैं ठकुराई। (३६४३)

कैसी नई कल्पना के दर्शन हो रहे हैं। उद्दीपन रूप मे घन, वगपाँति, तड़ित, पिक, चातक, मोर, मधुप, सुगन्धित वायु काम-पीडा को जगा रहे है। कृष्ण के सग जिस वृन्दावन में आनन्द का सागर लहरा रहा था, वहा अब उनके विरह मे काम सदा निवास करके अपनी ठकुराई चलाएगा। बिना गोपाल के अब कौन इस घातक काम से बचाए? कल्पना बड़ी ही कमनीय और रसाभिव्यक्ति मे सहायक है। पद की शब्द-रचना अनुप्रास-सौन्दर्य से चमकीली और उत्प्रेक्षा की छटा से छबीली है। 'नई बात', 'गिरिधर' और 'ठकुराई' के लक्ष्यार्थ अर्थसौरस्य भर रहे हैं। बड़ा होते हुए भी रूपक अलकारिता का कोरा चमत्कार न दिखा कर भाव-व्यंजना का सहायक है।

विरह-चित्रण मे रूपको का सफल प्रयोग तो हुआ ही है, उद्धव-गोपी-संवाद के मध्य सैद्धान्तिक तथ्य-निरूपण मे भी सूरदास जी ने सांगरूपकों का सुन्दर उपयोग किया है। रूपक के द्वारा उन्होने ज्ञानयोग और आराधना का प्रेम से तादात्म्य प्रस्तुत किया है। रूपक अलंकार की प्रकृति दो भिन्न वस्तुओ की अभिन्नता प्रस्तुत करने की होती है। एक का दूसरे पर आरोप ही तो रूपक है। गोपियाँ उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-आराधना को हीन तो नही बताती, किन्तु रूपक के माध्यम से ज्ञान और प्रेम की अभिन्नता प्रस्तुत करती है। इस प्रकार अलंकार यहाँ तथ्य-निरूपण का साधन बनता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी ज्ञान और भक्ति के प्रकरण मे रूपक का प्रयोग किया है। उनके मत मे ज्ञान पुरुष और माया तथा भक्ति स्त्री हैं। ज्ञान पुरुष होने के कारण माया के द्वारा आकर्षित हो सकता है, अतः उसका अध.पतन सम्भव है, किन्तु माया नारी है अतः नारी का नारी के प्रति मोह सभव नहीं अत. भक्तिपथ निरापद है।[1] इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी रूपक के सहारे भक्ति-

---

१. भगतिहि ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहि भव सभव खेदा ॥
नाथ मुनीस कहहि कछु अंतर। सावधान सोउ सुनहु विहग वर ॥
ज्ञान विराग जोग विज्ञाना। ए सव पुरुष सुनहु हरि जाना ॥
पुरुष प्रताप प्रवल सव भाँती। अवला अवल सहज जड़ जाती ॥
सोउ पुनि ज्ञान निधान, मृग नयनी विधु मुख निरखि!
विवस सोइ हरि जान, नारि विष्णु माया प्रकट ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह चरित अनूपा।
माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारि वर्ग जानत सव कोऊ ॥

—(रामचरित मानस—उत्तरकांड ११५)

मार्ग को ज्ञानमार्ग की अपेक्षा निर्विघ्न तथा श्रेष्ठ बताते हैं। सूरदास जी गोस्वामी जी से भी एक चरण आगे बढते हैं। वे कहते हैं कि दोनो हैं ही एक, जो उपलब्धि योगमार्ग से सम्भव है, वही प्रेम से भी, और दोनो की पद्धतियाँ भी एक ही है और इसलिए वे योग-आराधना और प्रेम-साधना का तादात्म्य प्रस्तुत करते हैं—

प्रेमयोग

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यौ।
मन, क्रम, वच हरि सौं धरि पतिव्रत प्रेम जोग तप साध्यौ।

+ + +

सकुचासन कुल सील करषि करि जगत बंध करि बंधन।
मौनऽपवाद पवन अवरोधन, हित क्रम काम-निवेदन।

+ + +

सहज समाधि सारि बपु बानक निरखि निमेष न लागत।

+ + +

त्रिकुटि सग भ्रूभंग तराटक, नैन नैन लगि लागे।

+ + ×

मंत्र दियौ मन जात भजन लगि, ज्ञान ध्यान हरि ही कौ।
सूर कहौ गुरु कौन करै अलि, कौन सुनै मत फीकौ॥ (४१४६)

हम तौ तबहिं तै जोग कियौ॥
जबही तें मधुकर मधुबन कौं मोहन गौन कियौ॥
रहित सनेह सिरोरुह सब तन श्रीखँड भसम चढ़ाए॥
पहिरि मेखला चीर पुरातन, फिरि फिरि फेरि सियाए।

+ + +

सूर सुमति प्रभु हमहिं लखायौ, सोई हमरै ध्यान।
अलि चलि औरै ठौर दिखावहु, अपनौ फोकट ज्ञान॥ (४३१२)

ऊधौ करि रहीं हम जोग।
कहा एतौ वाद ठान्यौ, देखि गोपी भोग॥
सीस सेली केस मुद्रा, कान बीरी बीर।
बिरह भस्म चढ़ाइ बैठीं, सहज कथा चीर॥

+ + +

जोग की गति जुगति हम पै, सूर देखौ जोइ।
कहत हम सौं करन जोग, सु जोग कैसो होइ॥ (४३१३)

इन रूपको मे अलंकारिक परिगणना-पद्धति अपेक्षाकृत अधिक है, रस-व्यंजना कम है। फिर भी तर्क और युक्तियुक्तता इतनी नई और आकर्षक है कि परवर्ती रीतिकालीन कवि देव, बिहारी, मतिराम आदि ने सूर के अनुसरण मे प्रेम-योग पर सरस रचनाएँ की।[1]

वारिधि

योग के सम्बन्ध मे गोपियो का दूसरा तर्क यह था कि योग-मार्ग बड़ा कठिन है। योग की साधनाएँ बहुत ही जटिल और श्रम-साध्य हैं। इस तथ्य को चरितार्थ करने के लिए भी उन्होने सागरूपक का आधार पकड़ा है। योग की दुस्तरता के लिए वे उसे सागर बताती हैं और सागर के सभी अंगो को योग के अंगो पर आरोपित करती हैं—

मधुकर अब यह आइ रही ।
वारिधि जोग अपार अगम कौ, निगम न थाह लही ॥
बुधि बिवेक बोहित चढ़ि स्रम करि, तौ सिव चेत परी ।
जीवन अति सुकुमार अधीरज, जुगति न जात तरी ॥
... ...
सुमिरन ध्यान आस छाया करि, मनमोहन प्रभु नागर।
दुस्तर तरहिं सूर क्यौ अबला, चख जल सरिता सागर ॥ (४२२६)

ब्रजरिपु

कृष्ण ने ब्रज मे रह कर पूतना, तृणावर्त, कालीनाग, बकासुर और केशी आदि राक्षसो का वध किया था। ये सब व्रज के शत्रु थे। अब उनके मथुरा चले जाने पर गोपियो को जीवन दूभर हो रहा है। रात्रि देखते ही वे भयभीत होती हैं, उसका काला भयानक रूप पूतना-सा लगता है। रात सूर्य को हरण करती है, पूतना भी ब्रज के सूर्य कृष्ण को लेने आई थी। उच्छ्वासे इतनी अधिक उठती है कि बवडर रूपी तृणावर्त का आक्रमण लगता है। यमुना को देखकर ऐसा डर लगता है मानो कालीनाग पड़ा है। वृन्दावन बकासुर लगता है। घर के दरवाजे के भीतर जाते हुए लगता है मानो अघासुर के खुले हुए मुँह मे घुस रहे हैं, घर के अन्य कार्य केशी के समान लगते हैं। तात्पर्य यह है कि सारा जीवन ही भयावह और असहाय हो रहा है—

(ऊधौ) हरि बिनु ब्रज रिपु बहुरि जिए।
जे हमरे देखत नद नदन, हति हति हुते सु दूरि किए ॥
निसि कौ रूप बकी बनि आवति, अति भय करति सु कम्प हिए।
तापहिं तै तन प्रान हमारे, रबिहूँ छिनक छँड़ाइ लिए।
उर ऊँचे उच्छ्वास तृनावर्त, तिहिं सुख सकल उड़ाइ लिए।
कोटिक काली सम कालिन्दी, परसत सलिल न जात पिए।
बन बक रूप अघासुर सम गृह, कतहु तौ न चितै सकिए।
कैसी कठिन करम केसौ बिनु, काकौं सूर सरन तकिए ॥ (४२३९)

---

१. देखिए सूर की काव्य-कला, पृष्ठ ३५५

घट

प्रेम के लिए विरह आवश्यक है। संयोग के सुखो मे प्रेम का शुद्ध स्वरूप उतना नही देखा जाता, जितना वियोग की जलन मे। वियोग की अग्नि मे तपकर ही प्रेम का कच्चा घडा पकता है, उसमे शक्ति आती है कि वह प्रेम के पुनीत जल को अपने अन्दर रख सके। गोपियाँ इसीलिए उद्धव के आने, उसके द्वारा योग-प्रसग चलाने तथा उससे प्रज्वलित रोष को अवा समझती हैं, जिसकी गर्मी से तपकर उनका कच्चा प्रेम-घट पका है।

ऊधौ भली भई ब्रज आए।
बिधि कुलाल कीन्हे काचे घट, ते तुम आनि पकाए।
रंग दीन्हौ हो कान्ह साँवरे, अग अग चित्र बनाए।
पातै गरै न नैन नेह तै, अवधि अटा पर छाए॥
ब्रज करि अवा जोगई घन करि, सुरति आनि सुलगाए।
फूंक उसास विरह प्रजरनि सग, ध्यान दरस सियराए।
भए संपूरन सकल प्रेम जल, छुवन न काहु पाए।
राज काज तै गए सूर-प्रभु, नद-नदन कर लाए॥ (४४००)

यहाँ रूपक उक्ति-वैचित्र्य और व्यग्य का साधन है। विपरीत लक्षणा के द्वारा उद्धव के आगमन, उनके योगोपदेश और उससे उत्पन्न जलन की प्रशसा की गई है। इस प्रकार व्याजनिन्दा और अनुज्ञा अलंकारो की स्थिति भी विद्यमान है। पद मे कृष्ण के राज्यत्व प्राप्ति पर भी फबती कसी गई है। वे राज-काज से गये हैं, उनका राज्याभिषेक भी होना चाहिए, अभिषेक के लिए पुनीत जल की आवश्यकता है। हमने अपने हृदय-घट मे प्रेम का ऐसा पुनीत जल रख छोडा है जिसे किसी ने स्पर्श भी नही किया है। यह जल राज्याभिषेक के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इस प्रकार एक ओर रूपक गोपियो की विरह-वेदना और रोष को ध्वनित करता है और दूसरी ओर कृष्ण और उद्धव के कृत्यो पर चोट भी करता है। स्पष्ट है रूपक-विधान चमत्कारमूलक न होकर रस-ध्वनिमूलक है।

गोपियो ने कृष्ण से प्रेम किया था। उन्होने इतने दिन की प्रीति के उपरान्त अच्छे फल की आशा की थी, किन्तु योग के सन्देश के रूप मे कृष्ण ने जो फल भेजा, वह बड़ा ही निराशाजनक और विपरीत प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाला है। इस भाव को भी गोपियो ने रूपक के द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है--

यह कछु नाहिं नेह नयौ।
मधुप माधौ सौं जु इहि ब्रज, विधि तै प्रथम भयौ।
बीज मन, माली मदन, उर आलबाल बयौ।
प्रेम-पय सींच्यौ अहर निसि, सुभ जवारि जयौ॥
इते स्रम तन स्याम सुन्दर, विमल वृच्छ बढ्यौ।
मुरलि मुख छवि पत्र साखा, दृग द्विरेफ चढ्यौ॥
कमल तजि तन रुचत नाहीं, आक कौ आमोद।
सूर जोग न वचन परसहि, बिनु गुपाल विनोद॥ (४५३६)

माली बीज डालता है, उगाता है, सींचता है। उसमें पत्र-शाखा निकलने के उपरान्त यदि उसमे आक का पुष्प-फल निकले तो बेचारा कितना निराश होगा। उसी प्रकार जिन गोपियों ने बाल-कृष्ण को पाला, बढाया, उनकी माखनचोरी, मुरली-लीला आदि देखी, उन्हे आशा थी कि बड़े होकर कृष्ण उनकी मनोकामना की पूर्ति करेंगे। किन्तु अब योग-सन्देश भेजा है। यह तो आक का फल ही है। इस प्रकार रूपक हार्दिक असन्तोष और निराशा-जनक प्रतिक्रिया की प्रतिकृति प्रस्तुत करने मे समर्थ है।

विरहिणियों की दीन-दशा-चित्रण में भी कई रूपक विचारणीय हैं। रात-दिन आँखो से अश्रु बरसते रहते हैं। ऊँचे उच्छ्‌वास उठते रहते हैं। आँसुओ से सारा शरीर भीग गया है। काजल और चन्दन कपोलों और अंगों पर कीचड़ बनाये हैं। अन्य अंग हाथ-पैर, मुख क्रियाशून्य हैं। इस आशय के दो रूपक हैं। एक मे नदी है और दूसरे मे वर्षा ऋतु—

नदी

तुम्हरे बिरह ब्रजनाथ राधिका नैननि नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ, एते मान चढ़ी॥
चलि न सकत गोलक नौका लौं, सींव पलक बल बोरति।
उर्ध्व उसांस समीर तरंगनि, तेज तिलक तरु तोरति।
कज्जल कीच कुचील किये तट, अंबर अधर कपोल।
रहे पथिक जु जहां सु तहाँ थकि, हस्त चरन मुख बोल॥
नाहीं और उपाय रमापति, बिनु दरसन क्यों जीजै।
आँसू सलिल बूड़त सब गोकुल, सूर स्वकर गहि लीजै॥ (४७३२)

पावस

नैन घन घटत न एक घरी।
कबहुँ न मिटति सदा पावस ब्रज, लागी रहत झरी॥
विरह इन्द्र बरषत निसि बासर, इहिं अति अधिक करी।
उर्ध उसांस समीर तेज जल, उर भू उमगि भरी।
बूड़त भुजा रोम द्रुम अंबर, अरु कुच उच्च थरी।
चलि न सकत पद रेह पंथ की, चदन कीच खरी॥
सब रितु भई एक सी इहिं ब्रज, इहि विधि उलटि धरी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे बिछुरे, सब मरजाद टरी॥ (४७३३)
नैननि होड़ लगी बरषा सौं।
राति दिवस बरसत झर लाए, दिन दूनी करषा सौं॥
... ...

तुम पै होइ सु करहु कृपानिधि, ये ब्रज के व्यौहार।
अबकी बेर पाछिलै नातै, सूर लगावहुँ पार॥ (४७३५)

ब्रज तें द्वै रितु पै न गई ।
ग्रीषम अरु पावस प्रवीन हरि, तुम विनु अधिक भई ।।
उर्ध उसास समीर नैन घन, सब जल जोग जुरे ।
वरषि प्रगट कीन्हे दुख दादुर, हुते जु दूरि दुरे ।
विषम वियोग जु वृष दिनकर सम, हिय अति उदौ करै ।
हरि पद विमुख भए सुनि सूरज, को तन ताप हरै ।। (४७३६)

इन रूपको मे भी भावपक्ष की ही प्रधानता है । रोदन मे निरत गोपियो की विपन्नता का चित्र प्रस्तुत हो जाता है । विरह की वाढ मे अनाथ गोपियाँ पार करने वाले कृष्ण को पुकार रही हैं ।

निष्कर्ष

भ्रमरगीत मे प्राप्त उपर्युक्त सांग रूपको को दृष्टिगत करते हुए हम साराश रूप मे इस प्रकार कह सकते हैं—

१. सूरदास जी की प्रवृत्ति अलंकारो के चमत्कारी रूपो मे विशेप रमती थी । उन्होने सांग रूपको की अद्भुत सामग्री संकलित की है । वादल, सर्पिणी, हाथी, सेना, वर्षा और नदी रूपक तो ऐसे कहे जा सकते हैं जो अन्यत्र भी मिल सकें किन्तु ज्वर, वधिक नृप, जागीर, योग और घट रूपक विल्कुल ही नये हैं । वादल, हाथी, सेना, नदी आदि मे भी प्रस्तुतीकरण नितान्त मौलिक है ।

२. सागरूपको मे परिगणना है किन्तु रस की प्रधानता के कारण उसमे नीरसता का समावेश नही होने पाया है ।

३. रूपकों का प्रयोग सदर्भो मे सर्वथा अनुकूल है । अलकारिता के साथ वस्तु-व्यंजना उनसे भरपूर हो पाती है । अलकार केवल भाषा के सौन्दर्य को नही बढ़ाते, अर्थ-सौरस्य का वर्धन करते हैं ।

४. भावानुभूति इतनी प्रमुख होती है कि प्रतीत होता है कि रूपक-रचना सहज रूप मे हुई है । कवि भावुकता मे तल्लीन है, रूपक के अ गाग स्वतः निकलते गये हैं ।

५. कवि का ध्यान रूपक के शास्त्रीय पक्ष पर अधिक नही होता, वह एक चमत्कार दिखाने का उद्देश्य नही रखता, इसीलिए प्राय' रूपक के अंगाग उपमा, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा आदि के रूप मे प्रकट होने लगते हैं । रूपक का अलकारत्व कभी इतना मुखर नही होता कि भाव का आच्छादन कर ले, वह तो रसानुभूति की चिलमन के पीछे रह कर उसी के सौन्दर्य मे चार चाँद लगाता है ।

६. सूरदास की रूपक-रचना सर्वथा मौलिक है, घिसी-पिटी पद्धति का अनुसरण उसमे नही मिलता । अलकारवादी कवियो की पद्धति मे वडे-वड़े रूपको की चमत्कारिक रचना सूरदास मे कम मिलती है ।

उत्प्रेक्षा

उपमा और रूपक की अपेक्षा उत्प्रेक्षा मे कमनीयता अधिक होती है, क्योंकि

उत्प्रेक्षा में कल्पना का योग अधिक होता है। उत्प्रेक्षा की व्युत्पत्ति ही बतलाती है कि उसमें उत्प्रेक्षण अर्थात् बलपूर्वक देखना होता है। इस बल का आधार कल्पना होती है। उत्प्रेक्षा मे उपमान कल्पित होता है। वास्तविक वस्तु (उपमेय) पर अवास्तविक वस्तु की सम्भावना करके काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि की जाती है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा मे काल्पनिक उपमान की सभावना अनिवार्य होती है। उपमा मे सादृश्य होता है और रूपक मे आरोप, किन्तु उत्प्रेक्षा मे सभावना है, जो कल्पना-प्रसूत होती है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा का चमत्कारिक होना स्वाभाविक है। सादृश्य तीनों का मूल उद्देश्य है। सौन्दर्यबोध के लिए कल्पना का सम्बल आवश्यक है। उपमा मे कल्पना ऋजु होती है, उत्प्रेक्षा में उत्तुंग और रूपक मे पर्यवसित। इस प्रकार उत्प्रेक्षा दोनो के मध्य की वस्तु है और वह उपमा और रूपक दोनों का उपकार करने वाली है। इसीलिए उपमाओ और रूपको के जो उद्धरण ऊपर दिये गये हैं उनमें प्राय: उत्प्रेक्षा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान है। भ्रमरगीत की अलंकार-योजना मे उत्प्रेक्षाओ की निश्शेष (Exhaustive) गणना सम्भव नही है, अतः विशेष विलक्षण उत्प्रेक्षाएँ ही नीचे प्रस्तुत हैं—

देखियत कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सो, भई बिरह जुर जारी।
... ...
निसिदिन चकई पिय जु रटति है, भई मनो अनुहारी ॥ (३८१०)

यमुना का जल तो काला है ही किन्तु सम्भावना की है कि वह काली इसलिए हो गई है कि कृष्ण-विरह मे जल गई है। इस प्रकार इसमे बिना कारण के कारण की कल्पना हुई है। इसमे हेतुत्प्रेक्षा है। पद मे साग रूपक है, किन्तु उसकी नीव उत्प्रेक्षा ही है। रूपक की भाँति उपमाएँ भी उत्प्रेक्षा पर आधारित हैं। जैसे—

अब कछु औरहि चाल चली।
मदन गुपाल बिना या ब्रज की सबै बात बदली।
गृह कंदरा समान सेज भइ सिंहहु चाहि बली।
सीतल चन्द सुनौ सखि कहियत, तातै अधिक जली ॥ (३८१६)

यहाँ गृह कन्दरा के समान और सेज सिंह के समान कही गई है। किन्तु इस समानता का आधार सम्भावना है। गृह मानो कदरा और सेज मानो सिंह है। सभी सुखदायक वस्तुए विपरीत हो गई हैं। इस वैपरीत्य में अहेतु में हेतु ही है, अतः इसमें हेतूत्प्रेक्षा ही है।

गोपियो के विरह-वर्णन-क्रम मे पावस-प्रसंग के सारे रूपकों और उपमाओ मे उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की गई है—

माई रे ये मेघ गाजै।
मानहु काम कोपि चढ्यौ, कोलाहल कटक बढ्यौ
बरही पिक चातक जय जय निसान बाजै। (३९२०)
देखियत चहुँ दिसि तै घन घोरे।
मानो मत्त मदन के हथियनि बल करि बंधन तोरे ॥ (३९२२)

दसहूँ दिसा सधूम देखियत, कंपति है अति देह।
मनो चलत चतुरंग चमू, नभ बाढ़ी है खुर-खेह ॥ (३९२४)
गरजत गगन गिरा गोविंद मनु, सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास सुमिरि स्याम के, विकल भई व्रजनारि ॥ (३९३४)
सखी कोउ नई बात सुनि आई।
यह व्रजभूमि सकल सुरपति सौं, मदन मिलकि करि पाई ॥ (३९४३)
छूटि गई ससि सीतलताई।
मनु मोहिं जारि भसम कियौ चाहत, साजत सोइ कलंक तनु काई (३९७०)
यह ससि सीतल काहैं कहियत।
... ...

एक कलक मिट्यौ नहिं अजहू, मनौ दूसरौ चहियत।
याही दुख तैं घटत बढत नित, निसा नींद रिपु गहियत ॥ (३९७१)
दूरि करहि बीना कर धरिबौ।
रथ थाक्यौ, मानौ मृग मोहे, नाहिन होत चन्द कौ ढरिबौ ॥ (३९७६)
सुने व्रज लोग आवत स्याम।
जहँ तहाँ तैं सबै धाई, सुनत दुर्लभ नाम।
मनु मृगी बन जरत व्याकुल, तुरत बरष्यौ नीर ॥ (४०८२)
रत्न जटित कुंडल स्रवननि वर, परत कपोलनि झाँई।
मनु दिनकर प्रतिबिंब मुकुर महँ, ढूँढत यह छवि पाई ॥ (४१७९)
ऊधौ हरि मथुरा कुबिजा गृह, वहै नेम व्रत लीन्हौ।
चारि मास बरषा कैं आगम, मुनिहु रहत इक ठौर।
दासी धाम पवित्र जानि कै, नहिं देखत उठि ओर ॥ (४२६३)
ऊधौ हरि के औरै ढग।
... ...

मनौ मरीचि देख तन भूल्यौ भूपथ सुरभि कुरग। (४५६६)
भरि भरि नैन नीर ढारति हैं, सजल करति अति कंचुकि के पट।
मनहु विरह की बिज्जुरता लगि, लियौ नेम सिव सीस सहस घट। (४७४१)

(नेत्रों की जलधारा अनवरत रूप से हृदय पर पड़ रही है, मानो जलन से बचने के लिए शिव (कुच) अपने सिर पर हजार घड़े जल डलवा रहे हैं।)

काजर मिलि लोचन बरषत अति, दुख मुख की छवि रोयै।
राहु केतु मानौ सुमीड़ि विधु, अंक छुड़ावत धोएं ॥ (४७६२)
आंसु सलिल प्रवाह मानौ, अर्घ नैननि देत।
चवर अंचल, कुच कलस, वर पानि पद्म चढ़ाइ।
सुमिरि तुम्हरी प्रगट लीला, कर्म उठतीं गाइ ॥ (४७६३)

अपह्नुति

उत्प्रेक्षा की भाँति ही उपमा का चमत्कृत रूप अपह्नुति मे मिलता है। इसमे प्रकृत वस्तु रूप उपमेय का निषेध करके अप्रकृत वस्तु (उपमान) को प्रतिष्ठित किया जाता है। इस प्रक्रिया मे चमत्कार का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भ्रमरगीत मे अपह्नुति की उतनी संख्या नही मिलती, जितनी उपमा या उत्प्रेक्षा की, फिर भी कुछ अपह्नुतियाँ द्रष्टव्य हैं—

(इहिं बन) मोर नही ये काम-बान।(३६४५)
चातक न होइ कोइ विरहिनि नारि। (३६५४)
बहुरौ आइ पपीहा कैं मिस मदन हनत निज बानन। (४५६५)
सुनहु स्याम वै सखी सयानी पावस रितु राधेहिं न सुनावति।
घन देखत गिरि कहति कुसल मति, गरजत गुहा सिंह समुझावति।
नहिं दामिनि द्रुम दवा सैल चढ़ि, करि बयारि उलटी झर लावति।
नाहिंन मोर बकत पिक दादुर, ग्वाल मडली खगनि खिलावति।
नहिं नभ वृष्टि झरत झरना जल, परि परि बुंद उचट इत आवति।।
(४७६५)

आक्षेप

आक्षेप सादृश्य-गर्भ का एक ऐसा अलकार है जिसमें निषेधाभास के द्वारा विधि की व्यंजना की जाती है। उपालभ मे इसके द्वारा कथनशैली को चमत्कारिक बनाया जाता है। कथन मे प्रत्यक्ष निषेध न करके प्रकारान्तर से निषेध सूचित करना आक्षेप है। उद्धव-गोपी-सवाद मे गोपियाँ उद्धव के बताये हुए ज्ञान-मार्ग का विरोध करती है किन्तु अनेक बार वे प्रत्यक्ष निषेध नही करतीं, वे प्रकारान्तर से निषेध सूचित करती हैं। जैसे—

देन आए ऊधौ मत नीकौ।
आवहु री मिलि सुनहु सयानी लेहु सुजस कौ टीकौ।
तजन कहत अंबर आभूषन, गेह नेह सुत ही कौ। (४१३३)

इस प्रकार एक ओर तो कहती हैं इनका मत जो सुयश का टीका है लो। किन्तु दूसरी पक्ति मे अबर-आभूषण, गृह-सुत आदि के नेह को छोड़ने का कथन करके व्यजना से उसी का निषेध सूचित किया गया है।

ऊधौ और कछू कहिवै कौ।
मन मानै सोऊ कहि डारौ हम सब सुनि सहिवेकौं ।।
यह उपदेश आजु लौं ऐसौ, काननि सुन्यौ न देख्यौ।
नीरस कटुक तपत अति दारुन चाहत हम उर लेख्यौ। (४१३७)
ऊधौ धनि तुम्हरौ व्यौहार।
धनि वे ठाकुर धनि तुम सेवक धनि हम वर्तनहार।
काटहु अब बबूर लगावहु चदन की करि वारि।
हमको जोग भोग कुवजा कौ ऐसी समुझ तुम्हारि। (४५२८)

गोपियां व्यंग्य भरी उक्तियो से उद्धव के ज्ञान की प्रशसा करती हैं कि आप बड़ी हितकामना से हमारे लिए जो उपदेश लाये है उसे हम मानने को सर्वथा प्रस्तुत हैं किन्तु कठिनाई तो यह है कि मन है ही नही, यदि मन हमारे पास होता तो हम अवश्य ही जोग को स्वीकार करती—

नातरु कहा जोग हम छांड़हिं, अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तो झँखति स्याम की करनी, मन लै जोग पठाए ॥
अजहूँ मन अपनौ हम पावै, तुम तै होइ तौ होइ।
सूर सपथ हमे कोटि तिहारी, कही करैंगी सोइ ॥ (४३३८)

अप्रस्तुत प्रशंसा

जहाँ अप्रस्तुत के विशद वर्णन से सदृश रूप, गुण, धर्म वाले प्रस्तुत की प्रतीति होती है वहाँ अप्रस्तुत प्रशसा अलकार माना जाता है। सम्पूर्ण भ्रमरगीत मे उद्धव जी को मधुकर, भ्रमर, अलि आदि नामो से सम्बोधित किया गया है। भ्रमर है अप्रस्तुत। इस अप्रस्तुत का ही विशद वर्णन गोपियो के उपालभ मे मिलता है। इसके द्वारा उद्धव या कृष्ण के सम्बन्ध मे कथन हुए हैं। इस प्रकार सामान्यतया सारे भ्रमरगीत मे ही अप्रस्तुत प्रशसा अलंकार माना जा सकता है। जैसे—

रहु रे मधु मधुकर मतवारे।
लोटत पीत पराग कीच मैं, नीच न अंग सम्हारैं ॥
बारम्बार सरक मदिरा की, अपरस रहत उघारे। (४१२३)

मधुकर काके मीत भए।
त्यागे फिरत सकल कुसुमावलि, मालति भुरैं लिए ॥ (४१२५)

मधुकर हम न होहिं वै वेलि।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रङ्ग करत कुसुम रस वेलि ॥ (४१२७)

ऐसी है कारेन की रीति।
मन दे सरवस हरत परायौ, करत कपट की प्रीति। (४३७५)

मधुकर देखि स्याम तन तेरौ।
या मुख की सुनि मीठी बातैं, डरपत है मन मेरो ॥
काहे चरन छुअत रस लपट, बरजत हौ बेकाज।
परसत गात स्रवत कुच कुंकुम, यहऊ करि कछु लाज ॥ (४३७६)

विलग जनि मानौ ऊधौ कारे।
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवैं ते कारे ॥ (४३८१)

मधुकर तुम रस लपट लोग।
कमल कोष बस रहत निरन्तर हमहि सिखावत जोग ॥
अपने काज फिरत वन अन्तर निमिस नहीं अकुलात।
पुहुप गए बहुरौ वल्लिन के नैकु निकट नहिं जात ॥ (४६००)

अप्रस्तुत प्रशंसा अलकार वहाँ भी होता है, जहां किसी प्रकार के अप्रस्तुत से प्रस्तुत को व्यंजित किया जाता है। भ्रमरगीत मे इस प्रकार की अप्रस्तुत प्रशंसा बहुत हैं। गोपियो की विरहावस्था का वर्णन चन्द्रमा, मोर, पपीहा, वर्षा आदि के वर्णनों द्वारा किया गया है।

हमारे माई मोरवा बैर परे।
घन गरजत बरज्यो नहिं मानत त्यौं त्यौं रटत खरे। (३९४८)
कोऊ माई वरजे री इन मोरनि।
टेरत बिरह रह्यो न परे छिन, सुनि दुख होत करोरनि। (३९४९)

पपीहा जो पी-पी की रट लगाता है विशेषतया गोपियो की विरहावस्था का द्योतक है। उसमे उनकी आत्मा बोलती है। तभी वे कहती हैं—

वहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारौ।
वासर रैनि नाम लै बोलत, भयौ विरह जुर कारौ।
आप दुखित पर दुखित जानि जिय, चातक नाम तुम्हारो।
देख्यौ सकल विचारि सखी जिय, विछुरन कौ दुख न्यारौ। (३९५६)

यहाँ पपीहा के विरह-ज्वर का वर्णन न होकर गोपियो की विरह-वेदना का वर्णन है। कार्य के द्वारा कारण की प्रतीति अप्रस्तुत प्रशंसा मे होती है। विरह कारण और अश्रु-वर्षा कार्य हैं। अश्रु वर्षा के वर्णन से गोपी विरह-दशा का चित्रण किया गया है—

सखी इन नैननि तै घन हारे।
बिनहीं रितु वरषत निसि वासर, सदा मलिन दोउ तारे। (३८५३)
निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पर, जब से स्याम सिधारे। (३८५५)

इसी प्रकार कारण के द्वारा कार्य की भी प्रतीति अप्रस्तुत प्रशसा मे होती है। ऋतु उद्दीपक होती है। इस प्रकार षट्ऋतु और विशेषतया पावस ऋतु, चन्द्रोदय आदि का वर्णन कारण-निबन्धना के रूप मे भ्रमरगीत मे प्रस्तुत किये गये हैं। गोपियाँ इसी का आधार लेकर प्रश्न करती हैं—

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि।
किधौं हरि हरषि इन्द्र हठि वरजे, दादुर खाए सेषनि॥
किधौं उहिं देस वगनि मग छाड़े धरनि न बूंद प्रवेसनि।
चातक मोर कोकिला उहिं वन, बधिकन बधे विसेसनि॥
किधौं उन्ह देस वाल नहिं झूलति गावति सखि न सुदेसनि॥ (३९२३)

पद मे वादल, दादुर, वग-पंक्ति, बूँद, चातक, मोर, कोकिल आदि के उल्लेख से उनके द्वारा उद्दीप्त विरह-वेदना की प्रतीति कराई गई है। गोपियाँ कहती हैं कि ये उद्दीपन कारक मथुरा मे नही हैं। इस प्रकार कृष्ण विरह की कल्पना से अपने ही विरह का वर्णन कर रही हैं। अतः अप्रस्तुत कृष्ण-विरह के कारणों के उल्लेख से प्रस्तुत रूप अपने विरह का निवेदन किया है।

अप्रस्तुत प्रशसा का एक रूप वह भी है, जहाँ सामान्य अप्रस्तुत से विशेष प्रस्तुत की

तथा विशेष अप्रस्तुत से सामान्य प्रस्तुत की प्रतीति होती है। सामान्य कथन के माध्यम से गोपियों ने अनेक बार कृष्ण की प्रतीति कराई है। जैसे—

मधुप बिराने लोग बटाऊ।
दिन दस रहे आपने स्वारथ, तजि फिरि मिले न काऊ। (४२८९)

अथवा

बटाऊ होहिं न काके मीत
सग रहत सिर मेलि ठगौरी, हरत अचानक चीत। (४२९०)
मधुकर स्याम कहा हित मानै।
कोऊ प्रीति करै कैसेहू, वह अपनो गुन ठानै।

... ...

भँवर भुजग काक कोकिल कौ, कबिगन कपट बखानै।
सूरदास सरवस जौ दीजै, कारौ कृतहिं न मानै।। (४३६६)

समासोक्ति

समासोक्ति अलंकार मे प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप होता है। जयदेव के चन्द्रालोक का आधार लेकर यशवतसिंह जी ने भाषा भूषण मे कहा है कि जहाँ प्रस्तुत मे अप्रस्तुत का स्फुरण हो वहाँ समासोक्ति होती है।[1] इस स्फुरण का आधार श्लेष माना जाता है। श्लेपार्थ द्वारा जब विशेषण, लिग और क्रिया की समानताके कारण प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होती है तब समासोक्ति मानी जाती है। भागवत के भावानुवाद के रूप मे निम्न पद मे चरण के पास बैठे हुए भ्रमर से गोपी कहती है—

मधुकर देखि स्याम तन तेरौ।
या मुख की सुनि मीठी बातै, डरपत है मन मेरौ।
काहे चरन छुवत रस लंपट, बरजत हौं बेकाज।
परसत गात स्रवत कुच कुंकुम, यहऊ करि कछु लाज।(४३७६)

स्पष्ट है यहाँ कथन भ्रमर के प्रति ही है, किन्तु श्लेष के आधार पर सभी कथन उद्धव पर चरितार्थ होते है अत. इसमे समासोक्ति अलकार है।

पर्यायोक्ति

उक्तिवैचित्र्य, प्रधान कथन मे पर्यायोक्ति अलकार होता है। पर्यायोक्ति मे सीधे ढग से कथन न करके प्रकारान्तर से अभीष्ट का कथन किया जाता है। गोपियो ने अनेक बार अभीष्ट का कथन प्रकारान्तर से किया है। जैसे—

---

१. समासोक्ति प्रस्तुत फुरै अप्रस्तुत वर्नन माझ।
कुमुदिनि हू प्रफुलित भई, देखि कलाधर साझ।। (भाषाभूषण ९५)

सुनियत मुरली देखि लजात।
दूरहिं ते सिंहासन बैठे, सीस नाइ मुसकात ॥
मोरपच्छ को व्यंजन विलोकत, बहरावत कहि बात।
जौ कहु सुनत हमारी चरचा चालत हीं चपि जात ॥ (३८१२)

मुरली को देखकर कृष्ण का लज्जित होना, मोरपख के पंखे को देकर बहलाना और गोपियों की चर्चा सुनकर दब जाना इस कारण है कि कृष्ण मे गोपियो के प्रति प्रीति सच्ची नही है। इस प्रकार कार्य के कथन से कारण की प्रतीति कराई गई है—

ऊधौ भली करी गोपाल।
आपनु तौ हरि आवत नाही विरमि रहे इहिं काल ॥
चदन चद हुते तब सीतल, कोकिल सबद रसाल।
अब समीर पावक सम लागत, सब ब्रज उलटी चाल ॥
हम तौ न्याइ इतौ दुख पावैं, ब्रज बसि गोपी ग्वाल।
सूरदास स्वामी सुख सागर, भोगी भौंर भुवाल ॥ (४३५५)

गोपियाँ कहती हैं कि ब्रज मे अनेक प्रकार के कष्ट है। समस्त प्रकृति हमारे विपरीत है। हम तो ग्राम की अहीरनें हैं, हम तो फिर भी दुख सह सकती है किन्तु कृष्ण तो सुखसागर, भोगी, राजा है। वे भला दुख कैसे सहते ? इसलिए अच्छा है जो यहाँ नही आते। इस प्रकार *व्यंग्य से कृष्ण की कुब्जा-विषयक विलासिता और स्वार्थपरता पर प्रकाश डाला है।* किन्तु इसमें शुद्धध्वनि नही है। गुणीभूत व्यंग्य है। इच्छा कहने की तो यह है कि हम कृष्ण-विरह मे दुखी हैं वे इस समय अविलम्ब आये, किन्तु इस मनोभावना को सीधे न कहकर विपरीत लक्षणा से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार प्रकारान्तर से कथन होने से यहाँ पर्यायोक्ति मानी जायेगी।

मोहन माँग्यौ अपनौ रूप।
इहिं ब्रज वसत अँचे तुम बैठीं ता बिनु उहाँ निरूप ॥ (४३८६)

कृष्ण व्रज मे रहते हुए सगुण थे, किन्तु मथुरा पहुच कर निर्गुण हो गये है। इस परिवर्तन का एक अद्‌भुत कारण यह है कि राधा जी ने कृष्ण के स्वरूप को हृदयगम कर लिया है। उद्धव जी उपदेश के बहाने उसी रूप को राधा से माँगने आये हैं। इस प्रकार का विनोदात्मक कथन कृष्ण के निराकार रूप का निराकरण करने तथा राधा की एकनिष्ठता को सिद्ध करने का वक्र रूप हैं।

सच तो यह है कि भ्रमरगीत के उपालम्भो मे ऐसी विशिष्ट भगिमाए भरी पडी हैं। पर्यायोक्ति का शुद्ध अलंकार-स्वरूप उसमे भले ही न मिले, किन्तु भाव-प्रेरित-वक्तृताओ की प्रकृति पर्यायोक्ति के निकट जा पड़ती है।

व्याजनिन्दा

शिष्ट उपालम्भ मे व्याजनिन्दा—प्रशसा के द्वारा निन्दा—का उपयोग सर्वाधिक होता है। भ्रमरगीत एक उपालम्भ काव्य है। उद्धव जैसे परम ज्ञानी, वयोवृद्ध कृष्ण-सखा

के प्रति हृदय के कटु उद्गार निकाले गये है, अतः स्वाभाविक रीति से व्याजनिन्दा का प्रयोग अनेक स्थलो पर हुआ है। साहित्यदर्पण आदि शास्त्र-ग्रन्थो मे व्याजनिन्दा को भी व्याजस्तुति ही कहा गया है किन्तु हिन्दी के अलकार ग्रन्थो मे व्याजस्तुति के साथ व्याज-निन्दा का भी उल्लेख हुआ है। भ्रमरगीत की कटूक्तियो मे स्तुति की मात्रा बहुत कम है। अतः इन्हे व्याजनिन्दा कहना ही समीचीन है। व्याजनिन्दा के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

मधुवन सब कृतज्ञ धरमीले।
अति उदार परहित डोलत हैं, बोलत बचन सुसीले।
प्रथम आइ गोकुल सुफलकसुत, लै मधुरिपुहिं सिधारे।
उहाँ कंस ह्याँ हम दीननि कौ, दूनौ काज सँवारे।
हरि कौं सिखै सि खावन हमकौ, अब ऊधौ पगु धारे।
ह्वाँ दासी रति की कीरति कै, इहाँ जोग विस्तारे॥ (४२१३)
मधुकर महा प्रबीन सयाने।
जानत तीन लोक की बातैं अबलनि काज अयानैं॥ (४४३४)
सखी री मथुरा मे द्वै हस।
वे अक्रूर और ये ऊधौ, जानत नीकै गंस। (४२०६)
चारि मास बरषा कौ आगम, मुनिहु रहत इक ठौर।
दासी धाम पवित्र जानि कै, नहि देखत उठि और॥ (४२६३)

काव्यलिंग

भाषाभूषण मे इस अलकार का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

काव्यलिंग जब युक्ति सौ अर्थ समर्थन होय।
तौकौं जीत्यो मदन जो, मो हिय मै सिव सोइ।[1]

जहाँ कोई चमत्कारिक बात कही जाती है और उसे युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए उसका उपयुक्त कारण दे दिया जाता है वहाँ यह अलकार होता है। उपालम्भ इस प्रकार की चमत्कारपूर्ण उक्तियो से भरा होता है। इसीलिए भ्रमरगीत मे भी काव्यलिंग के सुन्दर उदाहरण बहुत उपलब्ध होते हैं। गोपियो ने उद्धव के ज्ञानोपदेश को असिद्ध करने के लिए तथा अपनी विरहदशा एव कृष्ण की कठोरता दिखाने के लिए तर्कपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किये है। जैसे—कृष्ण और उद्धव के शरीर के काले रग को दृष्टि मे रख कर पहले गोपियाँ उनके रूप, गुण और सचाई का उपहास करती है। उन्हे अविश्वासी, कपटी, कुटिल, कठोर, लपट और स्वार्थी कहती है। बाद मे अपने मत के समर्थन में निम्न पद प्रस्तुत करती हैं और सकारण अपने कथन को युक्तियुक्त कहती हैं—

बिलग जनि मानहुँ ऊधौ कारे।
वह मथुरा काजर की ओबरी, जे आवहिं ते कारे।

१. भाषाभूषण १५३

तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे कुटिल भँवारे।
कमलनैन की कौन चलावै, सबहिनि मैं मनियारे ॥ (४३८१)

कृष्ण-वियोग मे तप्त गोपियाँ उद्धव के आगमन तथा उनके उपदेश से होती तो क्षुब्ध है किन्तु वे विषम भाव को दबा कर कहती हैं कि आपने आकर वहुत अच्छा किया। यथार्थ से भिन्न चमत्कारिक कथन को उन्होने सकारण सिद्ध भी कर दिखाया—

ऊधौ भली करी ह्यां आए।
तुम देखे जनु माधौ देखे, दुख वै ताप नसाए ॥ (४४०१)

इसी प्रकार परम विरहिणी और दास भाव से अनुरक्त गोपियां उलटी बात करती हैं कि हम तो न विरहिणी हैं और न दास, साथ ही, दोनो के कारण देकर अपने कथन को चरितार्थ भी कर देती हैं—

(ऊधौ) ना हम बिरहनि ना हम दास।
विरही मीन मरै जल बिछुरै, छाँडि जियन की आस।
दास भाव नहिं तजत पपीहा, बरषत मरत पियास ॥ (४४३२)

इसी प्रकार निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

ऊधौ मन नहि हाथ हमारे।
रथ चढ़ाइ हरि संग गए लै, मथुरा जबहिं सिधारे। (४३३८)
ऊधो मन न भए दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग, को आराध ईस। (४३४५)
ईंहि उर माखन चोर गड़े।
अब कैसेहुँ निकसत नहिं ऊधौ, तिरछे ह्वै जु अड़े ॥ (४३५०)
मधुकर भली करी तुम आए।
वे बातै कहि कहि या दुख में, ब्रज के लोग हंसाए ॥ (४५०५)
ऊधौ मन माने की बात।
दाख छुहारा छांडि अमृत फल, विषकीरा विष खात ॥ (४६४०)

दृष्टान्त

भ्रमरगीत मे दृष्टान्त अलकार का प्रयोग बहुत है। गोपियाँ अपने कथन और आरोपों को प्रभविष्णु बनाने के हेतु बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावयुक्त उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। दृष्टान्त अलंकार मे दो या अधिक स्वाधीन वाक्य होते हैं, एक पर दूसरे की छाया दीख पड़ती है। यह गम्योगपम्याश्रय वर्ग का अलकार है। वाचक शब्द के विना दो पृथक् सत्य-कथनो का साम्य प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरण—

अलप वयस अबला अहीरि सठ तिनहिं जोग कत सोहै।
बूची खुभी, आधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुड़ली पटिया पारौ चाहे, कोढ़ी लावै केसरि।
बहिरी पति सौं मतौ करै तौ, तैसोइ उत्तर पावै।
सो गति होइ सबै ताकी, जो ग्वारिनि जोग सिखावै ॥ (४१६६)

कहौ मधुप कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खांड़े ।
कहु षटपद कैसे खैयतु हैं, हाथिनि के सग गांड़े ।
काकी भूख गई बयारि भखि, बिना दूध घृत मांड़े ॥ (४२२३)
नाहिन मीत वियोग बस परे, अनव्यौंगे अलि बावरे ।
वरु मरि जाइ भखैं नहिं तिनुका, सिंह को यहै स्वभाव रे ॥
स्रवन सुधा मुरली के पोषे, जोग जहर न खवाव रे ।
सूरजदास कहा लौं कीजै, थाही नदिया नाव रे ॥ (४२३५)
जासौं उपजी प्रीति रीति अलि, तासौं बनै निबाहै ।
सूर कहा लै करै पपीहा, एते सर सरिता हैं ॥ (४२४४)
जोरी भली बनी है उनकी, राजहंस अरु काग ।
सूरदास प्रभु ऊख छांड़ि कै, चतुर चचोरत आग ॥ (४२७१)
जोग ठगौरी व्रज न बिकैहै ।
मूरी के पातनि के बदलें, को मुक्ताहल दैहै ॥
दाख छांड़ि कै कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहैं ।
गुन करि मोही सूर सांवरे, को निरगुन निरवहै ॥ (४२८३)
जे रस रसीं स्याम सुंदर के ते क्यो सहैं वियोग ।
पूछहु जाइ चकोर चन्द हित, दरसन जो सुख पावत ।
चातक स्वाति बूंद चित बांध्यौ, जलनिधि मनहिं न आवत ।
अरु रस-कमल सिलीमुख जानत, कटक सूल सहै जो ।
जाने रसिक मीन बिछुरन दुख, मरतहुँ प्रीति लहै जो ॥ (४३१७)
अब काहे कौं लोन लगावत, विरह अनल कै दाहि ।
परमारथ उपचार कहत हौ, विरह व्यथा है जाहि ।
जाकौं राजरोग कफ व्यापत, दह्यौ खवावत ताहि ॥
सुन्दर स्याम सलोनी मूरति, पूरि रही हिय माँहि ।
सूर ताहि तजि निरगुन सिंधुहिं, कौन सकै अवगाहि ॥ (४३४४)
अपने सगुन गोपालहिं माई इहिं बिधि काहैं देति ।
ऊधौ की इन मीठी बातनि, निर्गुन कैसै लेति ॥
काकी भूख गई मन लाडू, सो देखहु चित चेति ।
सूर स्याम तजि को भुस फटकै, मधुप तुम्हारे हेति ॥ (४४८०)
जद्यपि हरि हम तजी अनाथ करि, तदपि रहति चरनन रस-रासी ।
अपनी सीतलता नहिं छांडत, जद्यपि बिधु भयौ राहु-गरासी ॥ (४५४७)
रस की बात मधुप नीरस सुनि, रसिक होइ सो जानै ।
दादुर बसे निकट कमलनि कै, जनम न रस पहिचानै ॥
अलि अनुराग उडत मन बांध्यौ, घैर सुनत नहिं कानै ।
सरिता चली मिलन सागर कौं, कूल सबै द्रुम मानै ॥ (४५७९)

इनके कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अनारी।
अपनो दूध छांडि को पीवै, खारे कूप कौ वारी ॥ (४५८४)
अबला कहा जोग मत जानै, मनमथ व्यथा विलोयें।
सूरदास क्यों नीर चुवत है, नीरस वसन निचोयें ॥ (४७६२)

अर्थान्तरन्यास

दृष्टान्त से मिलता-जुलता ही अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। अन्तर दोनो मे केवल यह है कि अर्थान्तरन्यास मे सामान्य कथन की विशेष के द्वारा और विशेष की सामान्य के द्वारा पुष्टि होती है, दृष्टान्त मे दोनों ही वाक्य विशेष होते हैं। गोपियाँ अपनी की हुई प्रीति पर पश्चात्ताप करती है। इस प्रकार सामान्य कथन की अनेक विशेष उदाहरणो से पुष्टि करती हैं—

मति कोउ प्रीति कै फंग परै।
सादर स्वाति देखि मन मानै, पखी प्रान हरै।
देखि पतंग कहा कुछ कीन्यौ, जीव को त्याग करै।
अपने मरिवे तैं न डरत है, पावक पैंठि जरै।
और सनेही तोहि बताऊँ, केतकि प्रेम धरै।
सारग सुनत नाद रस मोह्यौ, मरिवे ते न डरै।
जैसै चकोर चन्द कौं चाहत, जल बिनु मीन मरै।
सूरदास प्रभु सो ऐसे करि, मिले तौ काज सरै ॥ (३६०६)

इसी प्रसंग मे तीन और पद हैं—प्रीति कर काऊ सुख न लह्यौ (३६०७), हैली हिलगकी पहिचानि (३६०८) प्रीति तो मरिबोऊ न विचारै (:६०६) इन पदो मे समान विचारधारा है और सब मे अर्थान्तरन्यास के अच्छे उदाहरण प्राप्त हैं।

विशेष वाक्यो का सामान्य के द्वारा समर्थन निम्न पद मे देखा जा सकता है—

ऊधौ तुम सब साथी भोरे।
मेरे कहैं बिलग जनि मानहु, कोटि कुटिल लै जोरै ॥
वे अक्रूर क्रूर कृत जिनके, रीते भरि भरि ढोरे।
आपुन स्याम स्याम अन्तर मन, स्याम काम मैं बोरे ॥
तुम मधुकर निरगुन निजु नीके, देखे फटकि पछोरे।
सूरदास कारेन की सगति, को जावै अब गोरे ॥ (४३८२)

श्याम रग पर और भी अनेक पद भ्रमरगीत मे उपलब्ध हैं। इनमे प्रथम प्रकार का 'अर्थान्तरन्यास अर्थात् सामान्य का समर्थन विशेष वाक्यो से मिलता है—

सखी री स्याम सबै इक सार।
मीठे वचन सुहाए बोलत अन्तर जारनहार ॥
भंवर कुरंग काक अरु कोकिल कपटिन की चटसार।
कमलनैन मधुपुरी सिधारै मिटि गयो मंगलचार ॥

कारी घटा देखि वादर की, सोभा देति अपार ।
सूरदास सरिता सर पोषत, चातक करत पुकार । (४३६८)

इसी प्रकार मधुकर स्याम कहा हित कीजै (४३६९) मधुकर कह कारे की न्याति (४३७२) ऐसी कारने की नीति (४३७५) आदि पद अर्थान्तरन्यास के सुन्दर उदाहरण है ।

विरोधमूलक अलंकार

विरोधाभास, विषम, विभावना, विशेषोक्ति और व्याघात अलकार विरोधमूलक हैं । ये अलकार प्रमुखतया चमत्कारमूलक हैं । विरोधके द्वारा उक्ति को चमत्कृत करना इनका लक्ष्य होता है । भ्रमरगीत मे इस प्रकार के अलकारो का बाहुल्य नही मिलता । सूरदास जी ने सादृश्यमूलक अलकारो की भांति इनका सचेष्ट प्रयोग नही किया है । हाँ, कही-कही प्रतिक्रियात्मक उक्तियो के रूप मे ही विरोधमूलक अलकार स्वत. निकल पडे है । विरोधाभास—वास्तविक विरोध न होने पर भी विरोध का आभास प्रतीत होने की स्थिति मे यह अलकार होता है । अर्थात् जहाँ कथन शैली का चमत्कार प्रथम दृष्टि मे तो विरोध प्रस्तुत करता है, किन्तु समग्र अर्थ के समझने पर विरोध का अन्त हो जाता है । जैसे —

वे अक्रूर क्रूर कृत जिनके, रीते भरि भरि ढोरे । (४३८२)
जानत तीनि लोक की महिमा, अवलन काज अयाने ।। (४४३४)
जहं न अनग रस रूप नेह को तह दइ गति जु अनग ।
जो अनग वपु, अमुर दासिका, सो भइ नूतन अ ग ।। (४५६६)
रस की बात मधुप नीरस सुनि, रसिक होइ सो जाने । (४५७९)

विषम

जहाँ एक-दूसरे से मेल न खाने वाली बातो का मेल दिखाया जाता है, वहाँ विषम अलकार होता है । यह विरोधाभास का विपरीत होता है । उसमे तो विरोध वास्तविक नही होता । किन्तु यहाँ विरोध सत्य होता है । इस प्रकार विरोध की यथार्थता ही यहाँ उक्ति मे चमत्कार लाती है । जैसे —

कहँ वह प्रीति कहाँ यह बिछुरनि, कहँ मधुवन की रीति ।
अब की बेर मिलो मनमोहन, बहुत भई विपरीति ।। (३८०३)
सुनि सुनि ऊधौ आवति हाँसी ।
कहँ वै ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहाँ कस की दासी ।। (४२६२)
अहि मयक, मकरंद कज अलि दाहक गरल जिवाए ।। (३९६२)
सरद निसा अनिल भई, चंद भयो तरनि ।
तन मै सन्ताप भयो, दुरयो आनन्द घरनि । (३९६३)
छूटि गई ससि सीतलताई ।
मनु मोहि जारि भसम कियौ चाहत
साजत सोइ कलक तनु काई । (३९७०)

हर कौ तिलक हरि बिनु दहत ।
वै कहियत उडुराज अमृतमय, तजि सुभाव सो मोंहि निबहत । (३९७३)
कहँ अबला कहँ दसा दिगम्बर मष्ट करौं पहिचानैं । (४१४०)
मधुर सकल खग कटुक वदत हैं, चन्द अगिनि अनुसारें ।
सुमन बान सम, गुहा कुंज गृह, धूम मरुत तन जारे ।। (४१६७)
हेम काँच, हंस काग, खरि कपूर जैसो ।
कुबजा अरु कमल-नैन, संग बन्यो ऐसो । (४१७२)
हमसौं उनसौं कौन सगाई ।।
हम अहीर अबला ब्रजवासी, वै जदुपति जदुराई । (४४१८)
संग लिए कुबजा दुलहिनि कौं, करत फिरत मन भाए ।
भोग भुगुति दासी कौ दीन्हौ, अरु सिंगार सुहाए ।
हमकौं जोग जुगुति लिखि मोहन, मधुकर हाथ पठाए ।। (४५७३)

विभावना

कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति मे जो चमत्कार होता है उसे विभावना कहते हैं । विभावना विशेष भावना को कहते हैं । सामान्य भावना तो यह है कि जहाँ कारण होगा वही कार्य होगा, किन्तु विभावना (विशेष भावना) मे कार्य के बिना, अपूर्ण कारण मे, रोकने वाला कारण होते हुए अथवा कारण के विपरीत भी कार्य हो जाता है । जैसे—

बिनु पावस पावस करि राखी, देखत हौ विदमान ।
अब धौं कहा कियो चाहत हौ, छाँड़ौ निरगुन ज्ञान ।। (४१९६)

विशेषोक्ति

जहाँ कारण के होने पर भी कार्य सम्पन्न नही होता वहाँ विशेषोक्ति अलकार होता है । इस प्रकार यह विभावना का विलोम है । जैसे—

ऊधो कहँ की प्रीति हमारैं । अजहुँ रहत तन हरि के सिधारैं ।
छिदि छिदि जात विरह सर मारैं । पुरि पुरि आवत अवधि विचारैं ।
फटत न हृदय संदेस तुम्हारैं । कुलिस तैं कठिन धुकत दोउ तारैं ।
वरषत नैन महा जलधारैं । उर पषान विदरत न विदारैं ।
जीवन मरन भए दोउ भारे । कहियत सूर लाज पति हारे । (४२४१)

ऊधौ तुम हौ अति बड़भागी ।
अपरस रहत सनेह तगा दै, नाहिन मन अनुरागी ।
पुरइनि पात रहत जल भीतर, ता रस देह न दागी ।
ज्यौं जल माँह तेल की गागरि, बूंद न ताकौ लागी ।
प्रीति नदी मे पाउं न बोर्यौ, दृष्टि न रूप परागी ।। (४५७७)

व्याघात

व्याघात का अर्थ है विशेष प्रकार का आघात। किसी विशेष उपाय से जो कार्य सिद्ध होता है यदि वही उपाय विपरीत परिणाम देने लगता है तो एक प्रकार का आघात हो जाता है। इसलिए ऐसी दशा मे व्याघात अलकार की स्थिति मानी जाती है। विरहिणी गोपियो ने सयोगावस्था मे सुख उपकरणो को ही बाद मे परम दुःख बताया है। अत. व्याघात स्पष्ट है। जैसे—

अब तौ ऐसेई दिन मेरे।
सुनिरी सखी दोष नहिं काहूँ, हरि हित लोचन फेरे॥
मृग मद मलय कपूर कुमकुमा, ये सब सत्य तचेरे।
मंद पवन ससि कुसुम सुकोमल, तेउ देखियत करेरे॥ (३८०८)
अब वै बातै उलटि गईं।
जिन बातनि लागत सुख आली, तेऊ दुसह भई॥
रजनी स्याम स्याम सुन्दर संग, अस पावस की गरजनि।
सुख समुह की अवधि माधुरी, पियरस-बस की तरजनि॥
मोर पुकार गुहार कोकिल, अलि गुंजार सुहाई।
अब लागति पुकार दादुर सम, विनही कुंवर कन्हाई॥
चन्दन चन्द समीर अगिन सम, तनहिं देत दव लाई।
कलिन्दी अरु कमल कुसुम सब, दरसन ही दुखदाई॥
सरद वसत सिसिर अरु ग्रीषम, हिम रितु की अधिकाई।
पावस जरै सूर के प्रभु बिनु, तरफत रैनि बिहाई॥ (३८१७)
बिनु गुपाल वैरिनि भई कुंजै।
तब वै लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुजै॥(४६८७)

प्रत्यनीक

जब प्रबल रिपु से पराजित होकर प्रतिशोध उसके निवल हितु से लिया जाता है, तब प्रत्यनीक अलकार होता है।[1]

घन गरजत माधौ बिनु माई।
इन्द्र कोप करि पहिले दाव लियौ, पावस रितु ब्रज खबरि जनाई।
पिय पिय सब्द चातकहु बोल्यौ, मधुर वचन कोकिला सुनाई।
हरि सन्देश सुनि हमहिं निदरि पुनि, चमकि दामिनी देत दिखाई।
(३९३७)

१. प्रत्यनीक सो प्रबल रिपु, ताहित सों करि जोर।
नयन समीपी श्रवन पर, कंज चढ्यौ करि दौर॥ (भाषा भूषण, १५१)

सखि कोउ नई बात सुनि आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति सौं, मदन मिलकि करि पाई॥
... ...

चाहत वास कियौ वृंदावन, विधि सौं कछु न बसाई।
सींवन चापि सक्यौ तब कोऊ, हुते बल कुंवर कन्हाई॥
सूरदास गिरिधर बिनु गोकुल, ये करिहैं ठकुराई॥ (३९४३)

साम्य तथा विरोधमूलक अलकारो के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट अलकार भ्रमरगीत में उपलब्ध होते हैं। इनका प्रयोग भी अनायास ही हो गया है।

परिकर

इसमे साभिप्राय विशेषण पाया जाता है। परिकर का अर्थ है—उपकरण अथवा शोभा कारक सामग्री। विशेषण होता ही शोभाकारक है। जब विशेष अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति कोई विशेषण शब्द रखता है तो वह उक्ति को अर्थसौरस्य देता है और वही अलकृति का आधार बन जाता है। भ्रमरगीत के व्यंग्य भरे कथनो मे परिकर अलकार की छटा दर्शनीय है—

सखी इन नैननि तै घन हारे।
बिनही रितु बरसत निसि बासर सदा मलिन दोउ तारे॥
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखे बिनु गिरिवरधर प्यारे॥ (३८५३)

यहाँ 'गिरिवरधर' शब्द का प्रयोग साभिप्राय किया गया है। इन्द्र-कोप की प्रलय-वर्षा के समय कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठा कर डूबते ब्रज को बचाया था, इसीलिए उसी विशेषण का जानबूझकर प्रयोग किया गया है।

सखी कोउ नई बात सुनि आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति सो मदन मिलकि करि पाई।
.. ..

सूरदास गिरिधर बिनु गोकुल, ये करिहैं ठकुराई॥ (३९४३)

यहाँ 'ठकुराई' शब्द दृष्टव्य है। काम, जो गोपियो का शत्रु हो रहा है, इन्द्र से वृन्दावन की जागीर पाये हुए है। गोपियो के एकमात्र रक्षक कृष्ण की अनुपस्थिति मे अब वह अपना स्वामित्व चलाना चाहता है। अब वह ठाकुर बन कर मनमाना शासन विपन्न गोपियो पर करेगा।

ऊधौ भली करी गोपाल।
आपुन तो हरि आवत नाहीं, विरमि रहे इहिं काल।
... ...

हम तौ न्याइ इतौ दुख पावैं, ब्रज बसि गोपी ग्वाल।
सूरदास स्वामी सुखसागर, भोगी भवर भुवाल॥ (४३५५)

यहाँ कृष्ण के लिए स्वामी, सुखसागर, भोगी भौर और भुवाल विशेपण कहे गये हैं।

सबके सब साभिप्राय हैं। व्रज मे रहने वाले तो गोपी और ग्वाल जैसे गरीब लोग हैं, जिनके लिए दु:ख पाना साधारण-सी बात है किन्तु कृष्ण तो अब स्वामी हैं, सुखी हैं, कुब्जा में रमने के कारण भोगी हैं, अनेक पुष्पो का रस लेने वाले भौंरे और फिर राजा हैं वे भला कैसे दु:ख के दिन काट सकते है। इसलिए अच्छा हुआ जो यहाँ नही आये। स्पष्ट है विशेषण व्यग्य-बाण हैं और विशिष्ट अर्थ के वानक होने से अचूक चोट करने मे समर्थ हैं।

एती केती तुम जो उनकी कहत बनाइ बनाइ।
सूरजदास दिगंबरपुर तें रजक कहा व्योसाइ॥ (४५७६)

यहाँ 'दिगम्बर' विशेषण साभिप्राय है। इसमे उद्धव द्वारा प्रतिपादित योग-मार्ग से प्राप्त सुख के अभाव की ओर सकेत किया गया है। रजक (धोबी) के लिए दिगम्बरपुर (वस्त्रहीन नगरी) का क्या उपयोग होगा? इस प्रकार दिगम्बर विशेषण अर्थ-सौरस्य की दृष्टि से बड़ा उपयुक्त और चमत्कारिक है। भ्रमरगीत मे प्रयुक्त श्रीकृष्ण के विभिन्न विशेषण विशिष्ट अर्थ के द्योतक हैं। जैसे—

जदपि अहीर जसोदानंदन कैसे जात छड़ें।
ह्वाँ जादौपति प्रभु कहियत हैं, हमैं न लगत बड़े।
को वसुदेव देवकीनन्दन, को जानै को बूझै।
सूर नंदनदन के देखत, और न कोऊ सूझै॥ (४३५०)

इस पद मे यशोदानन्दन, जादौपति, देवकीनन्दन और नदनदन विशेषण भिन्न-भिन्न अर्थ के द्योतक हैं। यशोदानन्दन और नदनदन व्रजवासी लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण के वानक हैं, तो जादौपति और वसुदेव-देवकीनन्दन उनके प्रभुत्व और ब्रह्मत्व के। इसी प्रकार 'गोपाल' शब्द निम्न पदो मे द्रष्टव्य है—

हम तौ नन्द घोष के वासी।
नाम गुपाल, जाति कुल गोपक, गोप गुपाल उपासी।
गिरिवरधारी गोधनचारी, वृंदावन अभिलासी॥ (४२४५)

यह गोकुल गोपाल उपासी।
जे ग्राहक निरगुन के ऊधौ, ते सब बसत ईसपुर कासी। (४२४७)

व्रजजन सकल स्याम व्रत धारी।
बिन गुपाल और जिहि भावै, तिहि कहिए व्यभिचारी॥ (४२६८)

ऊधौ इतनी कहियौ बात।
मदन गुपाल बिना या व्रज मे होन लगे उतपात।
... ...
लागौ वेगि गुहारि सूर प्रभु, गोकुल वैरिनि घात॥ (४६८८)

'गुहारि' शब्द मे गौ की पुकार (उसकी अनुकरणात्मक ध्वनि) की लक्षणा वर्तमान है। गोकुल मे गौ-पुकार का सुनाई पड़ना स्वाभाविक है और उसकी रक्षा करने वाला भी गोपाल ही हो सकता है।

यथासंख्य

क्रमानुसार वर्णन कथन में रोचकता उत्पन्न करता है। इसके कतिपय उदाहरण ही भ्रमरगीत मे मिलते हैं, किन्तु जो हैं वे बड़े ही कमनीय हैं। जैसे—

मधुकर चिकुर भुवंग कोकिला, अवधि नहीं दिन टारे।
कपटी कुटिल निठुर निरमोही, दुख दै दूरि सिधारे॥ (४३७७)
जैसें मीन, कमल, चातक कौं, ऐसें दिन गए बीति।
तरफत, जरत, पुकारत निसिदिन, नाहिन ह्यां कछु नीति॥ (४४५७)

लोकोक्तियाँ

लोकोक्तियाँ भाषा मे चटपटापन लाती हैं, अर्थ-सौरस्य को बढाती हैं, हृदय के भावो को मूर्तिमान करती हैं। इसीलिए गद्य की भाषा मे भी इनकी प्रतिष्ठा बहुत है। काव्य मे भी इन्हे अलकार स्वीकार किया गया है[1] और यह उचित भी है। सूरदास जी के भ्रमरगीत मे लोकोक्तियो का प्रयोग बड़ी संख्या मे है। लोकोक्तियो को गोपियो ने अपने हृदय की जली-कटी सुनाने का सफल साधन बनाया है। जिस प्रकार औपम्य गर्भ तथा व्यंग्य गर्भ के अलकार विरह-वेदना और उपालभ के सफल साधन हैं, उसी प्रकार लोकोक्तियां गोपियो के क्षोभ, अपमान, हार्दिक दाह, कुब्जा के प्रति ईर्ष्या, कृष्ण की कुटिलता, उद्धव की क्रूरता आदि को स्पष्ट करने में बड़ी सहायक हैं। वक्रोक्ति का तो यह प्रधान अस्त्र हैं, रस व्यजना इनके द्वारा जितनी प्रत्यक्ष हुई है उतनी कदाचित ही कोई अन्य अलंकार कर सका है। इसलिए भ्रमरगीत मे इन्हे अलकार के रूप में ग्रहण करना सर्वथा समीचीन है।

सुनियत ताहि सुन्दरी कीन्हो, आपु भए ताकौ राजी।
सूर मिलै मन जाहि जाहि सौं, ताकौ कहा करै काजी॥ (३७६६)
सूरदास वा भाइ फिरत हैं ज्यौं मधु तोरे माखी॥ (३७८८)
सूर असीस जाइ देहै, जनिन्हातहु बार खसै। (३७८९)
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, भई भुसपर की भीति। (३८०३)
सूरदास विरहिनी विकल मति, कर मीजै पछिताइ। (३८०५)
बहुरि न सूर पाइहौं हम सौं, बिन दामनि की चेरी। (३८०७)
तारे गिनत गगन के सजनी, बीते चारो याम॥ (३९२८)
सूरदास प्रभु जौ न मिलोगे, लैहौं करवट कासी। (३९५०)
अति विचित्र लरिका की नाईं, गुर देखाइ बौरावहि। (४११७)

---

१. लोकोक्ती कछु वचन जौ, लीन्हें लोक प्रवाद।
नयन मंदि पट मास लौं, सहिहौं विरह विपाद॥ (भाषा भूषण १८७)

सूरदास प्रभु हम सब खोटी, तुम तौ बारह बांने हौ। (४१३६)
सूर इते पर समुझत नाहीं निपट दई को खोयो। (४१५६)
फूंकि फूंकि हियरो सुलगावत उठि न इहां ते जात। (४१६४)
जोइ जोइ आवत वा मथुरा तें, एक डार के तोरे। (४३१४)
कित पट पर गोता मारत हौ, आप भूड़ के खेत। (४२१५)
उल्टौ पांव सूर के प्रभु कौ बहे जात मागत उतराई। (४२१८)
धान कौ गांव प्यार तें जानौ, ज्ञान विषय रस भोरे। (४२१६)
कहौ मधुप कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खाडे। (४२२३)
घर ही के वाढ़े रावरे।

... ...

सूरदास कहा लै कीजै थाही नदिया नाव रे। (४२३५)
गुन अनुरूप समान भेषजा, मिले दुआदस बानी। (४२४६)
सूर इते पर अनखनि मरियत, ऊधो पीवत मामी। (४२४८)
सिर पर सौति हमारे कुबजा चाम के दाम चलावै।
सूरदास प्रभु हमहि निदरि, दाढे पर लोन लगावै। (४२५८)
सूरदास प्रभु समुझि न देखी, मंगनी चढ़ौ चहीको। (४२६८)
वाजी तांति राग हम बूझी।
लौंडी की डौंडी जग वाजी, वढ्यौ स्याम अनुराग। (४२६६)
सूरदास प्रभु ऊख छांडि कै चतुर चिचोरत आग।)४२७१)
काटे ऊपर लौन लगावत लिखि लिखि भेजै पाती। (४२६१)
ता ऊपर तुम लेन पठाये, मनो धर्यौ करि सूप। (४३८६)
सूर विरह व्रज भलौ न लागत, जहीं व्याह तहै गीत। (४४०२)
कथा कहत मासी के आगे, जानत नानी नानन। (४५६५)
तुमकौ कहा खोरि दीजै, आनि कहत हौ वाले जैसी।
जाने कहा बांझ व्यावर दुख जातक जनै न पीर है कैसी। (४५६८)
जैसौ बैये तैसोई लुनिए, काहैं करत दुखारी। ४५७२

सूरदास जी ने कुछ लोकोक्तियो का प्रयोग भाषा-परिष्कार के साथ किया है। यह परिमार्जन भी अलकार रूप मे हुआ है, दृष्टात, काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास की भांति ये उक्तिया अलकार रूप मे कथन की पुष्टि करती हैं —

जल बूड़त अवलम्ब फेन को फिरि फिरि कहा कहत हौ। (४२४०)
लेवादेइ धराधरि मैहै कौन रक को भूप। (४३८६)
सूरजदास दिगम्बरपुर लै रजक कहा व्योसाइ। (४५७६)

इनके कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अनारी ।
अपनो दूध छांडि को पीवै, खारे कूप को वारी । (४५८४)
सूरदास व्योहार निवेरहु हम तुम दोऊ साहु । (४६२०)
पालागो तुमरी बूझति हैं, तुम पर बुधि उमही । (४६२२)
एक आंधरो हिय की फूटी, दौरत पहिरि खराऊ ।
सूर सकल षट दरसन वै हौं, बारहखड़ी पढ़ाऊं । (४७४५)

दृष्टकूट

कूट का अर्थ छल है । दृष्टकूट का अर्थ है जिसमे छल देखा जाता है । (दृष्ट कूटं यस्मिन्) । छल से तात्पर्य भाषा सम्बन्धी गूढत्व का चमत्कार है अर्थात् जिस पदावली मे ऐसी गूढता रखी जाय कि अर्थ समझ मे न आवे । सामान्य अर्थ से बहुत दूर उसका कोई अर्थ निकल सके । जिस प्रकार जादूगर छल द्वारा दर्शको को चमत्कृत करता है उसी प्रकार कवि-जादूगर शब्दो के गूढत्व के खेल से पाठको को चमत्कृत करता है । इस प्रकार दृष्टकूट के छल मे कोई कपट या दुर्भावना नही है केवल एक उलझन मे डालकर मस्तिष्क को रमाना है । दृष्टकूट को कूट नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है । भारतवर्ष मे दृष्टकूट जैसी रहस्यात्मक उक्तियो की एक परम्परा रही है । वेदान्त के गुह्य रहस्य को दृष्टकूटो से प्रस्तुत किया गया है । वेद, उपनिषद, सिद्धो की सान्ध्य भाषा और ज्योतिषशास्त्र मे इनका इसी प्रकार प्रयोग होता था । महाभारत मे गूढार्थ के सकेत के लिए प्रयोजनवश दृष्टकूटो का प्रयोग हुआ । उदाहरण के लिए लाक्षागृह को जाते हुए पाण्डवो से विदुर ने दृष्टकूट के प्रयोग से साकेतिक रूप मे बता दिया कि वह गृह अग्निमय है, उससे तुम बचो । युधिष्ठिर ने समझ लिया और वे उससे बच गये ।[1] सूरदास जी ने दृष्टकूटो का प्रयोग सूरसागर मे प्रत्येक लीला-प्रकरण मे किया है । कतिपय विद्वानो का मत है कि उन्होने दृष्टकूटो का प्रयोग केवल इसलिए किया था कि कृष्ण-राधा के सयोग-वर्णन की अश्लीलता से बच सकें और गूढ शब्दावली मे विषय-विवरण भी दे दें । किन्तु यह प्रवृत्ति प्रमुख रूप मे नही मिलती । विनय, बाललीला, माखनचोरी, पनघट-लीला, दानलीला, मानलीला सभी प्रकरणो मे दृष्टकूटो का

१. अलोहं निशित शस्त्र शरीरं परिकर्त्तनम् !
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघात विद् द्विष' ।।

यहां अलोह का अर्थ अग्निग्राही पदार्थ से पूर्ण, शस्त्र का अर्थ प्रासाद और शरीर परिकर्तन का अर्थ वहां से हानिकर चिह्नो को छिपाये हुए हैं । इस प्रकार विदुर का तात्पर्य यह था कि तुम लोग जिस लाक्षागृह में जा रहे हो वह अग्निग्राही पदार्थों से पूर्ण है । बाहर से वह अपने असली रूप को छिपाये हुए है किन्तु जो यह रहस्य जानता है उसको शत्रु मार नही सकता ।

फिर दूसरा श्लोक पढा—

कक्षघ्न शिशिरघ्नश्च महाकक्षे विलौकसः ।
न दहेदितिचात्मान, यो रक्षति स जीवति ।।

यहां कक्षघ्न=साथ में चलने वाला धूर्त मार्गदर्शक, शिशिरघ्न=अग्नि की सहायता से नष्ट करने वाला, महाकक्षे विलौकसः=उस शत्रु के सामने, चात्मान=सुरंग मार्ग है ।

इस प्रकार अर्थ हुआ कि साथ में चलने वाला मार्गदर्शक अग्नि की सहायता से तुम्हारा नाश करने वाला है । किन्तु इसके होते हुए भी यदि तुम सुरग मार्ग का पथ ग्रहण करोगे तो अपने को बचा लोगे ।

प्रयोग हुआ है। मानलीला और संयोगलीला मे इनका प्रयोग अधिक अवश्य है। कारण यह है कि इस प्रकरण में गुह्य कथन अधिक उपयुक्त और मनोरम हैं। भ्रमरगीत मे गूढ़त्व का वैसा कोई प्रयोजन नही है, फिर भी इनकी संख्या पर्याप्त है। इनका सक्षिप्त परिचय प्रयोजनीय है।

सखी री हरि बिनु है दुख भारी।
सिंहिका सुत हर भूषन ग्रसि ज्यो सोइ गति भई हमारी॥
सिखर बंधु अरि क्यों न निवारत पुहुप धनुष कै विशेष।
चच्छु स्रुवा उर हार ग्रसी ज्यो, छिन दुतिया वपु रेख।
. ... ..

सूरदास प्रभु चतुर सिरोमनि, सुनि चातक पिक त्रासी। (३८४१)

(सिहकासुत=राहु। हरभूषण=चन्द्र। सिखरबधु अरि=शिखर (कैलाश) बंधु=शिव-अरि=कामदेव। चक्षुस्रुवा=साप। छिन=क्षीण)।

अर्थात् कृष्ण के विरह मे मेरी दशा ऐसी है जैसे राहु ने चन्द्रमा को ग्रस रखा हो। कामदेव पुष्प धनुष लेकर आक्रमण कर रहा है। उर-हार साँप के सदृश लगता है। शरीर द्वितीया के चन्द्र के समान क्षीण हो गया है।

इस प्रकार पद मे सखी का कथन सखी के प्रति है, जिसमे वह विरह-वेदना का वर्णन करती है कि किस प्रकार काम पीडित कर रहा है और आभूषण, चीर आदि कष्टकर है, नेत्रो से अश्रु-वर्षा हो रही है, चातक, पिक आदि की बोली सुनकर भय होता है। इसलिए हे प्रभु हमारी रक्षा कीजिए। इस प्रकार दृष्टकूट की शब्दावली मे ठीक उसी प्रकार विप्रलभ शृंगार का चित्रण है, जिस प्रकार अन्य पदो मे।

कहँ लौं राखिय मन विरमाई।
इकटक सिवधर नैन न लागत, स्याम सुतासुत घनि चलि आई।
... ...

बेगहिं मिलौ सूर के स्वामी, उदधि सुता पति मिलिहैं आई। (३९०१)

(सिवधर=पहाड सदृश पलकें। स्यामसुतासुतघनि=(स्यामसुता=रति, उसका पुत्र अनिरुद्ध, उसकी घनि (पत्नी, उषा=प्रात.काल)।

इस पद में विरहिणी का वर्णन है जिसे नीद नही आती, अरुणोदय के होते-होते वह मूर्छित हो जाती है। फिर भी उसे आशा है कि प्रभु अवश्य मिलेगे।

माधव विलमि विदेस रहे।
अमरराज सुत नाम रैन दिन, चितवत नीर बहे।
... ...

सूरदास यह विपति स्याम सौं, को समुझाइ कहै। (३९०२)

(अमर राजसुत=पार्थ=पाथ=पथ=रास्ता)।

इस पद मे भी उपर्युक्त पदो की भाँति प्रोषितपतिका गोपिका के विरह का वर्णन है। यहाँ भी नायिका प्रतीक्षा मे बैठी हुई नैन-नीर बहा रही है और उनके आगमन की अभिलाषा कर रही है।

हरि सुत पावस प्रगट भयौरी।
मारुत सुत बधू पितु प्रोहित, ता प्रतिपालन छांड़ि गयौरी ॥
हरसुत वाहन असन सनेही, सो लागत अंग अनल भयोरी।
मृगमद स्वाद मोद नहिं भावत, दधिसुत भानु समान भयोरी।
... ...

सूरदास बिन सिंधु सुता-पति, कोपि समर कर चाप लयोरी। (३९८०)

(हरि सुत = प्रद्युम्न = कामदेव । मारुतसुत = भीम वधू = अर्जुन-पितु = इन्द्र-प्रोहित = वृहस्पति = जीव। हर-सुत = षडानन-वाहन = मोर-असन (भक्ष्य) = साँप-सनही = चन्दन। दधिसुत = चन्द्र)।

पावस-प्रसंग मे वर्षा के उद्दीपन रूप का वर्णन है। उसी मे से यह पद भी है और यहाँ भी वर्षा का कामोद्दीपक रूप प्रस्तुत किया गया है। चदन, कस्तूरी, चन्द आदि कामाग्नि को वढाने वाले हैं। कृष्ण के बिना काम धनुषबाण लेकर आक्रमण करने वाला है, कृष्ण के बिना हमारी रक्षा कैसे हो ?

चन्द्रोपालम्भ प्रकरण मे चन्द्रमा के सम्बन्ध मे अनेक ऊहात्मक प्रयोगो मे एक पद दृष्टकूट भी है—

हर को तिलक हरि बिनु दहत।
वे कहियत उडुराज अमृतमय, तजि सुभाव सौ मोहि निवहत।
... ...

सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, प्रान तजति यह नाहिं सहत ॥ (३९७३)

यमक अलकार के रूप मे 'सारग' शब्द के प्रयोग से दृष्टकूट रचना सूरसागर के विविध प्रसगो मे मिलती है। भ्रमरगीत मे भी एक पद ऐसा ही है—

वैसी सारग करहिं लिए।
सारंग कहत सुनत वै सारंग, सारंग मनहिं दिए ॥
... ...

सूरदास मिलहीं वै सारग, तोपै सुफल जिए ॥ (३९८४)

यहाँ भी विरहिणी नायिका वर्षा ऋतु मे हथेलियो पर मुँह रखे चिन्तामग्न बैठी है। वह उद्विग्न है। वह कृष्ण की आस लगाए जी रही है।

'सारग' की भाति 'हरि' शब्द के अनेक अर्थों[1] से बना हुआ एक दृष्टिकूट पद भी भ्रमरगीत में प्राप्त है—

हरि मो कौं हरि भख कहि जु गयौ।
हरि दरसत हरि मुदित उदित हरि, हरि ब्रज हरि जु लयो ॥
... ...

अब हरि दवन दिवा कुविजा कौं, सूरदास मन भायौ। (४००८)

विरह-वर्णन मे दो कूट पद और मिलते हैं—

---

१. सारग और हरि के अर्थ के लिए देखिए पृष्ठ १२१ और १३२

गौरी पूत रिपु ता सुत आयुध, प्रीतम ताहि निनारे। (३६६१)
ग्वालिनि छांडि दे विरह खर्‌यौ। (४१३१)

उद्धव-गोपी-सवाद भ्रमरगीत का मुख्य प्रकरण है। इसमे भी पांच दृष्टकूट मिलते हैं—

ऊधौ इतने मौंहि सतावत। (४२४२)
हरि सुत सुत हरि के तन आहि। (४४६१)
देखि रे प्रगट द्वादस मीन। (४ ८६)
हरि बिनु ऐसी विधि ब्रज जीजै। (४५३१)
कहत कत परदेसी की बात। (४५९५)

उद्धव जी ने कृष्ण के पास वापस आकर गोपियो और राधा के पक्ष मे जो कथन किये और ब्रजवासियो की विरह-दशा का मार्मिक चित्रण किया, उसमे भी एक दृष्टकूट इस प्रकार है —

ब्रज की कहि न परति हैं बातै।
गिरि तनया पति भूषन जैसै विरह जरी दिन रातै।
... ...
सूरदास गोपिन परतिज्ञा मिलहु पहिलै कै नातै। (४७३९)

साराश यह है कि भ्रमरगीत प्रकरण मे दृष्टकूटो का प्रयोग विरह-वर्णन के रूप मे हुआ है। दृष्टकूट अलकार सूरदास जी का प्रिय अलकार है। बिना किसी विशिष्ट प्रयोजन के उन्होने अलकार रूप मे इसका प्रयोग किया है। प्रत्येक प्रसग मे एक ही विचार दो शैली—साधारण शब्दावली तथा दृष्टकूट शब्दावली—मे व्यक्त किया गया है।[1] इसका कारण सूरदास जी की अपनी रुचि-विशेष ही थी। इनना निश्चय है कि दृष्टकूट की चमत्कारिक शब्दावली पदो मे निहित रस-व्यंजना पर कुठाराघात नही करती। अन्य पदो की भाँति यहाँ भी रस-सौरस्य पूर्णरूपेण प्राप्त होता है। दृष्टकूटो का आच्छादन मात्र ही चमत्कारमूलक है।

शब्दालंकार

अनुप्रास

सूरदास जी ने जहाँ अर्थालकारो द्वारा भाव-व्यजना को सशक्त किया है, वहाँ शब्दालकारो की मनोहरता को भी दृष्टि में रखा है यद्यपि शब्दालकारो की ओर उनका आकर्षण अधिक नही प्रतीत होता। लोकभाषा के परिमार्जन और परिष्करण मे सबसे पहले शब्दो पर ही कवि-शिल्पी की छेनी पडती है। शब्दो का खुरदरापन काटा जाता है और उसमे सौन्दर्य-प्रसाधनो का योग दिया जाता है, जिससे उसमे मसृणता और कान्ति का निक्षेप होता है। शब्दो के चयन में उनकी कर्णप्रिय भावानुरूप ध्वनि कवि के लिए अपेक्षित होती

१. देखिए सूर की काव्यकला, द्वितीय सस्करण, पृ० २०१।

है। साथ ही एक वर्ण की दूसरे की संगति का भी उसे ध्यान रहता है। शब्दालकारो मे अनुप्रास का सौन्दर्य ही नही है, उसमे वर्ण-मैत्री और वर्ण-सगीत का वैभव होता है। सूरदास की पदावली मे अनुप्रास का वह चमत्कार तो नही मिलता जो आगे चलकर नन्ददास, देव, मतिराम और पद्माकर की पदावली मे मिला, किन्तु सूरदास जी अनुप्रासिक छटा प्रस्तुत करने वाले ब्रजभाषा के प्रथम कवि थे। परवर्ती कवियो ने सूरदास जी के भाषा-सौष्ठव से प्रेरणा ग्रहण की और वे निरन्तर उसे परिवर्धित करते रहे। परिणाम यह हुआ कि ब्रज-भाषा मे निरन्तर निखार आता गया, उसमे अनुप्रासिक छटा दिनोदिन बढती गई और वह इतनी कृत्रिम हो गई कि आधुनिक काल मे खड़ी बोली की होड मे आगे न बढ सकी। एक बार समस्त उत्तर भारत की काव्य-भाषा का गौरव प्राप्त करने के बाद भी वह अपने पद को स्थायी न रख सकी और लोक मे प्रचलित खडी बोली राष्ट्रभाषा पद पर आसीन हो गई। भ्रमरगीत मे प्राप्त अनुप्रासों मे लम्बे पंक्ति भर के अनुप्रास नही मिलते, किन्तु वर्ण-मैत्री के रूप मे छेकानुप्रास और छोटे अनुप्रास पद-पद पर मिलते हैं। जैसे—'गोपी गाइ ग्वाल गोसुत' अनेक स्थलो पर बार-बार मिलता है तथा 'हम गोकुल-गोपाल उपासी', 'दीन मलीन दिनहिं दिन छीजें' (३८०९), 'वे अक्रूर क्रूर करनी करि' (३९६७), 'झाकंति, झंखंति झरोखा' (३८५९), 'क्रूर कुरूप कुदरसन' (४२७१), विरह बाइ बबूल बिरवा बोई' (४५१९), 'हमारे हरि हारिल की लकरी' (४६०७)।

वर्ण-मैत्री के रूप मे छेकानुप्रास और तीन वर्णो की मैत्री तो प्रायः मिलती है—

चलत गुपाल के सब चले।
यह प्रीतम सौं प्रीति निरन्तर, रहे न अर्ध पले। (३८००)
जद्यपि जतन अनेक सोचि पचि त्रिया मनहिं विरमावै। (३८०२)
मुरली मधुर चैप काँपा करि, मोर चन्द्र फदवारि।
वंक विलोकनि लगी, लोभ वस, सकी न पख पसारि।। (३८०४)
बिन ही रितु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे। (३८५३)
निस दिन वरसत नैन हमारे। (३८५५)
लोचन लालच ते न टरें। (३८६३)
धुरवा धुंध उठो दस हूँ दिसि, गरज निसान वजायो। (३९२३)
बदरिया वधन विरहिनी आई। (३९२५)
चंचल चपल अतिहिं चित चोरे, निसि जागत मोकों भयो पगरा। (३९२६)
सिखनि सिखर चढ़ि टेर सुनायो। (३९४७)
तू कोकिला कुलीन कुसल मति, जानति विथा विरहिनी केरी। (३९६०)
रहुरे मधुकर मधु मतवारे। (४१२३)
पवन सघावन भवन छुड़ावन, रवन रसाल गोपाल पायो। (४१३२)

फूंकि फूंकि हियरो सुलगावत। (१६४)
अलप वयस अवला अहीरि सठ, तिनहिं जोग कत सोहै। (४१६६)
और सकल अंगनि ते ऊधौ अखियां अधिक दुखारी।
अतिहिं पिराति सिराति न कवहूँ, वहुत जतन करि हारी। (४१८६)
कंज, खज, मृग, मीन होहिं नहिं, कविजन वृथा कहीं। (४१६०)
नैन मूंदि मुख मौन रही धरि, तन तप तेज सुखान्यो। (४३१५)
भँवर कुरंग काक अरु कोकिल कपटिन की चटसार। (४३६८)
चित चुभि रही मदन मोहन की, चितवनि मृदु मुसकानि। (४४२५)
नाम गुपाल जाति कुल गोपक, गोप गुपाल उपासी।
गिरिवरधारी गोधन चारी, वृन्दावन अभिलासी। (४५४६)
सुनहु स्याम वै सखा सयानो, पावस रितु राधेहिं न सुनावति।(४७६५)
हंससुता की सुंदर कगरी, अरु कुंजनि की छाहीं। (४७७६)

वीप्सा

शव्द का द्वित्व भाषा मे गति उत्पन्न करता है और भाव-विह्वलता को वढ़ाता है। इसीलिए भ्रमरगीत मे वीप्सा अलकार भाषा और भाव दोनो के सौन्दर्य मे वृद्धि करने वाला है—

ऊचे चढ़ि टेरति आतुर सुर, कहि गिरिधर गिरिधर। (३८५७)
फूंकि फूंकि हियरो सुलगावत। (४१६४)
पात-पात वृंदावन ढूंढ्यो। (४१८१)
सुमिरि सुमिरि गुन अधिक तपत हैं। (४१८८)
कविजन कहत कहत सव आए। (४१६१)
जहाँ जहँ किये केलि हरि पिय, सर सु चकई पाँखि।
हारि हेरि अहेरिया हरि, रहीं झुकि झुकि झांखि। (१२०३)
ऊधौ जोग जोग कहत, कहा जोग कीएँ। (४३१६)
वे अक्रूर क्रूर कृत जिनके, रीते भरि भरि ढोरे। (४३८२)
नैननि मूंदि मूंदि कित देखौं वध्यो ज्ञान पोथी को। (४४०७)

अन्त्यानुप्रास और तुक

सूरदास जी का साधारण अनुप्रास से भी अधिक प्रिय अन्त्यानुप्रास था। इसीलिए उन्होने अनुप्रास के आदि वर्ण की आवृत्ति के साथ-ही-साथ अन्त्य वर्णों की आवृत्ति भी वहुत दिखाई है। जैसे—

अतिहि पिराति सिराति न कबहूँ ।
गिरिवरधारी गोधन चारी ।
पवन सधावन भवन छुड़ावन ।

तुक भी अन्त्यानुप्रास ही है। सूरदास जी ने तुको का प्रयोग अलकार की भाँति किया है और तुको के लिए शब्दो की तोड-मरोड़ मे कोई हिचकिचाहट नही की, भले ही शब्द और उसका अर्थ विकृत हो जाय। जैसे—

सपनै हरि आए हौं किलकी।
नीद जु सौति भई रिपु हमकौं, सहि न सकी रति तिलकी।
..........होके रहति न हिलकी।
..........दिया बाति जनु मिलकी।
.........त्वचा तचकि तनु पिलकी।
.........भई सूर गति सिल की। (३८८०)

.........ऊधो भूलि भलै भटके।
.......तुम ताही अटके।
..........लीन्हे छरि फटके।
.... वै कुबिजा अटके।
..........जाहु तहीं टटके।
.. ..या जोगहिं कटुकै। (४२८६)

प्रेम न रुकत हमारे बूतै।
.........नाल के काचे सूते।
.........पठै संदेस स्याम के दूतै।
.........जोग अगिनि के लूतै।
.........लीजै मुकुति हमारे हुतै।
.........क्यौं पतियाहिं तुम्हारे धूतै। (४५३५)

उधौ तुम हौ अति वड़ भागी।
. ...नाहिन मन अनुरागी।
.........ता रस देह न दागी।
.........बूँद न ताकौ लागी।
.........दृष्टि न रूप परागी।
.........गुर चौंटी ज्यो पागी॥ (४५७७)

पुनरुक्तप्रकाश

कही-कही शब्द की पुनरुक्ति भाव-तीव्रता को बढाती है और तब पुनरुक्ति भाषा-सौन्दर्य का साधन बनती है। इसके अनेक सुन्दर प्रयोग सूरसागर मे मिलते है। भ्रमरगीत मे इनकी संख्या बहुत अधिक तो नही है, फिर भी कुछ सुन्दर नमूने इस प्रकार है—

मथुरा मोहिनी मै जानी।
मोहन स्याम, मोहन जादव जन, मोहन जमुना पानी।
मोहन नारि सबै घर घर की, बोलति मोहन बानी।
मोहन सूरदास कौ ठाकुर, मोहन कुबिजा रानी। (३६६७)

पद मे 'मोहन' शब्द की पुनरुक्ति न केवल शब्द-सौन्दर्य बढा रही है, वरन् विनोदात्मक व्यग्य का अमोघ अस्त्र बनकर अर्थ-वैभव मे चार चाँद लगा रही है। इसी प्रकार नूतन या नये की पुनरुक्ति—

ऊधौ नूतन राज भयौ।
नए गुपाल नई कुबिजा बनी, नूतन नेह ह्यौ।
नए सखा जोरें जादव कुल, अरि नृप कस हयौ।
नूतन नारि नये पुर कीन्हौ, तिन अपनाइ लयौ।
बिसरे रास विलास कुंज सब, अपनी जाति गयौ।
सूरदास प्रभु बहुत बटोरी, दिन दिन होत नयौ। (४५६२)

यमक

यमक सूरदास जी को प्रिय था, किन्तु इसका प्रयोग बहुत अधिक उन्होने नही किया है। इतना अवश्य है कि जहाँ इसका प्रयोग है, है वह बडा कमनीय। जैसे—

वे अक्रूर क्रूर करनी करि। (३९६७)
ऊधो जोग जोगहि देहु (४५४२)
ऊधो जोग जोग हम नाहीं। (४५४३)
जहँ न अनग रस रूप नेह को, तहँ दइ गति जु अनग॥
जों अनग वपु असुर दासिका, सो भइ नूतन अग॥ (४,६६)
वैसी सारंग करहि लिए।
सारग कहत सुनत वै सारग, सारग मनहिं दिए।
सारंग थकित बैठि वह सारग, सारंग विकल हिए।
सारग धुकि, सारँग पर सारग, सारंग क्रोध किए।
सारग है भुज करनि बिराजत, सारग रूप बिए।
सूरदास मिलही वै सारग, तौ पै सुफल जिए। (३९८४)

इस पद मे सारंग शब्द के अर्थ क्रमश ये हैं—

चन्द्र (मुख), बादल (घन), कृष्ण (श्याम), कामदेव, नारी, दिन, रात, आकाश, मेघ, मेघ, कृष्ण, भूषण, सर्प, कृष्ण।

हरि मो कौं हरि भष कहि जु गयौ।
हरि दरसत हरि मुदित उदित हरि, हरि ब्रज हरि जु लयौ॥
हरि रिपु ता रिपु ता पति कौ सुत, हरि बिनु प्रजरि दहै।
हरि कौ तात परस उर अन्तर, हरि बिनु अधिक बहै।
हरि तनया सुधि तहाँ वदति हरि, हरि अभिमान न ठायौ।
अब हरि दव न दिवा कुबिजा कौ, सूरदास मन भायौ॥ (४००८)

'हरि' शब्द के अर्थ क्रमशः ये हैं—

कृष्ण, सिंह (सिंह का भक्षण मास=मास=महीना) मेघ, मोर, सूर्य, कृष्ण (ब्रज केहरि) हरण करना, मोर (मोर का शत्रु साँप, उसका शत्रु गरुड़, उनके पति विष्णु=कृष्ण, उनके पुत्र प्रद्युम्न (कामदेव के अवतार) काम, कृष्ण, बन्दर (हनुमान, उनके पिता पवन), कृष्ण, सूर्य, कोकिल, कृष्ण, काम (हरि दवन=काम-दमन=भोग)।

वक्रोक्ति

वक्रोक्ति को काव्यशास्त्र मे दो रूपो मे लिया गया है। एक तो कुन्तक की वक्रोक्ति है, जिसका तात्पर्य उक्ति के उस बाँकपन से है जिसमे ध्वनि, रस, अलकार सभी अन्तर्भूत हो जाते हैं; इस प्रकार की वक्रोक्ति भ्रमरगीत मे भरी पड़ी है जिसका विस्तृत विवेचन उक्ति-वैचित्र्य प्रकरण में होगा। दूसरा अलंकार रूप अपने सीमित अर्थ मे एक शब्दालकार विशेष के रूप मे माना जाता है जिसके दो भेद हैं—काकु वक्रोक्ति और श्लेष वक्रोक्ति। काकु वक्रोक्ति मे कंठ-ध्वनि के द्वारा उपहासात्मक अर्थ की प्रतीति होती है और श्लेष वक्रोक्ति मे शब्द के दूसरे अर्थ के द्वारा। भ्रमरगीत मे काकु वक्रोक्ति के उदाहरण अधिक हैं—

देन आयौ ऊधौ मत नीकौ।
तजन कहत अम्बर आभूषन, गेह नेह सुतहीकौ। (४१३३)
ऊधौ स्याम सखा तुम साँचे। (४१३५)
ऊधौ जाहु तुम्हे हम जाने।
सूर स्याम जब तुमहिं पठायौ, तब नैंकहु मुसकाने। (४१४०)
ऐसी बहुत अनूपम मधुकर मरम न जाने और॥ (४४२८)

श्लेष वक्रोक्ति

हम तौ तबहि तें जोग लियौ।
जबहीं तें मधुकर मधुवन कौ, मोहन गौन कियौ। (४३१२)
ब्रज में जोग करत दिन बीते।
बिना स्याम सुन्दर के सजनी, मदन दूत तन जीते। (४३१४)

उद्धव जिस योग का उपदेश कर रहे थे उससे भिन्न विरह-रूपी योग का अर्थ मान कर गोपियाँ उत्तर देती हैं कि हम तो योग पहले से ही कर रही हैं। रूपक के द्वारा वे अपने

कथन की पुष्टि भी करती हैं। श्लेष वक्रोक्ति में वक्ता के कथन का उत्तर श्रोता भिन्न अर्थ के सहारे इसी प्रकार दिया करता है।

पुनरुक्ति

कवि की आलंकारिक मनोवृत्ति तब प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होती है जब कवि वर्ण्य-विषय की प्रधानता विस्मृत कर शब्द मात्र को ही कल्पना की कलाबाजियो का लक्ष्य बना लेता है। एक ही शब्द के विविध चमत्कारिक पक्षो का उद्घाटन करने मे इतना रत हो जाता है कि विपयान्तर प्रस्तुत हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। कथा रुक जाती है, शब्द-क्रीड़ा चलती रहती है। केशवदास जी की रामचन्द्रिका और मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत मे ऐसे स्थल बहुत मिलते हैं। सूरदास जी को भी शब्द-क्रीडा प्रिय लगती थी। दृष्टकूटो की शब्द-क्रीड़ा इस तथ्य का पुष्ट प्रमाण हैं। किन्तु सूर-साहित्य मे यह मनोवृत्ति रसात्मकता से भरपूर होकर अपनी कोरी चमत्कारवादिता को खो बैठती है। इस प्रकार दोष गुण मे परिवर्तित हो जाता है। सूरदास जी ने भ्रमरगीत मे शब्दो को लक्ष्य बनाकर उन्ही पर अनेक पदो की रचना की है। कथा-अंश इनमे सर्वथा गौण है। प्रत्येक पद में न केवल कल्पना की ऊँची उडान हैं, वरन् भाव-व्यंजना की विविध पक्षीय गहराई भी है। ये शब्द इस प्रकार हैं—

प्रीति

करि गए थोरे दिन की प्रीति।
कहं वह प्रीति कहाँ यह बिछुरनि, कहँ मधुबन की रीति॥ (विषम)
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु भई भुस पर की भीति॥ (३८०३) (रूपक)
प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी।
जैसै बधिक चुगाइ कपट कन, पाछै करत बुरी। (उपमा)
मुरली मधुर चैंप कँपो करि, मोर चद्र फँदवारि।
... ..
सूरदास प्रभु सग कल्पतरु, उलटि न बैठी डार॥ (३८०४) (सांगरूपक)
देखौ माधौ की मित्राई।
आई उघरि कनक-कलई सी, दै निजु गए दगाई॥ (३८०५) (उपमा)
तन मन प्रीति लाइ जौ तोरैं, कौन भलाई तामहिं। (३८०६)
वै कह जानै पीर पराई, लुब्ध आपने कामहिं॥
मति कोउ प्रीति के फंग परै। (३६०६)
सादर स्वाति देखि मन मानै, पंखी प्रान हरै।
देखि पतग कहा क्रम कीन्यौ, जीव को त्याग करै। (अर्थान्तरन्यास)
... ...
सूरदास प्रभु सौ ऐसैहु करि, मिलै तो काज सरै।

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ ।।
प्रीति पतंग करी पावक सौं, आपै प्रान दह्यौ ।
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सौं, संपुट माँझ गह्यौ । (अर्थान्तरन्यास)
... ...
सूरदास प्रभु बिनु दुख पावत, नैननि नीर बह्यौ । (३९०७)

हेली हिलग की पहिचानि ।
जो पै हिलग हिए में हैरी, कहा करै कुल कानि ।।
हिलग पतंग करी दीपक सों, तन सौंप्यो है आनि । (अर्थान्तिरन्यास)
हिलग चकोर करी है ससि सों, पावक चुगत न मानि ।।
... ...
सोई हिलग लाल गिरधर सौं, सूरदास सुख-दानि ।। (३९०८)

प्रीति तौ मरिबोऊ न विचारै ।
निरखि पतंग ज्योति पावक ज्यौं, जरत न आपु सँभारै ।
... ...
सूरदास प्रभु दरसन कारन, ऐसी भाँति बिचारै ।। (३९०९) (अर्थान्तिरन्यास)

इन पदो में प्रीति के विभिन्न पक्ष अस्थिरता घातकता, कपट, स्वार्थपरता, परिणाम (मृत्यु), सुख-शान्ति का अभाव, पीडा मे आनन्द और निर्ममता क्रमशः प्रस्तुत किये गये हैं । इस प्रकार भिन्न-भिन्न पदो मे एक ही शब्द की पुनरुक्ति मे उक्ति की नवीनता के साथ ही वैचारिक वैविध्य भी विद्यमान है ।

नयन

सखी इन नैननि ते घन हारे । (प्रतीप)
बिनही रितु बरसत निसिवासर, सदा मलिन दोउ तारे ।। (विभावना)
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे ।
वदन-सदन करि बसे वचन-खग, दुख पावस के मारे । (सारंग रूपक)
दुरि दुरि बूँद परत, कंचुकि पर, मिलि अंजन सो कारे । (तद्गुण)
मानौ परनकुटी सिव कीन्ही, बिवि मूरति धरि न्यारे ।। (उत्प्रेक्षा)
घुमरि घुमरि बरसत जल छांड़त, डर लागत अंधियारे ।। (अत्युक्ति)
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे ।। (३८५३) (परिकर)

नैना सावन भादौं जीते । (प्रतीप)
इनहीं विषय आनि राखै मनु समुदनि हूँ जल रीते । (उत्प्रेक्षा)
वै झर लाइ दिना द्वै उघरत, ये न भूलि मग देत । (व्यतिरेक)
वै बरसत सबके सुख कारन, ये नंद नंदन हेत । (,,)
वै परिमान पुजै हद मानत, ये बिन धार न तोरत । (,,)

यह विपरीति होत देखति हौं, बिना अवधि जग बोरत । (३८५४)
(विभावना, विषम)

मेरैं जिय ऐसी आवत भइ, चतुरानन की सांझ । (उत्प्रेक्षा)
सूर बिन मिले प्रलय जानिबो, इन ही द्यौसन मांझ । (विनोक्ति)
निसिदिन बरसत नैन हमारे । (रूपकातिशयोक्ति)

सदा रहति बरषा रितु हम पर, जब तें स्याम सिधारे ।। (विभावना)
दृग अंजन न रहत निसि वासर, कर कपोल भए कारे । (तद्गुण)

... ...

सूरदास प्रभु यहै परेखो, गोकुल काहें बिसारे । (३८५५)

तब तै नैन अनाथ भए ।
ता दिन तै पावस दल साजत, जुद्ध निसान हए । (रूपक)
सुभट मोर सायक मुख मोचत, दिन दुख देत नए । ,,
यह सुनि सोचि काम अबलनि के, तनु गढ़ आनि लए । ,,
सूरदास जिन दए संग सुख, तिन मिलि बैर ठए ।। (व्याघात)

नैननि नाध्यौ है झर ।
ऊंचे चढ़ि हेरति आतुर सूर, कहि गिरधर गिरिधर । (स्वभावोक्ति)
फिरति सदन दरसन कै काजै, ज्यौं झख सूखे सर ।। (उपमा)
निसिदिन कलमलाति सुनि सजनी, गाजत मनमथ अर (अरि) । (रूपक)
सूरदास सब रही मौन ह्वै, अतिहिं मैन के भर (भय)।।(३८५७) स्वभावोक्ति

अति रस लंपट नैन ।
तृप्ति मानत पिवत कमल मुख, सुन्दरता मधु ऐन ।
सोभा सिंधु समाइ कहां लौं, हृदय साकरे ऐन । (सांगरूपक)
अब यह बिरह अजीरन ह्वै कै बनि लाग्यौ दुख दैन ।
सूर बैद ब्रजनाथ मधुपुरी, काहि पठाऊं लैन । (३८५८)

हरि दरसन को तरसति अंखियां ।
झाकति झंखति झरोखा बैठी (रूपकातिशयोक्ति)
कर मीटत ज्यौं मखियां । (उपमा, सांगरूपक)
बिछुरी बदन सुधानिधि रस तै ।(रूपक)

लगति नहीं पल पखियां (पक्षी) । (रूपक)
इकटक चितवति उड़ि न सकति,
जनु थकित भई लखि सखियां । (उत्प्रेक्षा)
बार-बार सिर धुनति बिसूरति, बिरह ग्राह जनु मखियां । (३८५६)
(उत्प्रेक्षा, रूपक)

लोचन व्याकुल दोऊ दीन।
कैसे रहैं दरस बिनु देखे, विधु चकोर ज्यों लीन ॥ (उपमा)
विवरन भए खंज ज्यो दाधे, वारिज ज्यो जलहीन। ,,
स्याम-सिंधु ते बिछुरि परे हैं, तलफरात ज्यो मीन। ,,
ज्यों रितुराज विमुख भृंगी की, छिन छिन वानी छीन। ,,
सूरदास प्रभु बिनु गोपालहिं, कत विधना यें कीन।(३८६०) ,,
महा दुखित दोउ मेरे नैन। (स्वभावोक्ति)
... ...
सूरदास प्रभु जबतै बिछुरे, तब तै सब लोगन दुख दैन ॥ (३८६१)
अखियां करति हैं अति आरि।
... ...
कमल वदन ऊपर ह्वै खंजन, मानो बूड़त वारि।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, सकें न पंख पसारि ॥ (३८६२) (उत्प्रेक्षा)
लोचन लालच तै न टरै।
ज्यों मधुकर रुचि रच्यौ केतकी, कटक कोटि अरै।
तैसेइ लोभ तजत नहिं लोभी, फिरि फिरि फेरि फिरै। (उपमाएं)
मृग ज्यों सहज सहत सर दारुन, सन्मुख तै न टुरै। (साधर्म्य)
सूर सुभट हठ छांड़त नाहीं. काटे सीस लरै। (३८६३)
लोचन चातक ज्यों हैं चाहत।
अवधि गए पावस की आसा, क्रम-क्रम करि निरवाहत।
सरिता सिंधु अनेक और सखि, सुत पति सजन सनेह। (सांगरूपक)
ये सब जल जदुनाथ जलद बिनु, अधिक दहत हैं देह।
जब लगि नहिं बरसत ब्रज ऊपर, नव घन स्याम सरीर।
तौ लगि तृषा जाइ किन सूरज, आन ओस कै नीर ॥(३८६४)
नैना विरह की बेलि बई।
सींचत नैन-नीर के सजनी, मूल पताल गई।
विगसित लता सुभाई आपने, छाया सघन भई। (सांगरूपक)
अब कैसे निरवारौं सजनी, सब तन पसरि छई।
को जाने काहू के जिय की, छिन छिन होत नई।
सूरदास स्वामी के बिछुरै, लागी प्रेम जई ॥ (३८६५)

उपर्युक्त पदो मे नैन की पुनरुक्तियाँ हुई है किन्तु पुनरुक्ति खटकती नही हैं। इनके द्वारा गोपियो की निरन्तर अश्रुधारा, उनकी अनाथ-अवस्था, वेदना, व्याकुलता, विषाद, प्रतीक्षा तथा एकनिष्ठता का मार्मिक चित्रण किया गया है।

नींद और स्वप्न

इस अंश के पदो मे स्वभावोक्ति अधिक है। अलंकारो के योग के बिना भी भावमयता के कारण पंक्तियाँ अलंकृत लगती हैं। एक ही प्रकार के भाव अनेक पदों मे

मिलते हैं। स्वभावोक्ति तो सर्वत्र है, अन्य अलकार भी यत्र-तत्र मिलते हैं—

नींद न परै घटै नहिं रजनी विथा विरह जुर भारी।
सरद रैनि नलिनी दल सीतल, जगमग रही उजारी।
रवि किरननि ते लागति ताती, इहिं सीतल ससि जारी।।
स्रवननि सब्द सुहाइ न सखि री, पिक चातक द्रुम जारी।
सूर स्याम बिनु दुख लागत है, कुसुम सेज करि न्यारी। (व्याघात)
विलखि वदन वृषभानु नंदिनी, कर बहु जतन जु हारी। (३८७६)
सुपनेहूँ मैं देखिये, जो नैन नींद परै।

कहा करौं किहि भाँति मेरो, मन न धीर धरै।
करै जतन अनेक विरहिनि कछु न चाड़ सरै।
सूर सीतल कृष्ण बिनु, तन कौन ताप हरै। (विनोक्ति) (३८७७)
सोवत मैं सपन सुनि सजनी, ज्यौं निधनी निधि पाई। (उपमा)
गनतहिं आनि अचानक कोकिल उपवन बोलि जगाई।

जो जागौं तौ कह उठि देखौं, विकल भई अधिकाई। (३८७८)
सोवत ही सपने मैं अति सुख, सत्य जानि जिय जागी।
सूरदास प्रभु प्रगट मिलन कौ, चातक ज्यौं रट लागी। (उपमा) (३८७९)
सुपने हरि आये हौं किलकी।

नींद जु सौति भई रिपु हमकौं, सहि न सकी रति तिल की।
जो जागौ तौ कोऊ नाहीं, रोके रहति न हिलकी।
तन फिरि जरनि भई नख सिख तै, दिया वाति जनु मिलकी (उपमा) (३८८०)
मै जान्यो री आए हैं हरि, चौंकि परे तै पुनि पछितानी।

इते मान तलफत तनु बहुतै, जैसे मीन तपति बिनु पानी। (उपमा) (३८८१)
जो जागौ तो कोऊ नाहीं, अन्त लगी पछितान।
जानौं सांच मिले मनमोहन, भूली इहिं अभिमान।
सूर सकति जैसे लछिमन तन विह्वल ह्वै मुरझान। (उपमा)
ल्याउ सजीवन सूरि स्याम कौ, तौ रहिहैं ये प्रान।। (३८८२)
हरि विछुरज निसि नींद गई री।

वन पिक, वरह, सिलीमुख मधुव्रत, वचननि हौ अकुलाल लई री।
अवधि अधार जु प्रान रहत हैं उन सवहिन मिलि कठिन ठई री।
सूरदास प्रभु सुधा दरस विन भई सकल तन बिरह रई री।(रूपक) (३८८३)
बहुरौ भूलि न आँखि लगी।
सपनेहूं के सुख न सहि सकी, नींद जगाइ भगी।

... ...

कर मींडति पछितानि विचारति इहिं विधि निसा जगी।
वह मूरति वह सुख दिखरावै, सोई सूर सगी।। (३८८४)

हमको सपनेहूँ मैं सोच ।
जा दिन ते बिछुरे नन्दनन्दन ता दिन तैं यह पोच ॥
... ...
ज्यौं चकई प्रतिबिम्ब देखिकै आनंदे पिय जानि ।
सूर पवन मिलि निठुर विधाता, चपल कियौ जल आनि । (उपमा) (३८८७)
सुनहु सखी ते धन्य नारि ।
जो आपने प्रान वल्लभ की, सपनेहूँ देखति अनुहारि ॥
... ...
जा दिन तें नैननि अन्तर भए, अनुदिन अति बाढ़त है बारि ।
मनहु सूर दोउ सुभग सरोवर, उमँगि चले मरजादा टारि। (उत्प्रेक्षा) (३८८९)
पिय बिनु नागिनि कारी रात । (विनोक्ति, रूपक)
. ... ..
सूर स्याम बिनु बिकल विरहिनी मुरि मुरि लहरें खात । (३८९१)
तिरिया रैनि घटै सचु पावै । (ऊहा)
अचल लिखति स्वान की मूरति, उडुगन पथहिं दिखावै ॥ (३८९२)

ऊपर के सभी उदाहरण स्वभावोक्ति अलकार के उत्कृष्ट उदाहरण. हैं। अनेक आचार्य स्वभावोक्ति को अलंकार नही मानते, क्योकि स्वभावोक्ति मे अलकरण वाह्य न होकर आन्तरिक होता है । 'सौन्दर्यमलकार' कह कर सभी प्रकार के सौन्दर्य को अलंकार माना गया है, अत. अन्तर्मुखी अलकरण प्रधान स्वभावोक्ति को अलकार की उपाधि मिलनी चाहिए । उपर्युक्त पदो मे स्वभावोक्ति के अलावा अन्य अलकार भी प्राप्त होते हैं, जिनका सकेत पदो में पक्तियो के सामने दे दिया गया है ।

५—मन

२० पद (४३३३ से ४३५२) मन के सम्बन्ध मे लिखे गये हैं। पदो की प्रथम पंक्तियाँ मन के विभिन्न पक्षो को प्रस्तुत करती हैं और पद की शेष पक्तियो मे उसी की पुष्टि अलकारो द्वारा होती है। जैसे—

मधुकर कहि कैसै मन मानै ।
... ...
कैसै धौं यह बात पतिव्रता, सुनै सठ पुरुष बिरानै । (दृष्टांत)
जैसे मृगिनी ताकि वधिक दृग, कर कोदंड गहि तानै । (उपमा) (४३३४)
ऊधौ मन नहि हाथ हमारें ।
रथ चढ़ाइ हरि संग गए लै, मथुरा जबहिं सिधारे । (काव्यलिंग) (४३३८)
अपनी सी करत कठिन मन निसिदिन ।
... ...
कोटि स्वर्ग सब सुख अनुमानत, हरि समीप समता नहिं पावत ।
थकित सिंधु नौका के खग ज्यौं, फिरि फिरि फेरि वहै गुन गावत ।
(उपमा) (४३४१)

ऊधो मन तौ एकहिंश्राहि ।
सो तौ हरि लै संग सिधारे, जोग सिखावत काहि ।।
... ...
परमारथ उपचार करत हौ, विरह व्यथा है जाहि ।
जाको राजरोग कफ व्यापत, दह्यौ खवायत ताहि ।। (दृष्टान्त)
सुंदर स्याम सलोनी मूरति, पूरि रही मन मांहि ।
सूर ताहि तजि निरगुन सिधुहि, कौन सकै अवगाहि । (४३४४)
मधुकर ये मन विगरि परे ।
समुझत नहीं ज्ञान गीता को, मृदु मुसकानि अरे । (स्वभावोक्ति)
जोग गम्भीर कूप अांधे सौ, ताहि जु देखि डरे । (उपमा)
बांकी भौंह वक्र दृग रांचे, तातै वक्र परे ।
सूधे होत न स्वान पूंछ ज्यौं, पचि पचि वैद मरे ।। (उपमा) (४३४६)
इहि उर माखन चोर गड ।
अब कैसै निकसत नहिं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े ।। (काव्यलिंग) (४३५०)

इस प्रकार एक शब्द 'मन' को लेकर अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क उपस्थित किये गये हैं। उनमे उक्ति का वाकपन प्रमुख है। यही वाकपन उसे अपने आप अलंकृत कर देने मे समर्थ है।

६— श्याम

कृष्ण के श्याम रग को दृष्टि मे रख कर १५ पद (४३६७-८१) लिखे गये हैं। अभिव्यजना-कौशल की दृष्टि से ये सभी पद सुन्दर हैं। इनमे अलकारिता, उक्ति-वैचित्र्य और रसात्मकता का अद्भुत मिश्रण मिलता है। प्राय पदो मे उपमान एक से ही मिलते है। जिन कालो का कथन इनमे है, वे हैं—भवर, भुजग, काक, कोयल, कालीघटा, कुटिल वाल और कुरंग। कुरग का प्रयोग तो है किन्तु जिस प्रकार अन्य के अवगुण और कुकृत्य बताये गये हैं उस प्रकार कुरग के सम्बन्ध मे कही कुछ नही मिलता। प्रतीत होता है पाठ दोष से 'कुरंग' 'भुजग' के स्थान पर छप गया है। 'कुरग' शब्द का प्रयोग केवल दो पदो (४३६७ और ४३७४) में हुआ हैं। प्रथम पद मे पक्ति है—'भवर कुरग काक अरु कोकिल कपटनि की चटसार।' पद स० ४३६६— मे इसी की पुनरुक्ति-सी प्रतीत हाती है—

भंवर भुजंग काक कोकिल कौं, कविजन कपट बखानै ।

इन दोनो मे अ तर केवल कुरग और भुजंग का है। किसी भी पद मे कुरग के किसी अवगुण-कपट, क्रूरता, कुटिलता आदि का उल्लेख नही हुआ है। किन्तु भुजग के सम्बन्ध मे विश्लेषण मिलता है कि चाहे कोई उसे प्रीति से पाले, किन्तु वह तो डस कर ही मानता है—

भवन भुजंग पिटारी पाल्यौ, जैसै जननी तात ।
कुल करतूति तजत नहिं कबहूँ, सहजहिं डसि भजि जात ।।[1]

---

१. सूरसागर, पद ४३७५

साँप की उपर्युक्त करतूति कृष्ण-कृत्य के लिए सटीक उपमान भी है, इसीलिए जान-बूझ कर जननी-तात का प्रयोग भी हुआ है। सूरसागर मे अन्यत्र कही भी कुरग की कुटिलता-क्रूरता या कपट का कोई उल्लेख नही मिलता, जहाँ कही भी मिलता है, उसका वीणानाद पर रीझ कर मरना ही है[1]। इस प्रकार कुरग गोपियो के लिए उपमान हो सकता है, कृष्ण के लिए नही। अत कुरग शब्द को भुजंग मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। विभिन्न पदो मे इनके विभिन्न अवगुण प्रस्तुत किये गये है। विवेचन में अलंकारो को साधन बनाया है। अर्थान्तरन्यास, जिसमे सामान्य कथन के लिए विशेष प्रमाण दिये जाते हैं प्रमुख रूप से प्रयुक्त है, जैसे—

सखीरी स्याम सवे इकसार। मधुकर स्याम कहा हित जानै। तिनहि न पतीजै जे व्रतहि न मानै। मधुकर कह कारे की न्याति। स्याम सभी कारेन में कारे। आदि सामान्य वाक्य प्रयुक्त होते हैं और फिर सारे पद मे भ्रमर, भुजग, कोकिल और बादल की घटा के प्रमाण प्रस्तुत किये जाते है। पदो मे उपमानो की पुनरुक्ति तो होती है किन्तु कथन की पुनरुक्ति नही होती है अत: एक ही अलकार हर बार नया बन कर आता है। एक पद मे भ्रमर और श्रीकृष्ण का विस्तृत साम्य निरूपित किया गया है। एक प्रकार का प्रतियोग भाव उनमें मिलता है। इस प्रतियोगितापूर्ण साम्य मे कथन अपने आप मे अलकृत हो उठा है यद्यपि अलंकार-शास्त्र के किसी अलकार के भीतर इसका अन्तर्भाव कदाचित सम्भव नही है—

वे मुरली धुनि जग मन मोहत, इनकी गूँज सुमन मधु पातनि।
ए षटपद वै द्विपद-चतुर्भुज, काहू भाँति भेद नहिं आतनि।
वे नव निसि मानिनि गृह बासी, एउ बसत निसि नव जल जातनि।
वे उठि प्रात अनत मन रजत, ये उड़ि करत अनत रस रातनि।।
स्वारथ निपुन सद्य रस भोगी जनि पतियाहु विरह दुख दातनि।
वे माधौ ये मधुप सूर कहि, दुहुँ मैं नाहिन कोउ घटि घातनि।। (४३७९)

इस प्रकार श्याम वर्ण को लेकर भ्रमरगीत के १५ पदों में एक ही प्रकार की शब्दावली और विचार मिलते हुए भी पदो मे उक्ति का बाकपन इतना अधिक है कि पुनरुक्ति का अस्तित्व ही नही रहता। अनुभूति प्रधान अभिव्यजना मे जहाँ रसात्मकता की गहराई मिलती है वहाँ उक्ति-वैचित्र्य का चटकीलापन भी मिलता है। इसलिए इन पदो मे काव्य का पुनरुक्ति दोष नही माना जा सकता। यहाँ पुनरुक्ति काव्य-सौन्दर्य का साधन बन गई है।

कुछ पदो की टेक (प्रथम पक्ति) भी दोहराई गई है, किन्तु पद की अन्य पक्तियाँ सर्वथा भिन्न हैं, जैसे—

कह परदेसी की पतिआरो।
प्रीति बढाइ चले मधुवन कौं, बिछुरि दियौ दुख भारो।। (३८१३)
कह परदेसी को पतिआरो।
पीछै ही पछिताइ मिलौगे, प्रीति बढ़ाइ सिधारो।। (३८१४)

१. सारंग प्रीति करी जु नाद सौं सन्मुख बनसह्यौ ३६०७

मधुकर काके मीत भए।
त्यागे फिरत सकल कुसुमावलि, मालति भुरै लए। (४१२५)
मधुकर काके मीत भए।
द्यौस चारि करि प्रीति सगाई, रस लै अनत गये। (४१२६)
ऊधौ भली करी ब्रज आए।
विधि कुलाल कीने कावे घट ते तुम आनि पकाए।(४४००)
ऊधौ भली करी ह्यां आए।
तुम देखे जनु माधौ देखे दुख त्रै ताप नसाए॥ (४४०)
हम तौ दुहूँ भाँति फल पायो
जो गोपाल मिलैं तो नीको नतरु जगत जस छायो।(४४३४)
मोहि अलि दुहूँ भाँति फल होत।
तब रस अधर लेति ही मुरली अब भइ कुबिजा सौत॥ (४४३५)

निष्कर्ष

भ्रमरगीत में काव्यालकारो का प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि कवि की अलंकार-प्रियता परिलक्षित होती है। सीमित विचारधारा उक्ति की नवीनताओ मे निकलती रहती है। अनेक गोपियाँ एक ही तथ्य भिन्न-भिन्न अलकार-विधान मे प्रस्तुत करती हैं। फिर भी अलकार-योजना रस-योजना का साधन बनी है। सागरूपक मर्मानुभूति के प्रत्यक्षीकरण के अ ग हैं। ग्रामीण उपमान मन की कटु भावना के बानक हैं। इतिवृत्त की प्रगति के अभाव मे उक्ति का अलकरण प्रमुख हो गया है। पक्तियाँ अलकारो से लदी दिखाई देती हैं। लगता है कि कवि की कलात्मकता सजग है और कवि ने जान-बूझकर अलंकारो की भरमार की है। इतना होने पर भी, जैसा पीछे के अलकारो के विवेचन के साथ-साथ स्पष्ट किया गया है, कही भी अलकार साध्य नही बनते। अलकार केवल भावोत्कर्ष करते हैं। उनके द्वारा विरहिणियो की मर्मानुभूति प्रत्यक्ष होती है। साम्य, विरोध और अतिशयमूलक अलकारो ने गोपियो की स्मृति, उद्वेग, ताप और विषाद को मूर्तिमान कर दिया है। चन्द्रोपालम्भ, स्वप्न और पावस-प्रसग अलकारो के योग से विशेष मर्मस्पर्शी बन गये हैं। अलंकार-योजना से गोपियो का उपालम्भ सजीव हो जाता है। उनकी मनोव्यथा की प्रतिक्रियाएँ फूट पडती है। इस प्रकार अलकारो का बाहुल्य भाव-सौन्दर्य को विकृत नही करता, उसमे बुद्धि का बलात्कार नही दिखाई पड़ता। रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, वर्ण्य के रूपानुभव, क्रियानुभव और गुणानुभव को तीव्र करने वाले है। दृष्टकूट कवि की चमत्कार-प्रियता की चरम सीमा प्रस्तुत करता है, किन्तु दृष्टकूट का बाह्य शब्दजाल उतार देने पर उसमे भी वैसी ही रसात्मकता मिलती है, जैसी अन्य पदो मे। दृष्टकूट की जटिलता और गूढता विषाद की गम्भीरता और रहस्यात्मकता की प्रतिकृति को सूचित करते हैं।

भ्रमरगीत की अलकरण-सामग्री में मौलिकता का अ श अधिक है। पीछे दिये हुए विवरण इस तथ्य के साक्षी हैं कि सूरदास जी ने लोक-मानस के अनूठे उपमानो का चयन विशेष रूप से किया है। काव्य-परम्परा से प्राप्त सामग्री को भी अविकल रूप से ग्रहण करके उसमे कुछ-न-कुछ नयापन अवश्य रखा है। भ्रमरगीत का अप्रस्तुत-विधान बडा ही प्रभावोत्पादक और रमणीय है। उक्तियां इनके द्वारा असाधारण हो जाती हैं और रसोत्कर्ष मे सहायक होती हैं। तात्पर्य यह है कि भ्रमरगीत की अलंकार-योजना सचेष्ट तो है, किन्तु उसका लक्ष्य रसोत्कर्ष है और लक्ष्य-प्राप्ति मे असाधारण सफलता मिली है।

: ६ :

उक्ति-वैचित्र्य

वक्रोक्ति

उक्ति का बांकपन रस-परिपाक का सफल साधन है। इसीलिए वक्रोक्ति को काव्य मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आचार्य कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है। उनकी दृष्टि मे वक्रोक्ति की अर्थ-व्याप्ति इतनी है कि काव्य के सभी अग इसी मे अन्तर्भूत हो जाते हैं। फिर भी वक्रता के साथ अलकार पर उनका बल अधिक प्रतीत होता है। वे अलकार-विहीन रचना को काव्य नही मानते। उनके मत मे सालकार शब्दार्थ ही काव्य है।[1] वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होने स्पष्ट कहा है कि "विदग्धतापूर्ण भगिमा से युक्त कथन की शैली ही वक्रोक्ति है।"[2] जहाँ वक्रोक्ति का अभाव है अर्थात् जहाँ शुद्ध स्वभावोक्ति है उसे वे काव्य की सज्ञा नही देते। सूर-काव्य मे वक्रोक्ति का इतना सीमान्तवर्ती अर्थ प्राप्त नही होता। सूरदास तो रसवादी कवि थे। उनके काव्य मे रसोपलब्धि मुख्य है, चाहे वह वक्रोक्ति के माध्यम से हो और चाहे स्वभावोक्ति के माध्यम से, ऐसे अनेक स्थल मिलते है, जहाँ वक्रोक्ति के बिना भी रस-स्फुरण मिलता है। बाल-लीला के अनेक प्रसगो में ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। सूरदास जी ने वक्रोक्ति को उस रूप मे ग्रहण नही किया जिस रूप मे उनका वर्णन वक्रोक्तिजीवित मे है। उन्होने जिस प्रकार अलकारो को रसोत्कर्ष का साधन बनाया है, उसी प्रकार वक्रोक्ति को भी। साथ ही अलकारिको की भाँति वक्रोक्ति को एक शब्दालकार मात्र नही माना है। शब्दालकार वाला सीमित दृष्टिकोण सूरसागर मे नहीं है। भ्रमरगीत उक्ति-वैचित्र्य का सागर है, किन्तु उसमे शब्दालकार रूप वक्रोक्ति के उदाहरण अधिक नही हैं जैसा कि अलकार वाले पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है। सूरदास जी ने उक्ति की वक्रता को रस की प्रतीति कराने का सशक्त साधन बनाया है। कथन के सीधे ढग को छोड़कर उन्होने वक्रता का सहारा लिया है। सूरसागर के विनय-पदो, माखन चोरी, मुरली-लीला, पनघट-लीला और दान-लीला मे इनके अनेक उदाहरण मिलते हैं।[3] भ्रमरगीत का तो समूचा प्रसग ही वक्रोक्ति पर आधारित है।

१, अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्व सालकारस्य काव्यता॥ (वक्रोक्ति जीवित) ।१।६

२. वक्रोक्ति वैदग्ध्य भगी भणिति। वैदग्ध्य विदग्ध भाव, कवि कर्मकौशलं, तस्य भंगी विच्छित्तिः, तया भणितिः। विचित्रैवा विधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।

३. देखिए सूर की काव्यकला, द्वितीय सस्करण, पृ०, १८१-१८५

प्रकरण वक्रता

भ्रमरगीत का कथा-प्रसग कुन्तक की प्रकरण-वक्रता का सुन्दर उदाहरण है। प्रकरण-वक्रता वहाँ मानी जाती है जहाँ कवि अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी सुन्दर गौण प्रसग की उद्भावना करता है। ऐसा करने से समग्र वृत्त मे एक वैचित्र्य उत्पन्न हो जाता है। जैसा पीछे स्पष्ट किया गया है, सूरदास जी ने भ्रमरगीत को एकदम मौलिक रूप मे प्रस्तुत किया है। भ्रमरगीत भागवत का एक अति गौण सदर्भ था। उसे सूरदास जी ने ऐसा पल्लवित किया कि वह सरसता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ प्रकरण बन गया। भागवत में भ्रमर-गीत केवल एक गीत मात्र है किन्तु सूरसागर मे आकर यह भ्रमरगीत एक लीला-प्रकरण है। इसका आकार बहुत बड़ा है और सरसता तथा काव्यात्मकता की दृष्टि से अन्य लीलाओ से कही बढचढ कर है।

कथोपकथन-शैली

भ्रमरगीत मे उपक्रम उद्धव-गोपी सवाद है किन्तु कथोपकथन व्याज मात्र है। उद्धव और गोपी उत्तर-प्रत्युत्तर नही करते। उद्धव सदेशमात्र प्रस्तुत करते हैं और गोपिया भ्रमर-गीत के नाम से अपने-अपने हृदयोद्गार प्रस्तुत करती है। हर पद मे ऐसा लगता है मानो उद्धव के किसी कथन का उत्तर दिया जा रहा है। उद्धव मूक से बैठे रह जाते है और गोपिया प्रत्युत्तारोकी झड़ी लगाती दृष्टिगत होती है। बिना कथोपकथन के कथोपकथन प्रस्तुत करने का नया ढग प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान और भक्ति का सैद्धान्तिक विवाद उत्तर-प्रत्युत्तर देखने को नही मिलता, फिर भी ज्ञान की पराजय और भक्ति की विजय निर्भ्रान्ति रूप मे देखी जा सकती है। कथा का आच्छादन बडा ही झीना है। इस आवरण के नीचे पुष्टिमार्गीय भक्ति मे पगी हुई विरहिणी गोपियो का निश्छल भाव स्पष्ट झलकता रहता है। इस प्रकार महत्वपूर्ण भ्रमरगीत की विषयवस्तु है, उसका कथोपकथन नही। प्रश्न यह उठता है कि उद्धव-गोपी-सवाद के उपक्रम की उपयोगिता ही क्या है ? यदि भ्रमरगीत की विषय-वस्तु सवाद-शैली मे न होती तो उसके काव्य-रूप मे क्या अन्तर पड़ता ?

उत्तर स्पष्ट है। सूरदास जी पुष्टिमार्गीय पद्धति के निष्णात भक्त थे। उन्होने विनय के पदो मे तथा अन्य लीलाओ मे पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रतिपादन किया है, किन्तु कहीं भी उसका वसा पुष्ट और निर्भ्रान्त समर्थन नही कर सके हैं, जैसा भ्रमरगीत मे। महाज्ञानी पडित रूप मे उद्धव जी गोपियो के समक्ष अपने मत का प्रकाशन करते है, गोपियाँ उनके एक एक शब्द की धज्जियाँ उडाती हैं। एक गीत नाट्य का वृत्त अभिनीत होता है, उद्धवजी का आमूल परिवर्तन होता है और वे कृष्ण के समक्ष भक्ति-मान्यताओं का प्रतिपादन साग्रह करते हैं। यदि भ्रमरगीत की सवाद शैली न होती, परम्परागत शब्दार्थ-शैली होती, जैसी कि नन्ददास के भ्रमरगीत मे अथवा भागवत मे हैं, तो उक्ति-वैचित्र्य को वह शुभ अवसर प्राप्त न होता जो सूर के भ्रमरगीत में प्राप्त है। शास्त्रार्थ के तार्किक विवाद मे नीरसता का उपस्थित हो जाना अनिवार्य था। दार्शनिक तथ्यो के बोझ से काव्य-स्वरूप विकृत हो जाता। इसके विपरीत सूरदास जी के भ्रमरगीत मे गोपियों की की उक्ति मे बाँकपन है। सैद्धान्तिक

दार्शनिक विवेचन प्रमुख नही होने पाया है। किन्तु दार्शनिक तथ्यों को ओझल भी नही होने दिया है। इस प्रकार सरस उक्तियो के माध्यम से ज्ञान और भक्ति का नीर-क्षीर विवेक प्रस्तुत किया गया है। परिणाम यह हुआ है कि भ्रमरगीत के द्वारा दार्शनिक गहनता इतनी बोधगम्य हो गयी है कि साधारण-से-साधारण सहृदय भी उसे सरलता से हृदयगम कर सकता है।

भ्रमरगीत के प्रतिपाद्य का दूसरा पहलू है गोपियो का विरह-निवेदन। उद्धव के आने से पूर्व भी गोपियो का विरह-वर्णन है। समस्त भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन साहित्य में गोपियो का सीधा विरह-वर्णन उपलब्ध है। यदि इस सीधे विरह-वर्णन को भ्रमरगीत के वक्र विरह-वर्णन से तुलना करें तो सूरदास जी की संवाद-शैली का महत्त्व स्पष्ट हो जायगा। सीधे विरह-वर्णन मे विरहिणी का शारीरिक असौष्ठव, दौर्बल्य, विषाद, रुदन, प्रलाप, उन्माद आदि कारुणिक हो जाते हैं। काव्य-सौष्ठव का पर्याप्त अवसर होते हुए भी उसमे भावुकता की अतिरजना ही होती है। उद्धव के उपस्थित होने, उनके सदेश प्रस्तुत करने पर विरह की दश दशाओं मे निमग्न शोकविह्वला गोपियो मे आवेश आ गया। उनका सुप्त पौरुष जग गया। उनकी शक्तियाँ झनझना उठीं और वे उपालम्भ के स्वर मे मुखरित हो उठी। रुदन मे रत आर्तवाणी विनोद, व्यग्य और कटूक्ति पर उतर आई। पक्ति-पक्ति पर वक्रोक्ति थिरकने लगी। साहित्य मे अभूतपूर्व सरस उपालम्भ काव्य की अवतारणा हो गयी। यह सब सूर की कथोपकथन-शैली का ही परिणाम था।

गोपियो द्वारा प्रस्तुत उक्ति-वैचित्र्य के तीन प्रमुख अंग है—वचनचातुरी, तर्क और उपालम्भ। गोपियो ने अपने मन्तव्य को व्यक्त करने के लिए जिस वक्रोक्ति का अवलम्बन लिया है, वह न तो आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति है और न ध्वनिकार की ध्वनि। उसमे वचन-चातुरी मिलती है। जब तथ्य या तर्क हार जाते हैं तो विज्ञजन वाक्-चातुर्य विट (Witt) का उपयोग करते हैं। यह वाक्-चातुर्य तर्कों से भी अधिक सशक्त सिद्ध होता है। सूरदास जी के उक्ति-वैचित्र्य मे इसी वचन-चातुरी (Witt) का योग सर्वाधिक है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि सूरदास जी ने भक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादन मे शास्त्रीय तर्कों का उपयोग नही किया है। वचन-चातुरी के आलोक मे तर्क भी प्रस्तुत किये हैं और इन दो अस्त्रो के उपरान्त उपालम्भ का ऐसा अमोघ अस्त्र चलाया है, जिसके आगे उद्धव जी हथियार ही डाल देते हैं। भ्रमरगीत मे उपलब्ध वचन-चातुरी, तर्क और उपालम्भ के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

वचन-चातुरी

वाक्-चातुर्य के अनेक रूप भ्रमर गीत मे उपलब्ध होते हैं—

(अ) भाव-भगी—उद्धव के सन्देश सुनते ही गोपिया भाव-भंगी के साथ कहती हैं—

कहौ कहाँ ते आए हौ।
जानति हौं अनुमान आपनै, तुम जदुनाथ पठाए हौ।
... ...
सूर जहाँ लौं स्याम गात हैं, जानि भले करि पाए हौ।[1]

---

१. सूरसागर, पद ४११९

पहले तो जान कर भी अनजान बनना, फिर अनुमान लगाना और अन्त मे यह कहना कि हम सारे स्याम रग वालो को भली भाँति जानती हैं, इस प्रकार बिना कुछ कहे ही सब कुछ कह देना वाक्-चातुर्य का अनूठा ढंग है।

(आ) वचन-भंगिमा—प्रशसा के द्वारा निन्दा मे वचन-भंगिमा के दर्शन होते है। जैसे—

बेन आए ऊधौ मत नीकौ।
आवहु री मिलि सखी सयानी, लेहु सुजस कौ टीकौ।
तजन कहत अंबर आभूषन, गेह नेह सुत ही कौ।[1]

'नीकौ' और 'सुजस कौ टीकौ' की व्याख्या 'तजन कहत अ बर' मे ही प्रकट हो जाती है। कहाँ नारी जाति और कहाँ यह मत !

(इ) विनोद—उद्धव से सीधा प्रश्न करना कि तुम सच्चे हो या कच्चे अपने आप मे बड़ा ही विनोदात्मक है। बिना किसी अलकार के उक्ति बाकपन से ही अलंकृत है—

ऊधौ स्याम सखा तुम साचे।
की करि लियो स्वाँग बीचहि तै, वैसे हि लागत काँचे।[2]

उद्धव जैसा ज्ञानी पडित भी इस प्रश्न का क्या उत्तर दे ? गोपियाँ उपहास के साथ कहती हैं कि प्रतीत होता है तुम भ्रम मे हो। कृष्ण ने तुम्हे यहाँ नही भेजा, भटक कर आये हो अथवा फिर यह हो सकता है कि कृष्ण ने ही तुम्हारे साथ उपहास किया हो—

ऊधौ जाहु तुम्हैं हम जाने।
स्याम तुमहिं ह्याँ को नाहिं पठायो, तुम हौ बीच भुलाने।
.. ..
सूर स्याम जब तुमहिं पठायौ, तब नैकहुँ मुसुकाने॥[3]

(ई) फबती—फबती वचन चातुरी का बडा पैना अस्त्र है। राजा कृष्ण और पटरानी कुब्जा पर उनकी फबती दृष्टव्य है—

कहत अलि मोहन मथुरा राजा।
नेव अक्रूर बदत बदी तुम, गावत हौं नृपसाजा॥
.. ..
गुन अनुरूप समान भेषता, मिले दुआदस बानी।
मधुबन देस कान्ह कुबिजा संग, बनी 'सूर' पटरानी॥[4]

यहाँ अनुरूप गुण से कृष्ण के त्रिभगी रूप और कुब्जा के कुबड़ेपन की ओर सकेत है।

इसी प्रकार कृष्ण के द्वारा कुब्जा के रूपान्तर पर भी वे फबती कसती हैं। कृष्ण न केवल प्रेमी और रसिक हैं, वरन् अभूतपूर्व वैद्य भी हैं। अब नई रीति से नगर-नारियो के

१ सूरसागर, पद ४१३३
२. ,, ,, ४१३५
३. ,, ,, ४१४०
४. ,, ,, ४२४६

सभी रोग दूर हो जायेंगे।

वैद मिल्यौ कुबिजा कौं नीकौ।

... ...

चल्यौ जु चलन नगर नारिनि मैं, रोग न रह्यौं कही कौ।।[1]

(उ) प्रश्न—उद्धव जी के निर्गुण सिद्धान्त का निराकरण प्रश्नो से भी किया है—

निरगुन कौन देस को वासी।

... ...

को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी।
कैसे वरन भेस है कैसो, किहि रस मैं अभिलाषी।।[2]

मानो निर्गुण कोई रूपधारी व्यक्ति है जिसका वे विस्तृत परिचय पूछ रही हैं। स्पष्ट है, इस प्रकार के प्रश्नो के समक्ष उद्धव अपने गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्त कैसे प्रस्तुत करते? गोपियो की वचन-चातुरी उद्धव के ज्ञान पर पानी फेर देती है और वे निर्विवाद रूप मे एक अनाडी सिद्ध हो जाते हैं—

कहिए कहा यहै नहिं जानत, कहौ जोग किहि जोग।
पालागौं तुमही से वा सुर, बसत बावरे लोग।[3]

(ऊ) स्वीकृति—वचन-चातुरी मे नम्रता की प्रधानता रहती है, विरोध करते हुए भी प्रतिपक्ष की उक्तियो का निषेध स्वीकृति के द्वारा किया जाता है, इसीलिए गोपियां कहती हैं—

नातरु कहा जोग हम छाँड़हि, अति रूचि कै तुम लाये।
हम तौ झखति स्याम की करनी, मन लै जोग पठाये।
अजहूँ मन अपनो हम पावै, तुम तैं होइ तो होइ।
सूर सपथ हमै कोटि तिहारी, कही करैंगी सोइ।।[4]

योग को स्वीकार करने को सर्वथा प्रस्तुत गोपियां चतुराई से अपने पक्ष पर आ जाती हैं कि जिसमे हमारा मन रमा है, उसे ला दे, क्योकि मन तो तभी आयेगा, जब कृष्ण आयेंगे। कृष्ण-सखा होने के कारण आपके लिए यह दुर्लभ भी नही है।

इसी प्रकार योग की सारहीनता का निर्देश कम करने के लिए वे उसे अनुपम कह कर उसकी बहुमूल्यता स्वीकार करती हैं और अच्छी तरह सँभाल रखने की चेतावनी भी देती हैं।

ऊधो जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधौ गाँठि छुटि परि है कहुँ, फिरि पाछे पछिताहु।।
ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर, मरम न जानै और।
व्रज वनितानि के नहीं काम की, है तुम्हरेई ठौर।।[5]

---

१. सूरसागर, पद ४२६८
२. ,, ,, ४२५०
३. ,, ,, ४३०१
४. ,, ,, ४३३८
५. ,, ,, ४४२८

इस प्रकार वे यह स्पष्ट करती हैं कि योग ब्रज-बनिताओं के काम की वस्तु नही है, किन्तु कथन सीधे शब्दो मे न होकर वक्रोक्ति मे है।

(ए) लाक्षणिक प्रयोग—वक्रोक्ति मे लक्ष्यार्थ का योग प्रमुख होता है। शब्दो के परिनिष्ठित तात्पर्य उक्ति मे बाकपन लाते हैं। भ्रमरगीत के निम्न शब्द इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं, इनका लक्ष्यार्थ संदर्भो मे सुस्पष्ट है, व्याख्या अनावश्यक है—

नीकौ—देन आए ऊधौ मत नीकौ।
तजन कहत अंबर आभूषन, गेह नेह सुत ही कौ।
अग भस्म करि सीस जटा धरि, सिखवत निरगुन फीकौ॥ (४१३३)

मेहमाना—जैसी कही हमहिं आवत ही, औरनि कहि पछिताते।
अपनौ पति तजि और बतावत, मेहमानी कछु खाते॥ (४१३५)

छपद पसु—सूर सकल अगन की यह गति, क्यो समुझावैं छपद पसुहिं॥
(४१५३)

फूंकना—मधुप कहि जानत नाहीं वात।
फूकि फूकि हियरो सुलगावत, उठि न इहां तै जात॥ (४१६४)

रगी—सूरदास जे रगी स्याम रग, फिरि न चढै रँग यातैं। (४१६६)

नागरि नवल किसोरी—मधुकर हम अजान मति भोरी।
यह मत जाइ तहाँ उपदेसौ, नागरि नवल किसोरी। (४१७२)
नागरि नारि भलैं समुझैंगी, तेरो वचन बनाउ। (४२३७)

नवल वधू—कोऊ हुती कंस की दासी कृपा करी भइ रानी।

कहानी—अब वह नवल वधू ह्वै बैठी, ब्रज की कहति कहानी॥ (४२५५)

ठकुराइत—कहियौ ठकुराइति हम जानी। (४२५६)

राजा-रानी—राजा भए तिहारे ठाकुर, अरु कुबिजा पटरानी। (४२६०)

गोपीनाथ—काहे को गोपीनाथ कहावत।
... ...
जो पै स्याम कूबरी रीझे, सोइ किन विरद बुलावत॥ (४२६६)

परमारथी—परमारथी जहां लौं जेते बिरहिनि के दुखदाई। (४२८८)
परमारथी पुराननि लादे, ज्यौं बनजारे टांड़े। (४२२३)
परमारथ उपचार करत हौ, विरह व्यथा है जाहि (४३४४)

आगि—जोग की गति सुनत मेरैं अंग आगि बई।
सुलगि तन हम जरति ही, तुम आनि फूकि दई। (४३२२)

अहीर जसोदानन्दन—जदपि अहीर जसोदानंदन कसे जात छड़े।

जादौपति—ह्वां जादौपति प्रभु कहियत हैं, हमै न लगत बड़े।
को वसुदेव देवकी नन्दन, को जानै को बूझै।

नदनंदन—सूर नन्दनंदन के देखत और न कोऊ सूझै।(४३५०)

जदुनन्दन—हम अहीर अबला ब्रजवासी, वै जदुपति जदुराई।
कहा भयो जु भए जदुनन्दन, अब यह पदवी पाई। (४३१७)

उपर्युक्त उद्धरणों के लक्ष्यार्थ गोपियो की वचन-चातुरी की सशक्त साधन है, उन्होने जो जो व्यंग्य-बाण छोडे हैं, वे बडे ही अचूक है और उनका प्रभाव अवश्यम्भावी था। तभी तो उद्धव की समग्र जीवन की साधना काफूर हो गई।

तर्क

वाक्-चातुर्य (Witt) तथा लाक्षणिक प्रयोग के अतिरिक्त गोपियो के तात्विक तर्क भी बड जोरदार हैं। उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-तथ्यों का सैद्धान्तिक उत्तर भी भ्रमरगीत मे उपलब्ध है, किन्तु तार्किक तत्त्वबोध उभरने नही पाया है, उक्ति-वैचित्र्य के आवरण मे नियन्त्रित है। अनेक स्थलो मे तो तर्क भी उक्ति-वैचित्र्य का ही रूप धारण करते हैं। जब सैद्धान्तिक तर्क-वितर्क प्रधान हो जाते हैं तो काव्य काव्य नही रह जाता, दर्शन बन जाता है, किन्तु जब दार्शनिक तर्क उक्ति-वैचित्र्य के अधीन रहते हैं तो काव्य अर्थ-गाम्भीर्य से गौरवान्वित हो जाता है। नददास के भ्रमरगीत मे दार्शनिक-तर्क मुखर हो उठे है अत उद्धव-गोपी-विवाद मे काव्य-तत्व क्षीण हो जाते हैं। सूरदास के भ्रमरगीत मे उसके ठीक विपरीत वे ही दार्शनिक-तर्क प्रधान नही बनते, अत उक्ति-वैचित्र्य का हल्कापन निकल जाता है और स्वर्ण की निकाई मूल्य की गरिमा से द्विगुणित हो जाती है।

उद्धव-प्रवचन के दो मुख्य सैद्धान्तिक तर्क है—१ कृष्ण निर्गुण-निराकार हैं, सर्व-व्यापक हैं, घट-घट मे समा रहे हैं, अन्तर्यामी और समदृष्टि है। २. उनकी प्राप्ति का साधन योग है, आसन, प्राणायाम, समाधि आदि द्वारा सांसारिक विषय-वासना से मुक्ति मिल सकती है। गोपिया इन तथ्यो का उत्तर देती है, किन्तु उत्तर मे व्यावहारिक-पक्ष को प्रधानता देती हैं' जैसे—

जोग समाधि वेद मुनि मारग, क्यौं समुझ जु गवारि।
जो पै गुन अतीत व्यापक है, तो हम काहैं न्यारि ॥[1]

अर्थात् एक तो व्यावहारिक दृष्टि से आसन, प्राणायाम, समाधि आदि योग के साधन ग्रामीण नारियो के वश की बात नही है, दूसरे यदि वे गुणातीत और घट-टघ-व्यापक हैं तो हम से अलग कैसे हैं? हमे उनके हृदयस्थित होने की अनुभूति हो जाय तो हमे विरह ही किस बात का होगा?

तुम ही कहत सकल घट व्यापक गौर सर्बहि तै नियरे।
नख सिख लौं तन जरत निस दिन, निकसि करत किन सियरे ॥[2]

हृदय मे यदि वे विराजमान हैं तो क्यो नहीं प्रकट होकर हमारे दुख दूर करते। स्पष्ट है, तर्क उक्ति के चमत्कार सम्बन्धी है, दार्शनिक तथ्य सम्बन्धी नही।

यही तर्क अन्तर्यामी के सम्बन्ध मे भी है—

---

१. सूरसागर, पद ४१२८
२. ,, ,, ४४०७

ऊधौ हरि काहे के अंतरजामी ।
अजहूँ न आइ मिलत यहि अवसर, अवधि बतावत लामी ॥[1]

प्रभु की समदृष्टि तथा निर्गुणता के सम्बन्ध में उनका तर्क है कि—

जो समदृष्टि आदि निर्गुन पद, तौ कत चित्त चुराए ।
मोहन वदन विलोकि मानि रुचि, हँसि हँसि कठ लगाए ।[2]

जिसने प्रत्यक्ष गोपियो को हँस-हँस कर कठ लगाया, उस मोहन मुख वाले को अनादि और निर्गुण कैसे मानें ?

समाधि के सम्बन्ध मे उनका तर्क बड़ा ही सीधा है—

आँखि मूंदि कह पावै ढूंढे, अंधरे ज्यो टक टोइ ।[3]

समाधि मे आखें बन्द करने से तो दशा उस अन्धे की होगी जो इधर-उधर टटौलता फिरता है और कुछ नही पाता ।

साधन रूप योग की चर्चा के सम्बन्ध मे वे कहती हैं कि इसके पहिले कि आप अपनी सिद्धि की चर्चा करें आपको चाहिए कि आप पहले यह विचार करें कि आपको यहाँ भेजे जाने का कारण क्या है ? आपको तो कृष्ण ने इसलिए भेजा कि आप हम गोपियो का दुख दूर करें । आप जानिये कि दुख किस बात का है ? दुख तो है विरह का, जिसका साधन है मिलन । आप चर्चा करते हैं ज्ञान की । आपको पता होना चाहिए कि विरह (दुख का कारण) और ज्ञान (उपचार) मे आकाश-पाताल का अन्तर है। अब बतलाइए, कहे जाते है आप बडे प्रवीण और आपकी युक्ति ऐसी है जैसे जल मे डूबते व्यक्ति को झाग का सहारा लेने का सुझाव—

ऊधौ तुम ब्रज की दसा बिचारौ ।
ता पाछे यह सिद्धि आपनौ जोग कथा विस्तारौ ।
जा कारन तुम पठये माधौ, सो सोचो मन माही ।
केतिक बीच विरह परमारथ जानत हौ किधौं नाहीं ।
तुम परवीन चतुर कहियत हौ, सतत निकट रहत हो ।
जल बूडत अवलव फेन को, फिरि फिरि कहा कहत हौ ॥[4]

तार्किक-पद्धति मे उत्तर देने वाला प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नो का उत्तर प्रश्न से ही देता है। न्यायालय के वकील उत्तर मे प्रश्न करते है । और प्रश्न ही उत्तर बन जाते हैं। तर्क की यह रीति भी भ्रमरगीत मे उपलब्ध है। गोपियाँ उद्धव के ब्रह्म, माया और जीव के सिद्धान्त-निरूपण के सम्बन्ध मे कहती हैं कि यदि कृष्ण निर्गुण है और उनकी माया ने हमे भ्रम मे डाल रखा है, तो आप बताएं कि कृष्ण ने ब्रज मे जो नर-लीलाएं की, क्या वे असत्य हैं ?

---

१. सूरसागर, पद ४२४८
२. ,, ,, ४४१०
३. ,, ,, ४४१३
४, ,, ,, ४२४०

मधुकर यह जानी तुम सांची।
पूरन ब्रह्म तम्हारो ठाकुर, आगै माया नाची।
... ...

को जसुमति ऊखल सौं बांध्यौ, को दधि माखन चोरे।
किन ये दोऊ रूख हमारे जमला अर्जुन तोरे।
को लै बसन चढ्यो तरु साखा, मुरली मन आकरषे।
को रस रास रच्यौ वृंदावन, हरषि सुमन सुर बरषे॥[१]

तर्क मजाक की जान है। तर्क के द्वारा ही उपहास मे प्रतिपक्ष की करारी हार होती है—विशेषतया तब जब मजाक का स्तर निम्न धरातल पर उतर आता है। गोपियां कुब्जा की टेढी पीठ को दृष्टिगत करके सुरति के सम्बन्ध मे प्रश्न करती हैं—

जिहिं छिन करत कलोल सग रति गिरधर अपनी चाढ़।
काटत हैं ??रजक ताहि छिन, कै धौं खोदत खाढ़॥[२]

बात बड़ी मोडी है, किन्तु है इतनी तार्किक कि लाजवाब ही।

गोपियाँ कृष्ण के रूप को भूल नही सकती और उनके प्रेम को छोड़ने को तैयार नही हैं, इस मन्तव्य को प्रकट करने के लिए वे अकाट्य तर्क का सहारा लेती हैं—

मन में रह्यौ नाहिन ठौर।
नदनंदन अछत कैसैं राखिये उर और॥[३]

जब स्थान भर गया (हाउस फुल हो गया) तो और को कहाँ बिठाए? मन मे तो नदनंदन (सगुण) बस गये हैं, वे हटे नही, तो आपके द्वारा प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म को कहाँ स्थान दें?

उत्तर देने के लिए प्रश्न उपस्थित करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हम प्रेम के द्वारा कृष्ण के रसानन्द मे लीन हैं, आप क्यो हमारे सीधे रास्ते पर निर्गुण का काँटा डालते हैं—

काहे को रोकत मारग सूधौ।
सुनहु मधुप निरगुन कटक तैं राज पथ क्यौं रूधो॥[४]

अपने राजपंथ का स्पष्टीकरण भी उन्होने किया है। प्रेम (भक्ति) से प्रभु की समालोक्य, सारूप्य और सायुज्य और सामीप्य भक्ति सुलभ है। यह राजपथ है, सर्वथा निरापद और आनन्दमय है। इसे छोड़कर निर्गुण ब्रह्म के कटकाकीर्ण ज्ञान-पथ पर जाने से क्या लाभ?

सेवत सुलभ स्याम सुदर को मुक्ति लही हम चारी।
हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यौ, रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरैं, तुम अलि बड़े अदाई॥[५]

---

१. सूरसागर, पद ४२४६
२. ,, ,, ४२६१
३. ,, ,, ४३५१
४. ,, ,, ४५०६
५. ,, ,, ४५१६

तर्क-पद्धति मे व्यक्तिगत आक्षेप भी प्रस्तुत हो जाते हैं। गोपियाँ भी इसीलिए सामान्य तर्क प्रस्तुत करते-करते उद्धव को आड़े हाथो लेती हैं और सीधा प्रश्न करती हैं कि यदि आप ज्ञान का उपदेश हमे देते हैं तो स्वय भक्त क्यों कहलाते हैं ? स्वय तो भक्त बने हो और दूसरो को ज्ञान का उपदेश दे रहे हो। हमे ज्ञान का सदेश भेजना था तो कृष्ण पहले कुब्जा को यह मत्र देते—

ऊधौ काहे को भक्त कहावत।
जु पै जोग लिखि पठयौ हमकौ, तुमहु न भस्म चढ़ावत ।।
शृंगी मुद्रा भस्म अधारी, हमही कहा सिखावत।
कुबिजा अधिक स्याम की प्यारी, ताहि नहीं पहिरावत ।।[1]

इस प्रकार भ्रमरगीत के वाद-विवाद मे तर्क की विभिन्न पद्धतियाँ मिलती हैं। दार्शनिक तथ्य सामान्य तर्कों के अधीन हैं। भ्रमरगीत के तर्क नीरस नही है, बल्कि उनके कारण उक्ति मे भगिमाए आ गईं हैं और शैली विनोद से समुज्ज्वल हो गई है।

उपालम्भ

दुर्व्यवहार के विरुद्ध मन मे जो क्षोभ होता है, उसी का उद्घाटन करने के लिए उपालम्भ प्रस्तुत किया जाता है। उपालम्भ मे आत्म-निवेदन भी होता है और पर-पक्ष की आलोचना भी। आत्म-निवेदन इसलिए कि दूसरा व्यक्ति जान सके कि उसके क्रूर-कार्यों के कारण कितना बडा अनर्थ हुआ है। प्राय. लोग अपनी स्वार्थपरता की धुन में यह जान भी नही पाते कि उनके व्यवहार के कारण दूसरे का कितना अहित हो गया। साथ ही, कभी-कभी एक तो दूसरे के प्रतिनि स्वार्थ-भाव से त्याग कर रहा है, पर दूसरा जानता भी नही कि कौन क्या कर रहा है ? उपालम्भ के द्वारा उस तक इस ओर के सद्भावो, उत्सर्गो आदि के विवरण भेजे जाते हैं। इस उपालम्भ का मुख्य लक्ष्य प्रतिदान ही पाने का नही होता। कुटिल, क्रूर, कठोर और कपटी को वस्तुस्थिति की प्रतीति हो जाय, कम-से-कम मानवता का ढोग तो वह न रच सके। पर्दाफाश करना, सचेत करना, मानवीय व्यवहारोका तकाजा करना ही उपालम्भ के उद्देश्य हैं। हृदय मे जो क्षोभ भरा है, उसमे व्यथा है जलन है, विद्रोह और क्रान्ति की अग्नि रहती है। शिष्ट उपालम्भ मे ज्वालामुखी का विस्फोट भीषण नही होता। भीतर भयानक अग्नि को समेटे हुए भी ऊपर की हरियाली दृष्टिगोचर होती है, केवल कभी-कभी भूचाल या हल्के विस्फोट के रूप मे उसका उद्गार हो जाता है। उपालम्भ मे चोटें मीठी दी जाती हैं, नम्र-निवेदन के रूप मे अपनी दशा का चित्रण होता है और अन्यायी के कृत्यो की चुटकी ली जाती है। भाव-प्रेरित वक्रताएँ उपालम्भ मे सहज सुलभ होती है। कभी-कभी जब विपक्षी बोल पड़ता है, अपना बचाव करने के लिए अपने कृत्यो के औचित्य पर तर्क प्रस्तुत करने लगता है, तब भीतर की आग फूट पडती है और नम्र-निवेदन कटूक्तिओ मे बदल जाता है। कभी-कभी उपालम्भ की बौछारो को सुनने पर मूक बन जाने का जो अभिनय व्यक्ति करता है, उस पर भी झुझलाहट बढ जाती है और उक्ति मे कठोरता

---
१. सूरसागर, पद ४४३१

आ जाती है। इतना होने पर भी उपालम्भ के अन्तस्तल में सद्भाव, सौहार्द और शुभकामना का मधुररस ही होता है। इस प्रकार जहाँ अन्तर्माधुर्य है और बाह्यकटुत्व, वहाँ वक्रता अनिवार्य है। इसलिए उपालम्भों मे विशेषतया काव्य के उपालम्भों मे जहां भाषा का सस्कार अनिवार्य रूप से हुआ होता है, उक्ति-वैचित्र्य के रत्न-भंडार सरलता से उपलब्ध होते हैं।

भ्रमरगीत काव्य मे, जैसा, पीछे अनेक स्थलों पर निवेदन किया गया है, ज्ञान-भक्ति का संवाद आनुषगिक है; प्रमुख है, उपालम्भ। गोपियाँ विनोद, व्याजनिन्दा, उपहास और कटूक्तियो के रूप मे कृष्ण-कुब्जा और उद्धव के प्रति अपने हृदय की प्रतिक्रियाएं उपस्थित करती हैं। उनमे भावुकता और वाग्विदग्धता का सहज समन्वय मिलता जाता है। भ्रमरगीत के उपालम्भो का आकलन करने के लिए हम दो वर्ग कर सकते हैं—(१) कृष्ण के अन्यायो का दर्शन, (२) गोपियो की निजी दशा का निवेदन।

कृष्ण के अन्याय

उपालम्भ मे मुख्यतया गोपियो ने कृष्ण की कपटपूर्ण प्रीति की चर्चा की है। जैसे—

मधुकर काके मीत भए।
त्यागे फिरत सकल कुसुमावलि, मालति भुरै लए ॥[1]

+ × +

मधुकर काके मीत भए।
द्यौस चारि करि प्रीति सगाई, रस लै अनत गए।
... ...
सूरदास प्रभु धूति धर्म ढिग, दुख के बीज बए ॥[2]

यहाँ उपालम्भ सीधे शब्दो मे न होकर समासोक्ति के द्वारा मधुकर के व्याज से कहा गया है। इस प्रकार वक्रता स्पष्ट है।

कृष्ण इतने अविवेकी हैं कि उन्होने अपनी जन्मभूमि ब्रज और बाल-सखी निरपराध राधा को अकारण छोड़ दिया और अत्यन्त कुरूपा, अकुलीन, गुणहीन दासी को रमणी बना लिया। कहाँ राधा और कहाँ कुब्जा, कितना बडा अन्तर है—

जनम भूमि ब्रज सखी राधिका, केहि अपराध तजी।
अति कुलीन गुन रूप अमित सुख, दासी जाइ भजी ॥[3]

यहाँ कुब्जा के असौंदर्य, निम्न वश और कुल-हीनता की ओर विपरीत लक्षणा से ही कथन है, सीधे शब्दो से नही। ज्ञान सदेश भेजना और भी अधिक अन्याय है, क्योंकि इससे विरह दूना होता है, स्मृति ताजी होती है—

मधुकर काहे को गोकुल आए।
हम वैसी ह[illegible]चु अपने मै, दूने विरह जगाए।
....

१. सूरसागर, पद ४१२५
२. ,, ,, ४१२६
३. ,, ,, ४१२८

कहा करहिं कहँ जाहिं सखी री, हरि बिन कछु न सुहाए।
जनम सुफल सूरज तिनकौ, जे काज पराए धाए॥[1]

अंतिम पंक्ति मे 'काज पराए धाए' मे उनका तात्पर्य यह नही है कि कृष्ण जन-हित के लिए मथुरा गए है, वरन् उनका मतलब तो यह था कि वे कुब्जा के लिए मथुरा गए।

गोपियो को इस बात का बड़ा क्षोभ है कि जो कृष्ण हम से दधि-माखन माँग-माँग कर खाते थे अब राजा बनकर बिल्कुल बदल गये और प्रेम के प्रतिदान मे योग भेजा है—

कहा जो राजा जाइ भयो।
हम कौं कहत और की औरै, आयौ भेष नयो।
अब लौं तो छोटे अंग भोजन, घर घर मांगि लयौ।
कैसें सह्यौ जात हम पै यह, जोग सु पठै दयौ।
बन बन धेनु चराइ ग्वाल सग, मथि मथि पियौ धयौ।
सूरज प्रभु अब व्रज बिसरायौ, उन यह मतौ दयौ॥[2]

कृष्ण की कठोरता पर स्पष्ट कथन भी है—

ऊधौ अब चित भए कठोर।
पूरब प्रीति बिसारि गिरिधर, नूतन राचे और।
... ...
जब हरि मधुबन कौं जु सिधारे, धीरज धरत न ठौर।
सूरदास चातक भई गोपी, कहां गए चितचोर॥[3]

कृष्ण के भेजे हुए सदेश को सुनकर उन्हे पूर्व स्मृतियाँ जगती है। उन्हे देख कर कहती हैं, समझाती हैं कि अब कृष्ण मे बड़े परिवर्तन हैं। हम तो उनके बिना रह नही सकती और वे हमे सर्वथा भुला चुके है। कृष्ण पर आरोप लगाते हुए वे आत्म-निरीक्षण भी करती हैं, किन्तु अपने मे कोई दोष पाती ही नही। तब निवेदन करती हैं—

ऊधौ कहा हमारी चूक।
... ...
बिनही काज छांडि गए मधुबन, हम घटि कहा करी।
तन मन धन आतमा निवेदन, सौं उन चितहिं धरी।
रीझे, जाइ सुंदरी कुबिजा, इहिं दुख आवति हांसी।
जद्यपि कूर, कुरूप, कुदरसन, तद्यपि हम व्रजवासी॥[4]

यहाँ भी 'कूर कुरूप कुदरसन' जो वास्तव मे कुब्जा के विशेषण हैं अपने लिए और सुन्दरी जो राधा का विशेषण है कुब्जा के लिए कहा है। इस प्रकार वचन-भंगिमा सुलभ है।

---

१ सूरसागर, पद ४१२६
२. ,, ,, ४२४७
३. ,, ,, ४२५३
४. ,, ,, ४२७३

कृष्ण का व्यवहार कितना अन्यायपूर्ण है, बने हैं राजा और राजा का धर्म नही जानते। सभी कार्य उनके उल्टे हैं। उनकी सरकार अंधाधुंध है, कोई न्याय नही, कोई नीति नही—

ऊधौ धनि तुम्हारो व्यवहार।
धनि वै ठाकुर धनि तुम सेवक, धनि हम वर्तनहार॥
काटहु अंब बबूल लगावहु, चंदन की करि बारि।
हमकों जोग भोग कुबिजा कों, ऐसी समुझि तुम्हारि॥
पकरो साह चोर को छोड़ो चुगलनि को इतबार।
सूरदास ऐसी क्यों निबहै, अंध धुंध सरकार॥[1]

गोपियां कृष्ण के कपट को कपट न कह कर चतुराई कहती हैं और फिर उस चतुराई की व्याख्या भी करती हैं—

मधुकर कहियत चतुर सयाने।
पहिली प्रीति पिवाइ सुधारस, पाछै जोग बखाने।
ज्यौं ठग मीठी कहि सतोषत, फिरि प्राननि गहकानै।[2]

यहाँ चतुर सयाने के साथ 'ठग' की उपमा द्रष्टव्य है। कृष्ण ने आरम्भ मे अमृत वचन सुनाये और बाद में कैसा घातक व्यवहार किया?

जहाँ कटु वचन का प्रयोग निकल पड़ता है वहाँ अप्रस्तुत प्रशसा का आलम्बन होता है। जैसे—

मधुकर तुम रस लंपट लोग।
... ...
अपने काज फिरत बन अन्तर, निमिष नहीं अकुलात।
पुहुप गये बहुरौं बल्लिन के, नैकुं निकट नहिं जात।[3]

लपट और स्वार्थी शब्दो की कटुता को मधुकर के बहाने कह कर उक्ति मे सस्कार लाया गया है। उपालम्भ सीधा न होकर वक्र है, शिष्टता के आवरण में होते हुए भी है करारा। इसी प्रकार कृष्ण के कपट को व्यक्त करने के लिए उन्होने काले जीवो की सामान्य प्रकृति का सहारा लिया है—

ऐसी है कारेन की रीति।
मन दै सरबस हरत परायो, करत कपट की प्रीति।[4]

उद्देश्य है कृष्ण की करतूति का बखान, किन्तु उन्होने श्याम रग मात्र को ही दोष दे डाला और पन्द्रह पदो मे भ्रमर, कोकिल, सर्प और बादल आदि के कपटपूर्ण तथा क्रूर

१. सूरसागर, पद ४५२८
२. ,, ,, ४५९९
३. ,, ,, ४६००
४. ,, ,, ४३७५

व्यवहार का विस्तृत वर्णन कर डाला।

संदेशवाहक उद्धव जी को गोपियो ने कटु-वचन कहे हैं किन्तु यहाँ भी उन्होने सीधी शब्दावली का प्रयोग नही किया है। अप्रस्तुतप्रशसा के रूप मे ही अपने हृदयगत कटु उद्गार निकाले हैं। जैसे—

> उत्तर कत न देत अलि नीच।
> ग्रीषम तेज सहित क्यो वेली बढ़ी कमल कर सींच।[1]

अलि और वेली के रूपक का आवरण 'नीच' शब्द की अशिष्टता को छिपा लेता है।

उद्धव को वे निपट नीरस कहती हैं। कृष्ण के समीप रहते हुए भी वह प्रेम का मर्म नही जानता। इस पर वे क्षुब्ध तो होती हैं, किन्तु अपने भाव वे अलकार के आवरण में इस प्रकार प्रकट करती हैं—

> रस की बात मधुप नीरस सुनि, रसिक होइ सो जानै।
> दादुर बसै निकट कमलनि कै, जनम न रस पहिचानै।[2]

उपालम्भ की कटुता में प्रेम की मिठास

कृष्ण के प्रति गोपियो ने जितने आरोप किये हैं, कृष्ण के अन्यायो और कुमनोवृत्तियो का परिचय दिया है, उन सबकी तह मे घृणा, दुर्भावना, परिशोध या अमैत्रा के भाव नही मिलते। इसके विपरीत उसमे अब भी प्रणय की वही मिठास मिलती है, जो संयोग में थी। कपटी, कुटिल और निरमोही कहते हुए भी गोपिया उन्हे भूल नही पाती और मिलन की साध उनमे पूर्ववत बनी रहती है—

> कपटी, कुटिल, निठुर, निरमोही, दुख दै दूरि सिधारे।
> बारक बहुरि कबहुँ आवहुगे, नैननि साध निवारे॥[3]

सहज-स्नेह का माधुर्य कटु-वचन मे भी तिक्तता नही उत्पन्न करने देता। यही कारण है कि अन्याय के प्रति विद्रोह तीखा नही होता और वक्रोक्ति के द्वारा वे अपने मनस्थित प्रेम की निरतरता को व्यक्त करती है—

> मधुकर स्याम हमारे चोर।
> मन हरि लियो तनक चितवनि में, चपल नैन की कोर॥
> ... ...
> सूरदास प्रभु सरबस लूट्यो, नागर नवल किसोर॥[4]

कृष्ण पर चोरी और लूटने का स्पष्ट दोषारोपण है, किन्तु इस चोरी के पीछे गोपियो की प्रणय-व्यजना है। वे कृष्ण की निन्दा नही कर रही हैं, उनके प्रति अपने अगाध प्रेम

१. सूरसागर, पद ४४९६
२. ,, ,, ४५७९
३. ,, ,, ४३७७
४. ,, ,, ४३५३

का प्रकाशन कर रही है। आरोप मे न घृणा है न दुर्भाव, उसमे तो अपरिमित प्रेम-सुधा छलक रही है।

निष्कर्ष यह है कि भ्रमरगीत मे गोपियो के जो उपालम्भ कृष्ण के प्रति प्रस्तुत किये गए हैं, उनमे प्रत्यक्ष रूप से अन्याय, स्वार्थपरता, क्रूरता, अमानुषता, लम्पटता, घातकता, विश्वासघात, चोरी, लूट, कपट आदि के ही विवरण हैं, किन्तु एक तो उक्ति के बांकपन की उपस्थिति से सर्वत्र काव्य मिलता है। आलकारिक शैली सर्वत्र है, भाषा मे सस्कार है, समासोक्ति और अप्रस्तुत प्रशसा के द्वारा उपालम्भ प्रणय-निवेदन से भी सरस और चुटीले हैं। दूसरी मुख्य बात यह है कि सारे उपालम्भ पद ध्वनि-काव्य के अनूठे नमूने हैं। प्रत्यक्ष निन्दा करती हुई गोपियाँ वास्तव मे कृष्ण के प्रति अपने अनुराग को ही प्रकट करती है। हर आरोप व्यक्त करता है कि गोपियाँ अब भी कृष्ण के प्रति पूर्वभाव रखती हैं। उनका आग्रह कृष्ण के प्रति अपने हृदय की परवशता तथा कृष्ण के प्रति व्यामोह प्रकट करने पर है। उपालम्भ सुनकर श्रोता को कृष्ण के अन्यायी रूप की उतनी प्रतीति नही होती, जितनी प्रेमी रूप की। कृष्ण गोपियो के चितचोर हैं, उनकी मधुर स्मृति गोपियो को परवश किये है, वे उनके अग-अंग मे रमे हैं। विरह-वेदना की सहज-सुधा ही उपालम्भ से टपकती है। व्यंजना की यही कमनीयता भ्रमरगीत के उपालम्भ-काव्य का प्राण है।

गोपियों की निजी दशा

उपालम्भ मे केवल आरोप ही नही होते, आत्म-निवेदन भी रहते हैं। आरोप मे आक्रोश और निवेदन मे दैन्य का भाव होता है। किन्तु दैन्य अन्तर की जलन से वक्र रूप मे ही निकलता है। अपनी दुर्दशा और हीनावस्था का विवरण इसलिए नही होता कि अन्यायी पिघले या दया दृष्टि दिखाये, वरन् इसलिए कि उस पर चोट पडे, वह समझे कि जिसके साथ उसने अन्याय किया, उसका परिणाम क्या हुआ, उसका मन अपने कृत का फल देख कर लज्जित हो। गोपियो ने उद्धव को कृष्ण का प्रतिनिधि समझ कर जो उपालम्भ प्रस्तुत किये और उनसे अपनी विरह दशा की विवशताओ का विवरण दिया उनमे उक्ति का बाकपन विद्यमान है। आत्म-निवेदन मे भी प्रकारान्तर से आरोप ही प्रमुख है। जैसे—

> मधुकर हम न होंहि वे वेलि।
> जिन भजि तजि तुम फिरत और रंग, करत कुसुम रस केलि।
> ... .
> जोग समीर धीर नहिं डोलति, रूप,डार दृढ़ लागीं।
> सूर पराग न तजति हिए तें, श्री गुपाल अनुरागी ॥[1]

गोपियां स्पष्ट रूप से अपनी विवशता बताती हैं कि वे प्रेम की एकनिष्ठता के कारण जोग की ओर देख नहीं सकतीं, किन्तु उनका लक्ष्य कृष्ण के अस्थिर-प्रेम की आलो-

---
१. सूरसागर, पद, ४१२७

चना करना ही है।

कृष्ण के चले जाने पर गोपियों को अपार व्यथा है। उनका मन्तव्य तो अपनी परवशता और विरहाग्नि का प्रभाव बनाना है, किन्तु उक्ति मे दैन्य के स्थान पर आक्रोश है, नम्र-निवेदन के स्थान पर प्रत्यालोचना ही है—

मधुकर कहिए काहि सुनाइ।
हरि बिछुरत हम जिते सहे दुख, जिते विरह के घाइ॥
बरु माधौ मधुबन ही रहते, कत जसुदा कै आए।
कत प्रभु गोप-बेष ब्रजधरि कै, कत ये सुख उपजाए॥[1]

पद मे 'प्रभु' शब्द द्रष्टव्य है। गोपियाँ कृष्ण के प्रति अनुराग का श्रद्धा-भाव रखती हैं। विरह सम्बन्धी दुखों से वे पीडित भी है। किन्तु उपालम्भ मे दुखी की दीनता नही होती। इसलिए वे कहती है कि यदि ऐसा करना था तो कृष्ण गोकुल आये ही क्यों?

उपालम्भ की स्थिति मे जब नम्रता दिखाई जाती है तो यह आरोप से भी अधिक तीखी और मर्मस्पर्शी हो जाती है। जैसे—

ऊधौ हम हैं हरि की दासी।
काहे कौं कटु वचन कहत हौ, करत आपनी हासी॥
... ...
जो कछु भली बुरी तुम कहिहौ, सो सब हम सहि लैहैं।
आपन कियो आप ही भुगतहिं, दोष न काहू दै हैं॥[2]

प्रत्यक्ष रूप से गोपियाँ अपने को हरि की दासी कह रही हैं और सब कुछ सहने को तैयार हैं। किन्तु 'करत आपनी हाँसी' की व्यजना भी स्पष्ट है।

गोपियो ने अपने विरह-निवेदन के रूप मे आखो की दशा का विस्तृत वर्णन किया है। वे भूखी[3] प्यासी[4] है। बिना हरि दर्शन के उनका रहना असम्भव है। नयनों मे वही रूप[5] समाया है। अनेक प्रयत्न किये, किन्तु निकाले निकलता ही नही। पलकों ने कार्य करना बन्द कर दिया है। नीद नही लगती, इनमे बडी पीड़ा होती है, सदा कृष्ण की राह पर लगी रहती है, अश्रु वृष्टि अनवरत रूप मे होती रहती है—

और सकल अ गनि तै ऊधौ अ खिया अधिक दुखारी
अतिहि पिराति सिराति न कबहू, बहुत जतन करि हारी।[6]
+ + +
ऊधौ अंखियाँ अति अनुरागी।
इकटक मग जोवति अरु रोवति, भूलेहु पलक न लागी।[7]

---

१. सूरसागर, पद ४१५६
२. „ „ ४१६२
३. „ „ ४१७६
४. „ „ ४१७७
५. „ „ ४१७९
६. „ „ ४१८९
७. „ „ ४१९६

नेत्रो की दुर्दशा का वर्णन वास्तव मे अपनी विरह-दशा का निवेदन है। नेत्र तो उपकरण हैं, उनके द्वारा हृदय की वेदना प्रस्तुत की गई है। गोपियो का तर्क यह है कि नेत्र इस प्रकार कृष्ण मे रमे हैं, तो फिर हम योग-शिक्षा को किस प्रकार धारण करें? तात्पर्य यह है कि तर्क तथा नयनो की दशा-वर्णन मे व्यजना का ही प्रसार है और वही काव्य-सौन्दर्य का मूल है।

गोपियो के उपालम्भ मे आक्रोश और परिवेदन का ही आधिक्य नही है, उसमे प्रिय के प्रति असीम प्रेम की व्यजना है। वे अपने हृदय की परवशता का उल्लेख करती हैं। कृष्ण-प्रेम मे मतवाली होकर वे देह-गेह-सुख-सम्पत्ति सब भूल गईं :—

जैसैं कनक कटोरी मदिरा आरतवत पियौ।
बिसरी देह गेह सुख सम्पत्ति, परवस प्रान कियौ।
तजि ब्रज बास चले मधुवन को, हरि बिनु बृथा जियौ।
सूरदास बिछुरत नहिं दरक्यौं, बज्र समान हियौ।[1]

स्पष्ट है यहाँ उपालम्भ मे कृष्ण के प्रति अपने असीम प्रणय का ज्ञापन किया गया है। गोपियों को खेद है कि उनका वज्र-हृदय कृष्ण-विरह मे भी नही फटा। इस प्रकार यद्यपि कृष्ण के व्यवहार के प्रति कोई क्षोभ व्यक्त नही किया गया है, आत्म-निन्दा प्रकट की गई है फिर भी कृष्ण-सखा उद्धव कृष्ण के दोष से अवगत हुए बिना नही रह सकते। वाच्यार्थ मे गोपियों की दीन-दशा का वर्णन होते हुए भी व्यंग्यार्थ (कृष्ण के प्रति असीम अनुराग) की ही प्रधानता है।

गोपियाँ सर्वत्र ऊपर जैसी वक्रोक्ति का सहारा नही लेती, ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत करती हैं, जिनमे कृष्ण की प्रीति-शून्यता सर्वथा स्पष्ट है। जैसे—

उन हरि हम सौं प्रीति जु कीन्हीं, जैसे मीन अरु पानी।
तलफि तलफि जिय निकसन लाग्यौ, मीन पीर न जानी॥
निसि वासर मोंहि पलक न लागे, कोटि जतन करि हारी।
ज्यों भुवंग तजि गयौ केंचुली, सो गति भई हमारी॥[2]

मछली पानी के विना एक क्षण नही जी सकती, किन्तु पानी यह भी नही जानता कि मछली उसके वियोग मे मर रही है। साँप केंचुली को मृत छोड़कर चला जाता है। इसी प्रकार हम कृष्ण के बिना किस प्रकार तडप-तड़प कर मर रही हैं, किन्तु उन्हें हमारा तनिक भी परवाह नही है।

कृष्ण के विरह मे गोपियाँ किस प्रकार दिन काट रही हैं, उसका वर्णन वे बिल्कुल स्पष्ट भी करती हैं—

---

१. सूरसागर, पद ४१८४
२. ,, ,, ४२२०

गोबिन्द के बिछुरे तैं ऊधौ जानी बिरह की बात।
हौं सूखी बहु भाति गात अति, ज्यौं तरुवर के पात।।
भूल्यौ भोजन भाव सफल कृत, वचन न नैंकु सुहात।
उडुगन गिनत जाम चारौं निसि, क्रम-क्रम करि जु बिहात।।[१]

उद्धव के उपदेश को सुनकर गोपियाँ कहती हैं कि आप पहले हमारी दशा पर विचार करें। हमे तो विरह का कष्ट है। आप विरह-रोग की वास्तविक स्थिति तो समझें—

ऊधौ तुम ब्रज की दसा बिचारौ।
जा कारन तुम पठए माधौ, सो सोचौ जिय माहीं।
केतिक बीच विरह परमारथ, जानत हौ किधौं नाहीं।[२]

गोपियो का उद्देश्य अपनी दशा की ओर दृष्टि डलवाने का है। गोपियों को रोग तो विरह का है। विरह की दवा मिलन है। वैराग्य प्रधान योगाभ्यास सन्यासी को चाहिए। उनका मन्तव्य यह है कि कृष्ण ने आपको भेजा इसलिए है कि आप हमारे विरह-रोग का कुछ उपचार बताएँ। आप तो योग का उपदेश देकर ठीक उल्टा कार्य कर रहे हैं। हमारे दुख को घटाने के स्थान पर बढ़ा रहे हैं।

उपालम्भ के क्रम मे गोपियाँ उन सुख-स्मृतियो को प्रस्तुत करती हैं जो संयोग मे उन्हे सुलभ थीं। कृष्ण के वे व्यवहार आज भी हृदय-पटल पर अंकित हैं, उनके होते हुए हम उन्हें कैसे भूलें—

ऊधौ हम हरि कत बिसराए।
... ...
सुमिरि सुमिरि गुन-ग्राम स्याम के नैन सजल होइ आए।[३]

राधा-कृष्ण-सुरति और मुरली-वादन का विस्तृत वर्णन भी वे करती हैं—

आवत राधा पथ चरन-रज, हित सौं अंक भरी।
भाति भाति किसलय कुसुमावलि, सेज्या सोभ करी।
निमिष वियोग होत तन तलफत, ज्यौं जल बिनु मछरी।
सुरति स्रमित स्यामा रस रंजित सोवति रग भरी।
आपन कुसुम व्यजन कर लीन्हे, करत मरुत लहरी।
गोचारण मिस जात सघन बन, मुरली अधर धरी।
नाद-प्रनालि प्रवेश घोष मे, रिझवत तिय सिगरी।
... ...
ऊधौ सुनत-सुनत मन विथकित, सुफलित करन धरी।।[४]

१. सूरसागर, पद ४२३३
२. ,, ,, ४२४०
३. ,, ,, ४२५१
४. ,, ,, ४२५२

सारांश यह है कि भ्रमरगीत मे उपालंभ की कटुता के स्थान पर सयोगावस्था के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं जिनके कारण गोपियों की परवशता स्वतः सिद्ध है। कृष्ण के अन्याय-चित्रण से जो उपलब्धि हुई है उससे कही अधिक सफलता गोपियों के नम्र-निवेदनों से मिलती है। इनमे उक्ति-वैचित्र्य का जो वैभव हैं उससे प्रभावित होकर कृष्णसखा-उद्धव कृष्ण के ब्रह्मत्व को भूलते जाते हैं, उनका ज्ञान क्रमशः सूखता जाता है और उसके स्थान पर भाव-धारा उमड़ती आती है। सच तो यह है कि भ्रमरगीत का प्रतिपाद्य ही श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के प्रणय और विरह का प्रकाशन है। सूरदास जी ने संयोग शृंगार का अत्यन्त मनोरम और विशद वर्णन किया था। बिना वियोग के प्रेम-लीला अपूर्ण रहती। विरह प्रेम की कसौटी है। इसीलिए सूरदास जी ने भ्रमरगीत के कथा-प्रसंग के माध्यम से विप्रलम्भ शृंगार का संयोग-शृंगार से भी बढकर वर्णन किया। उपालम्भ तो उपक्रम मात्र था। सूरदास जी की निजी रुचि भगवान् की सयोग-लीलाओ मे जितना रमती थी, उतना वियोग वर्णन में नही। उन्होने स्वयं खेद प्रकट किया है कि वियोग-चित्रण उन्हे विवश होकर करना पड़ा है[1]। शृंगारिक कवियो की भाँति विरहिणियों की दीन-दशा के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन रसानन्द में निमग्न रहने वाले सूरदास के मनोनुकूल न था। उद्धव-गोपी-सवाद प्रकरण के प्राप्त होने पर मानिनियो के तप्त उच्छ्वास उठे, देखते-ही-देखते घटाटोप हो गया और फिर ऐसी झडी लगी कि सूर-काव्य की समस्त लीलाभूमि रस (जल) मय हो गई। शृंगारिक कवियो के विरह-वर्णन के सभी पक्ष यहाँ बड़े विस्तार और गहराई के साथ प्राप्त हो जाते हैं किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में, क्योकि प्रत्यक्ष रूप मे तो गोपियाँ उद्धव से विवाद करती और लड़ती दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसा भी प्रतीत होता है कि उद्धव-गोपी संवाद ज्ञान और भक्ति-साधना का नाटकीय विवाद भी है। सूरदास जी ने गोपियों की विजय के माध्यम से भक्तिमार्ग को ज्ञानमार्ग से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए ही भ्रमरगीत की अवतरणा की। किन्तु बात ऐसी नही है, यह सिद्धि केवल आनुषगिक रूप से हो गई। सूरदास जी ने लीला-गान मे कभी सैद्धान्तिक विचारधारा को उभरने नही दिया। उनका तो एकमात्र उद्देश्य प्रभु के प्रति आत्मनिवेदन करना था, और यही भ्रमरगीत मे भी मुख्यरूप से प्रस्तुत किया गया है। भ्रमरगीत के उपक्रम से यह सब सीधे न होकर ध्वनि-प्रधान हो गया। कृष्ण-विरह मे रोती-कलपती गोपियाँ उद्धव के सदेश सुनकर क्षुब्ध हो गई, उन्होने अपना समस्त अन्तरतम निकाल कर रख दिया। उपालम्भ और विवाद के कटु परिच्छेद में प्रणय की अमृत-अनन्त सलिला प्रवाहित होती रही।

---

१. बन बिलास, ब्रजवास रास सुख, देखि देखि सुचि पावत।
सूरदास बहुरौ वियोग गति, कुकवि निलज ह्वै गावत। सू० सा० ४६४५

रुकमिनि मोहिं व्रज बिसरत नाहीं।
वह क्रीड़ा वह केलि जमुन तट, सघन कदम की छाहीं ॥[1]

इसीलिए ज्यो ही वे उद्धव जी को ब्रज भेजने को उद्यत होते हैं, वृन्दावन के सम्बन्ध में अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

कहां सुख ब्रज कौसो ससार।
कहां सुखद बंशी बट जमुना, यह मन सदा विचार ॥
... ...

कहां लता तरु-तरु प्रति बूझनि, कुंज-कुंज नव धाम।
कहां विरह सुख बिन गोपिन संग, सूर स्याम मन काम ॥[2]

भ्रमरगीत और प्रकृति

गोपियो का वृन्दावन तथा प्रकृति के अन्य उपादानो से साहचर्यजनित सहज स्नेह था। वृन्दावन के तरु-गुल्म, पशु-पक्षी, यमुना, पावस, शरद-बसन्त ऋतुएं मात्र प्रकृति न होकर लीला के सहयोगी सहचर थे, माता-पिता, भाई-बन्धु तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों से भी अधिक प्रिय बन चुके थे। यही कारण है कि कृष्ण के मथुरागमन करते ही विरह-कातरा गोपियो ने अपने माता-पिता-भाई-बन्धु तथा अन्य सगे-सम्बन्धियो का नाम तक न लिया। अपने हृदय-विदारक विरहाग्नि की ज्वाला मे उन्होने यदि किसी का नाम लिया, किसी से सहानुभूति की आशा की, किसी के प्रति क्षोभ प्रदर्शन किया तो वह प्रकृति ही थी। वृन्दावन का हरा-भरा रूप उन्हें असह्य हो गया, जो वृन्दावन उनके सुख-दुख में सहयोगी था, आज उनकी दुर्दशा पर फूल कैसे रहा है ?

मधुवन तुम क्यों रहत हरे।
बिरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यो न जरे।[3]

बात ठीक है। केवल गोपियां कृष्ण-प्रेम की आश्रय नही थी। वृन्दावन तथा अन्य पशु-पक्षी आदि सभी कृष्ण को उसी प्रकार प्यारे थे जैसे गोपियां। गोपियां इस तथ्य को प्रस्तुत करती हुई कहती हैं—

मोहन जा दिन बनहिं न जात।
ता दिन पसु पच्छी द्रुम बेली, बिनु देखे अकुलात ॥
देखत रूप निधान नैन भरि, तातै नहीं अघात।
ते न मृगा तृन चरत उदर भरि, भए रहत कृस गात ॥
जे मुरली धुनि सुनत स्रवन भरि, ते मुख फल नहि खात।
ते खग बिपिन अधीर कीर पिक, डोलत हैं बिलखात ॥

१. सूरसागर, पद ४८६१
२. ,, ,, ४०३५
३. ,, ,, ३८२६

जिन बेलिन परसत कर पल्लव, अति अनुराग चुचात ।
ते सब रूखी परति बिटप ह्वै, जीरन से द्रुम पात ॥
अति अधीर सब बिरह सिथिल सुनि, तन की दसा हिरात ।
सूरदास मदन मोहन बिनु, जुग सम पल हम जात ॥[1]

यमुना मात्र एक नदी नही रही, कृष्ण-प्रिया बन गई। फलतः कृष्ण के जाते ही वह विरह-ज्वर से पीड़ित हो गई—

देखियति कालिन्दी अति कारी ।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई विरह जुर जारी ॥[2]

तात्पर्य यह है कि कृष्ण-लीला प्रकृति की रम्य रगस्थली मे हुआ करती थी। मानवीय जगत् से सर्वथा दूर लता, द्रुम, कुंज, वाटिका, यमुना-तट, दादुर, मोर, पपीहा, शुक, पिक, हंस, मृग आदि के बीच गोपियाँ कृष्ण-लीला का रसानन्द लिया करती थी। इसलिए प्रकृति गोपियो के लिए केवल उद्दीपनार्थ नही है। भ्रमरगीत मे प्रकृति-वर्णन आलम्बन रूप मे भी चित्रित है। इतना अवश्य है कि विरह मे जिस प्रकार एक सखी दूसरी सखी का सहारा लेती हुई उसे सम्बोधित करती है, उसी प्रकार गोपियाँ प्रकृति को भी पुकारती हैं और उनके माध्यम से अपनी पीड़ा को व्यक्त करती हैं।

आलम्बन रूप

भ्रमरगीत के पावस-प्रसग मे पहले शुद्ध प्रकृति का वर्णन है और बाद मे उसका उद्दीपन रूप है। बादलो का उठना, घटाटोप होना, बिजली का चमकना, बादलो की गरज, दादुर, मोर और पपीहे की पुकार आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। ऋतु को देख कर गोपियाँ कह उठती हैं—

अब बरषा कौ आगम आयौ ।
ऐसे निठुर भये नदनदन, सदेसौ न पठायौ ॥
बादर घोरि उठे चहुँ दिसि तै, जलधर गरजि सुनायौ ।
दादुर मोर पपीहा बोलत, कोकिल सब्द सुनायो ॥
सूरदास के प्रभु सौं कहियो नैननि है झर छायौ ॥[3]

स्पष्ट है पद मे वर्षा का आलम्बन रूप ही अधिक उभरा है। इसी प्रकार सावन के सम्बन्ध मे उनकी उक्ति इस प्रकार है—

कैसे कै भरिहैं री दिन सावन के ।
हरित भूमि भरें सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के ॥
दादुर मोर सोर चातक पिक, सूही, निसा सिरावन के ।
गरज चहूँ घन घुमड़ि दामिनी, मदन धनुष धरि धावन के ॥

---

१. सूरसागर पद ३८२१
२. ,, ,, ३८१०
३. ,, ,, ३९१८

पहिरि कुसुम सारी कंचुकि तनु, झुंडनि-झुंडनि गावन के।
सूरदास प्रभु बुसह घटत क्यों, सोक त्रिगुन सिर रावन के ॥[1]

वर्षा ऋतु के उपरान्त शरद-वर्णन मे भी प्रकृति का आलम्बन रूप ही प्रमुख रूप से प्रस्तुत किया गया है—

अब यह बरषौ बीति गई।
जनि सोचहि, सुख मानि सयानी, भली ऋतु सरद भई ॥
फुल्ल सरोज सरोज सरोवर सुन्दर, नव बिधि नलिनि नई।
उदित चारुचन्द्रिका किरन, उर अन्तर अमृत मई ॥
घटी घटा अभिमान मोह मद, तमिता तेज हुई।
सरिता सजम स्वच्छ सलिल सब, फाटी काम कई ॥
यहै सरद सदेस सूर सुनि, करुना कहि पठाई।
यह सुनि सखी सयानी आई, हरि-रति अवधि गई ॥[2]

पद मे शरद ऋतु का वस्तुपरक वर्णन है। कमलों का खिलना, तालाब का स्वच्छ होना, चन्द्र-किरणो की शुभ्रता, आकाश का बादलों से रहित होना, नदियों का घटना और स्वच्छ जल आदि का ऐसा वर्णन है, जिसमे उद्दीपन की सामग्री बहुत कम है। इस प्रकार भ्रमरगीत में ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ प्रकृति का सीधा वर्णन है, जिसमे प्रकृति का सहज चित्र है, उसके प्रति किसी प्रकार के सम्बन्ध का सकेत नहीं है। उसे जिस रूप मे देखा है उसी प्रकार उसका शब्द-चित्र प्रस्तुत किया गया है।

उद्दीपन रूप

भ्रमरगीत का मुख्य विषय गोपियों का विरह-चित्रण और 'विरह-निवेदन है। समस्त वर्ण्यवस्तु किसी-न-किसी रूप मे विरहानुभूति का प्रकाशन या उसका कोई उपादान है। ऐसी अवस्था मे विस्तृत प्रकृति-वर्णन हृदयस्थित विरह-वेदना को तीव्र करने वाला है। बादल देखते ही उन्हें कृष्ण की स्मृति आती है क्योकि उनका वर्ण कृष्ण सरीखा ही है। इन्द्र धनुष कृष्ण के पीतपट की, दामिनी दांतो की, बग-पक्ति, मोती-माला की याद दिला कर बिरह जगा देती है और आँखों मे आँसू भर आते हैं—

आज घनश्याम की अनुहारि।
आए उनइ सांवरे सजनी, देखि रूप की आरि ॥
इन्द्र धनुष मनु पीत बसन छबि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपांति माल मोतिनि की, चितवत चित्त निहारि ॥
गरजत गगन गिरा गोविंद मनु, सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास गुन सुमिरि श्याम के, विकल भई ब्रज नारि ॥[3]

---

१. सूरसागर पद ३९३५
२. ,, ,, ३९६१
३. ,, ,, ३९३४

स्पष्ट है यहाँ प्रकृति पर सामान्य दृष्टि नही है। यहाँ तो प्रकृति केवल स्मृति जगाने और विरह-वेदना को उद्दीप्त करने वाली है।

वर्षा ऋतु मे वेदना का जो उद्दीपन होता है, उससे गोपिया कितनी संत्रस्त होती है, इस भाव को अभिव्यक्त करने के लिए भयकर आक्रमण का रूपक अनेक पदों मे बड़े विस्तार मे वर्णित है। वर्षा मे कामोद्दीपन होता है और वही समस्त वेदनाओ का मूल है। बादल की गरज सुनते ही उसकी प्रतिक्रिया गोपियाँ इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

> ब्रज पर बदरा आगे गाजन।
> मधुबन कोप ठए सुनि सजनी, फौज मदन लग्यो साजन॥[1]

बादलो को देखकर गोपियां भयभीत होती हैं, वधिक को देखकर जैसे निस्सहाय प्राणी आर्त-क्रन्दन कर अपने त्राता के लिए पुकारे—

> बदरिया बधन बिरहिनी आई।
> मारू मोर ररत चातक पिक, चढ़ि नभ टेर सुनाई॥
> ... ...
> सूनो घोष बैर तकि हमसौं, इन्द्र निसान बजाई।
> सूरदास प्रभु मिलहु कृपा करि, होत हमारी घाई॥[2]

स्पष्ट है वर्षा यहाँ उद्दीपक है, भय और वेदना को जगाने वाली है। सर्वसुखदायक और नयनाभिराम बादल यहाँ पर भय और विरह-वेदना को उत्पन्न करने वाले हैं।

मोर-चातक-पिक

मोर को बोलता हुआ सुन कर कामोद्दीपन होता है—

> (इहिं बन) मोर नहीं ए काम बान।
> बिरह खेत, धनु पुहुप, भृंग गुन, करि लतरैया रिपु समान॥[3]

तथा

> कोउ माई बरजै री इन मोरनि।
> टेरत बिरह रह्यो न परै छिन, सुनि दुख होत करोरनि॥[4]

चातक की बोली विषम दाह उत्पन्न करने वाली है। उसकी टेर सुनकर गोपी तिलमिला उठती है और बडी कटु शब्दावली मे उस पर बरस पडती है—

> (हौं तो मोहन के) बिरह जरी रे तू कत जारत।
> रे पापी तू पखि पपीहा, पिय पिय करि अधराति पुकारत॥
> करी न कछु करतूति सुभट की, मूठि मृतक अबलनि सर मारत।
> रे सठ तू जु सतावत औरनि, जानत नहिं अपने जिय आरत॥[5]

---

१. सूरसागर, पद ३९२१
२ ,, ,, ३९२५
३. ,, ,, ३९४५
४. ,, ,, ३९४१
५. ,, ,, ३९५७

पिक

कोयल का मधुर स्वर भी विरह जगाने का कार्य करता है, इसीलिए गोपिया उसे भी वन से भगाना चाहती हैं—

> जौ तू नेकहूँ उड़ि जाहि ॥
> कहा निसि बासर बकत बन, विरहिनी तन चाहि ॥
> बिबिध बचन सुदेश बानी, इहाँ रिझवत काहि ।
> पति बिमुख पिक परुष पसु लौं, इतौ कहा रिसाहि ॥[1]

चन्द्र

चन्द्रमा विरह मे विशेष उद्दीपक है, उसे देखते ही गोपियाँ विरह-ज्वाला से दग्ध होती हैं। चन्द्रमा को लेकर भ्रमरगीत मे [अनेक पद हैं, सब के सब विरह उद्दीपन रूप मे प्रस्तुत हैं। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> छूटि गई ससि सीतलताई ।
> मनु मोहि जारि भसम कियौ चाहत, साजत सोइ कलंक तनु काई ।[2]

तथा

> हर को तिलक हरि बिनु दहत ।
> वे कहियत उडुराज अमृतमय, तजि सुभाय सो मोहि निबहत ॥[3]

कुंजें

जिन कुञ्जो के बीच गोपियो ने कृष्ण के साथ विविध संयोग-लीलाओ का आनन्द भोगा, वे ही अब विशेष दुखदाई हैं। सयोग सुख के अन्य उपादानो की भाँति अब गोपियाँ इन्हे भी नही देख पाती। हरित कोमल किसलयो से आवृत कुञ्ज-गलियां ज्वालमाल की भाँति तप्त लगती हैं—

> बिन गुपाल बैरनि भई कुंजें ।
> तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजें ॥[4]

निष्कर्ष

सूर-काव्य मे प्रकृति जड नही है। सिद्धान्तानुसार भी प्रकृति ब्रह्मरूपा है। शुद्धाद्वैत मे माया के मिथ्यात्व की स्वीकृति नही है। अत. प्रकृति सत् रूप मे सच्चिदानन्द का शाश्वत

---

१. ,, ,, ३६५८
२. ,, ,, ३६७०
३. ,, ,, ३६७३
४. ,, ,, ४६८७

अंश हैं। सजग कल्पना वाले कवि सूरदास ने इसीलिए प्रकृति मे मानवी गुण देखे हैं। वृन्दावन, यमुना, कदम्ब, निकुंज आदि सभी कृष्ण-प्रेम से आपूरित हैं। सबके सब सयोगावस्था मे समान रूप से आनन्दित होते है। सयोग-लीला मे गोवर्धन-लीला और मुरली-लीला मे प्रकृति का मानवीयकरण देखा जाता है। मुरली मात्र बाँस की बासुरी नही रहती, गोपियों की सपत्नी बन जाती है। गोपियों और मुरली का बड़ा मनोरजक विवाद होता है और मुरली की विजय होती है। गोपियों को सन्धि करनी पड़ती है और ईर्ष्याभाव के स्थान पर उससे विशेष अनुराग करना होता है। विरह की स्थिति मे निकुञ्ज, वर्षा-शरद ऋतुएँ, मोर, चातक, पिक आदि पक्षी, चन्द्रमा, सब-के-सब मानव रूप धारण करके गोपियो को संताप देने वाले होते हैं। वर्षा का भयकर रूप आक्रमणकारी शत्रु के सांग रूपक मे बड़े विस्तार से प्रस्तुत है। जैसा अलंकार प्रकरण मे विस्तार से व्यक्त किया गया है, ये सबके सब रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, स्मरण, भ्रम, विशेषोक्ति, विरोधाभास आदि के रूप मे अप्रस्तुत योजना के सबल साधक भी बने हैं। रसानुभूति मे प्रकृति का उद्दीपन रूप बड़ा ही सबल है। प्रकृति के विभिन्न अवयव काम और विरह को जगाने वाले हैं। इतना अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए कि सूर-काव्य में प्रकृति का वह उद्दीपन रूप कही नही है, जो रीति-काव्य मे उपलब्ध है। रीति-काव्य मे प्रकृति उद्दीपन का निर्जीव उपादान है जबकि सूर-काव्य में प्रकृति सजीव है और वह लीला का एक अंग है। गोपियां इन्हें सयोग और वियोग दोनो ही अवस्थाओ मे सपत्नी, सहयोगी या विरोधी रूप मे देखती हैं। वृन्दावन कृष्ण-वियोग मे झुलसा-सा है, यमुना विरह-ज्वर से पीड़ित होती है, चातक कही विरहिनी की भाँति रोता है और कही गोपियो को जलाता है। वर्षा, शरद, मोर और चन्द्र शत्रु रूप दिखाई पडते हैं। कृष्ण-लीला से सम्बन्धित होकर प्रकृति सूर-काव्य में जड़ न होकर सर्वथा सजीव है। सम्बन्ध-भावना से समुज्ज्वल ऐसा सरस प्रकृति-चित्रण साहित्य मे अलभ्य ही है।

: ८ :

तुलनात्मक-विवेचन

हिन्दी की भ्रमरगीत परम्परा मे सूरदास जी का भ्रमरगीत सर्वप्रथम है। बाद के अनेक कवियों ने एक ही विषयवस्तु पर मौलिक रचनाएँ की हैं। अतः सूर कृत भ्रमर-गीत के मूल्यांकन के पूर्व अन्य रचनाओ के साथ उसकी विस्तृत तुलना प्रयोजनीय है। प्रतिभाशाली कवियो ने मूल विषयवस्तु मे स्वरुचि अनुसार परिवर्तन-परिवर्धन किया और काव्य-शिल्प की दृष्टि से उसे सवारा-सुधारा। सूरदास जी का भ्रमरगीत कलेवर में सबसे बड़ा है। परवर्ती कवियो ने विषयवस्तु मे जो परिवर्तन किये हैं तथा जो मौलिकताएं प्रस्तुत की है उनका आकलन आवश्यक है। साथ ही द्रष्टव्य है कि यह परिवर्धन सूरदास जी के भ्रमरगीत के परिप्रेक्ष्य मे कहां तक बढ या घट कर बन सका है।

नन्ददास कृत भंवरगीत

'भंवरगीत' आकार में छोटा होते हुए भी अपनी सुनियोजित विषयवस्तु के कारण विशेष लोकप्रिय हुआ। भंवरगीत की विषयवस्तु को सम्यक् रूप से देखने के लिए उसे निम्न अंशो मे बाँट लेना अच्छा होगा—उद्धव-गोपी-मिलन, उद्धव-गोपी सवाद, भ्रमर-गीत, उद्धव-भाव-परिवर्तन और उद्धव प्रत्यागमन।

उद्धव-गोपी-मिलन

भंवरगीत मे नाटकीय रूप से उद्धव जी गोपियो से मिलने जाते हैं। लगता है कि पर्दा हटा और उद्धव जी मच पर विराजमान होकर कह रहे हैं—

> ऊधो को उपदेस सुनो ब्रजनागरी।
> रूप सील लावन्य सबै गुन आगरी॥

व्रज मे किस प्रकार कृष्ण और उद्धव मिले, उनकी अपनी क्या वार्ता हुई जिसके फलस्वरूप कृष्ण जी ने उद्धव जी को गोपियो के पास भेजा आदि घटनाओं का कोई उल्लेख यहाँ नही है। किस प्रकार व्रज मे गोपियां उन्हें मिलीं, इसका भी सकेत नही है। वे केवल यह कहते दिखाई पडते हैं कि मैं तो कृष्ण-सन्देश का भार-वहन कर रहा हू। मैं तो इसी ताक मे था कि कब तुम लोगों को पाऊँ और अपने कर्तव्य के निर्वाह से मुक्ति पाऊँ —

सोचत ही मन में रह्यौ, कब पाऊं इक ठांउ ।
कहि संदेस नन्दलाल को, बहुरि मधुपुरी जाउं ।।

कृष्ण का नाम और सदेश सुनते ही कृष्ण-प्रिया गोपियो का अनुराग-भाव जागृत हुआ। वे कृष्ण-स्मृति मे इतनी मग्न हुई कि वे 'ग्राम-गृह' को भूल गई और उद्धव जी के सम्मान आदि के बाद ज्यो ही कृष्ण के सम्बन्ध मे जिज्ञासा के लिए आगे वढी त्यो ही भावातिरेक के कारण मूर्छित हो गई । उनकी यह दशा देख कर भी विरागी उद्धव का हृदय न पसीजा। उन्हे तो अपनी ही धुन सवार थी । उन्होने जल के छीटे डाल कर गोपियो को चैतन्य किया और साथ ही अपने उपदेश की झडी भी लगा दी—

वै तुमते नहिं दूर ज्ञान की आंखिन देखौ ।
अखिल विस्व भरपूर सबै उनमांहि विसेखौ ।

सूर-भ्रमरगीत के एक पद मे स्थिति ठीक यही है। उद्धव जी गोपियो के प्रेम-भाव को देखते है किन्तु वहाँ वे नन्ददास के उद्धव की भाँति परम विरागी नही है। गोपियो के प्रेम-भाव को देख कर वे भूल जाते है, उनके नेत्रो मे प्रेमाश्रु भी प्रकट हो जाते है किन्तु अपने ज्ञान के वल पर अपने कर्तव्य-कर्म पर आरूढ हो जाते है—

पाती बांचि न आवई बहे नैन भरपूरि।
देखि प्रेम गोपीनि कौ, ज्ञान गरब गयौ दूरि ।।
फिरि इत उत बहराइ नीर नैननि को सोध्यौ ।
ठानी कथा प्रमोधि वोलि सब घोष समोध्यौ ।।[1]

सूरदास के उपर्युक्त पद के होते हुए भी नन्ददास जी के परिवर्तित दृष्टिकोण का कारण यह है कि नन्ददास जी दिखाना चाहते है कि ऐसे वीतराग सन्यासी उद्धव भी आगे चलकर बिल्कुल परिवर्तित हो गये। इस प्रकार प्रकारान्तर से भक्ति-भावना की प्रभविष्णुता पर वल देना उनका उद्देश्य था।

उद्धव-गोपी-संवाद

भवरगीत मे उद्धव-गोपी-कथोपकथन सुनियोजित तर्क-क्रम मे है। हर पद की दो पक्तियो मे ऊपर के प्रश्न का उत्तर और अतिम दो मे उसी से सम्बन्धित नया प्रश्न होता है। गोपी तथा उद्धव जी एक-दूसरे के तथ्य का उत्तर देकर अपने तर्क प्रस्तुत करते जाते है। तर्क-क्रम मे निम्न विचार विन्दु है—

१ **ब्रह्म का स्वरूप**—उद्धव जी ने कहा कि यदि ज्ञान की आँखो से देखो तो कृष्ण तुम से दूर नही हैं क्योकि वे तो सर्वव्यापक है। विश्व के सभी अवयवो—लोह, दारु, पापाण, जल, थल, महि और आकाश—मे वे ही है, सर्वत्र उनकी ज्योति प्रकाशित है।[2] गोपियाँ

---

१. सूरसागर, पद ४०१३

२. वे तुमसे नहिं दूर, ज्ञान की आखिन देखौ।
अखिल विस्व भरपूरि, रूप सब उनहि विसेखौ।
लोह दारु पापान में, जल थल महि आकास,
सचर अचर वरतत सवै, जोति ब्रह्म परकास ।। (भवरगीत, पद ७)

ज्योति की वात सुनकर कहती है ब्रह्म की ज्योति क्या है ? हम तो ज्ञान नही समझती, हमने तो सीधा प्रेम मार्ग जाना है और कृष्ण के नैन, बैन, श्रुति, नासिका युक्त अत्यन्त सुन्दर मुरलीधारी साकार रूप ही देखा है।[1] इस प्रकार उद्धव जी ने सैद्धान्तिक निरूपण किया और कहा कि कृष्ण का वास्तविक रूप निर्गुण है जिसकी प्राप्ति ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। गोपियो ने व्यावहारिक पक्ष का आश्रय लेकर कहा कि उनके कृष्ण साकार है, उन्होने ऐसा ही देखा है और उनका मोहन रूप और उनकी मुरली माधुरी उन्हे सहज ही प्रेम-मार्ग मे रत करती है अत प्रेम मार्ग बिल्कुल सीधा है।

उद्धव जी ने उत्तर मे कहा कि कृष्ण का साकार रूप तो उपाधि (नाम) मात्र है, रूप तो निर्गुण है। वे तीनो गुणो से निर्विकार और निर्लिप्त है। उनके हाथ, पाँव, नासिका, नैन, बैन आदि कुछ नही है, वे तो अच्युत जोतिधारी सर्वथा प्रकाशमान है।[2] इस उत्तर मे भी उद्धव जी ने कोई नई बात नही की। निराकार की सैद्धान्तिक बात बिना किसी उदाहरण के कह डाली। गोपियाँ उनकी पुनरुक्ति सुन कर झुझलाई और अधिक स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये कि यदि कृष्ण के मुख, पाँव और नेत्र आदि नही थे तो उन्होने मक्खन कैसे खाया, गोचारण कैसे किया और नेत्रो मे अजन कैसे लगाया ? अन्त मे उन्होने स्पष्ट किया कि वे तो नन्द और यशोदा के पुत्र है।[3] अब उद्धव जी ने समझाते हुए मीठी वाणी मे कहा कि कृष्ण (ब्रह्म) के कोई माता-पिता नही है। कृष्ण तो उनका (ब्रह्म का) लीलावतार था। उनकी प्राप्ति का साधन योग ही है।[4] इस प्रकार उद्धव जो अब तक कृष्ण के निराकार और निर्गुण रूप को ही मानते थे, गोपियो के तर्क सुन कर यह मान गये कि कृष्ण लीलावतार (सगुण साकार) भी है। स्पष्ट है वे अपने सैद्धान्तिक निराकार रूप ही को सिद्ध न कर सके।

२ **ब्रह्म-प्राप्ति का साधन**—उद्धव जी ने लीलावतार रूप स्वीकार करके भी योग-मार्ग को ब्रह्मत्व की प्राप्ति का एक मात्र साधन उपर्युक्त कथन मे बताया। इसका उत्तर

---

१. कौन ब्रह्म की जोति ग्यान कासों कहो ऊधो ?
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेम को मारग सूधौ ॥
नैन, बैन, स्रुति नासिका. मोहन-रूप लखाय,
सुधि-बुधि सब मुरली हरो, प्रेम-ठगौरी लाय। (भ० गी०, पद ८)

२. यह सब सगुन उपाधि, रूप-निर्गुन है उनको,
निरविकार, निरलेप, लगत नहि तीनो गुन को।
हाथ न पाय न नासिका, नैन बैन नहि कान,
अच्युत जोति प्रकास हीं, सकल विस्व को प्रान ॥ (भ० गी०, पद ९)

३. जो मुख नाहिन हतो, कहो किन माखन खायो ?
पायन बिन गोसग कहो, बन बन को धायौ ?
आखिन में अजन, दयो गोवर्धन ल्यो हाथ,
नद जसोदा पूत है कुवर कान्ह ब्रजनाथ ॥ (भ० गी०, पद १०)

४. जाहि कहत तुम कान्ह, ताहि कोउ पिता न माता।
अखिल अड ब्रह्मड, विस्व उनहीं मे जाता।
लीला गुन अवतार हैं, धरि आए तन स्याम,
जोग जुगुति हीं पाइये परब्रह्म पुर धाम ॥ (भ० गी०, पद ११)

गोपियो ने पहले नम्र भाव से ही दिया। उन्होने सीधे योग-मार्ग का खंडन नही किया। वे कहती है कि प्रभु की प्राप्ति के दो मार्ग है—योग-मार्ग और प्रेम-मार्ग। अत जिसे जो रुचिकर लगे, उसी को ग्रहण कर लें। हमे योग-मार्ग नही रुचता हमे तो प्रेम-मार्ग ही अच्छा लगता है और इसका बडा अकाट्य कारण भी बताती है। साकार प्रभु का स्वरूप स्वत हमारे नैन, बैन, मन-प्रान मे समाया है। ऐसे सुन्दर और सरस प्रेम रूपी अमृत को छोड़ कर धूलि को कौन समेटेगा (योगाभ्यास करेगा)।[1]

गोपियो की सटीक और सोदाहरण बात का लगता है, उद्धव के पास उत्तर नही है। अब वे मुहावरे के रूप मे प्रयुक्त 'धूरि' शब्द को लेकर उसी की व्याख्या मे लग गये। एक प्रकार से विपयान्तर कर गये। धूलि बुरी नही है, समस्त विश्व-सृष्टि का मूल धूलि है।[2] गोपियाँ इस विपयान्तर मे भी सैद्धान्तिक तर्क प्रस्तुत करती हैं कि कर्म-धूलि प्रेम-अमृत मे मिल नही सकती। कर्म तो साधन हे, साध्य है हरि, जब हरि हृदय मे आ जाते है तो कर्म व्यर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार प्रेम-मार्ग जिसमे प्रभु हृदय मे विराजमान होते है, कर्म को निरर्थक मानता है।[3] उद्धव जी के पास इस सोदाहरण तर्क का फिर उत्तर नही होता। वे फिर कर्म की प्रशसा मे कहे हुए पूर्वोक्त तथ्यो को दूसरे शब्दो मे दुहराते है कि कर्म ही से उत्पत्ति, नाश और मुक्ति होती है अत उसकी निन्दा ठीक नही।[4] गोपियाँ फिर बडा ही प्रामाणिक उत्तर देती है कि कर्म चाहे पाप के हो या पुण्य के, समान है। ये बेडी के समान है अन्तर यह है कि पुण्य सोने की बेडी है और पाप लोहे की। पावो को बाँधने वाले तो दोनो ही है।[5] प्रेम-मार्ग मे मर्यादा, विधि, जप, तप, ध्यान, सत्कर्म आदि को महत्व

---

१. ताहि बतावहु जोग, जोग ऊधो जेहि भावै,
प्रेम-सहित हम पास, नदनदन गुन गावैं।
नैन बैन मनप्रान में, मोहन गुन भरपूरि,
प्रेम पियूषै छाडि कै कौन समेटै धूरि ॥ (भ० गी०, पद १२)

२ धूरि बुरी जो होय, ईस क्यों सीस चढावै,
धूरि चेत्र में आय, कर्म करि हरि पद पावै।
धूरिहि तें यह तन भयो, धूरिहि तें ब्रह्मड,
लोक चतुर्दस धूरि तें सप्तद्वीप नव खड ॥ (भ० गीत, पद १३)

३. कर्म धुरि की बात, कर्म अधिकारी जानैं,
कर्म धूरि को आनि, प्रेम अमृत में सानैं।
तबही लौं सब कर्म है, जब लगि हरि उर नाहि,
कर्म बद्ध सब विश्व के, जीव विमुख ह्वै जाहि ॥ (भ० गी०, पद :)

४. तुम कर्मंहि कस निदत, जासों सद्गति होई,
कर्म रूप तै बली नाहि, त्रिभुवन में कोई।
कर्मंहि ते उतपत्ति है, कर्मंहि तैं है नास,
कर्म किये तै मुक्ति है, परब्रह्म पुर वास। (भ० गी०, पद १५)

५ कर्म पाप अरु पुन्य लोह सोने की बेरी,
पायन बधन दोउ कोउ मानों बहुतेरी।
ऊच कर्म ते स्वर्ग है नीच कर्म ते भोग,
प्रेम बिना सब पचि मुए, विषय वासना रोग। (भ० गी०. पद १६)

नही दिया जाता। लोक-लाज और मर्यादाओ और धर्माश्रित नियमो को तोड़ कर प्रेमानुगा भक्ति मे लीन हुआ जाता है। गोपियो ने अपने प्रेम-मार्ग का कैसा सोदाहरण विवेचन कर दिया और उद्धव के कर्म-प्रधान योग-मार्ग की निरर्थकता भी सिद्ध कर दी। उद्धव के पास न तो तर्क है, न प्रमाण, अपनी ही बात को बार-बार गाते है। कहने लगे यदि कर्म बुरे हो तो योगी लोग पद्मासन आदि आसनो को करके, इन्द्रिय निग्रह क्यो करे ? समाधि के द्वारा ही सायुज्य मुक्ति प्राप्त हो सकती है। स्पष्ट है उद्धव जी अपनी तर्कहीन उक्ति से कह रहे है कि यदि यम-नियम-आसन, प्राणायाम, ध्यान, समाधि आदि व्यर्थ होते तो योगी क्यो करते ? योगियो का ही यह उदाहरण भला गोपियो को क्योकर सन्तोष दे सकता ? इस प्रकार साधन-पक्ष पर उद्धव जी की दलील बिल्कुल ही लचर रही।

३ गुण—उद्धव जी के उपर्युक्त उत्तर को सुन कर गोपियो ने स्पष्ट किया कि योगियो की साधना का मूल आधार निर्गुण है। योगी निर्गुण ज्योति को भजता है और हम भक्त लोग प्रभु के निज रूप (सगुण) को प्रेम के द्वारा हृदय मे धारण करते है। जोगी योग से ज्योति को पाते है किन्तु भक्त ज्योति के मूल आधार निज रूप (सगुण) का सहारा लेते है। इस प्रकार प्रभु तो साकार ही है उसकी प्राप्ति के लिए निर्गुण पद्धति का स्वीकार करना उसी प्रकार है जैसे साक्षात् नाग की पूजा न करे और उसकी बिल पूजने जाय।[1] गोपियो के इस तर्क-सम्मत प्रश्न का उत्तर न पाकर, उद्धव जी पूर्व कथित निराकार ब्रह्म का तर्क दुहराने लगे,[2] और वेद-पुराण की दुहाई देने लगे। वेद के प्रमाणो का उत्तर गोपियो ने दिया कि वेद तो प्रभु की श्वास से निकले अत मुख से निकल जाने पर श्वास मूल रूप को कैसे जानेगी। वेद कर्म मे खोजते हुए व्यर्थ प्रयास करते रहे। भला वे प्रभु के निज रूप को कैसे जानते ?[3] कैसा स्पष्ट तर्क है। साथ ही गोपियो ने सगुण का पुष्ट प्रमाण इस प्रकार दिया कि बीज के बिना वृक्ष नही हो सकता अत वृक्षरूप सगुणात्मक जगत् बीजरूप सगुण ब्रह्म के बिना नही हो सकता। माया के दर्पण मे ब्रह्म (सगुण) ससार के रूप मे दिखाई पडता है।[4] दर्पण के पीछे कोई रूप होगा तभी तो दिखाई पडेगा।

१. जोगी जोतिहि भजैं भक्त निज रूपहि जानैं,
प्रेम पियूषैं प्रगट स्याम सुदर उर आनैं।
निर्गुन गुन जो पाइये लोग कहैं यह नाहि,
घर आयो नाग न पूजहीं बाँबी पूजन जाहि। (भ० गी०, पद १८)

२. यह सब सगुन उपाधि, रूप निर्गुन है उनको,
निरविकार, निरलेप, लगत नहि तीनों गुन को।
हाथ न पाय न नासिका, नैन बैन नहि कान,
अच्युत जोति प्रकासही सकल विश्व को प्रान ॥ (भ० गी०, पद ६)

३. बेदहु हरि के रूप स्वास, मुख ते जो निसरे,
कर्म क्रिया आसक्ति सबै, पिछली सुधि बिसरें।
कर्म मध्य ढूँढै सबै, किनहु न पायो देख,
कर्म रहित ह्वै पाइये, तातें प्रेम बिसेख ॥

४. जो उनके गुन नाहि, और गुन भए कहा तें,
बीज बिना तरु जमै, मोहि तुम कहौ कहा तें।
वा गुन की परछाँह री, माया-दर्पन बीच,
गुन तें गुन न्यारे भए, अमल-बारि मिलि कीच। (भं० गी०, पद २०)

माया-दर्पण के पीछे मूल रूप में सगुण ब्रह्म है तभी तो सगुणात्मक जगत् दिखाई पडता है। इतना अवश्य है कि माया-दर्पण के अपने रंग के मेल से जगत् का रूप ब्रह्म से भिन्न दिखाई पडता है। जैसे कीचड में स्वच्छ पानी मलीन दिखाई पडता है।[1] उद्धव रटी-रटाई बातें कहते रहे कि माया के गुण और तथा हरि के गुण और हैं तथा भगवान् तो गुणातीत है उन्हें कोई कैसे देखेगा जब सूर्य और चन्द्र को ही मनुष्य नहीं जान पाता।[2] गोपियाँ फिर उत्तर देती है कि दिव्य दृष्टि से सूर्य-चन्द्र भी देखे जाते है इस प्रकार जिनके पास प्रेम की आँखें हैं वे प्रभु को देख पाते हैं किन्तु जिनके वे आँखे नही ह वे नही देख सकते।[3] उद्धव पुन. पिछली बात दुहराते है कि क्रम-क्रम से कर्म करके निर्गुण ब्रह्म मे समाया जाता है।[4] गोपियाँ तर्क से निर्गुण की जड ही काट देती हैं। वे कहती है कि यदि हरि निर्गुण हैं तो वे लीलावतार रूप मे कर्म बंधन मे क्यो पडते है ? सच तो यह है कि "गुणो' के विना निर्गुण हो ही नही सकता। यदि ब्रह्म सर्वथा गुणरहित है तो उसकी कोई प्रभुता नही और यदि उसका निर्गुणत्व समाप्त होना है[5] तो वह सगुण ही होगा। इसमे शून्यवाद की सैद्धान्तिक और तार्किक प्रत्यालोचना है। निर्गुण का अर्थ शून्य हे तो उसका कोई उपयोग नही। अत: शून्य का कोई स्थूलरूप (सगुण) अवश्य होगा अन्यथा सृष्टि का आविर्भाव सम्भव नही है।

इतने सशक्त उत्तर पर भी उद्धव जी कहते है कि दिखाई पडने वाले गुणो से कृष्ण अलग ही हैं। इन्द्रिय दृष्टि विकार रहित शुद्ध स्वरूप निर्गुण ब्रह्म से ही तृप्ति होती है।[6] इस पर गोपियो ने बडा सीधा तर्क प्रस्तुत किया कि आप तो प्रत्यक्ष सूर्य (सगुण) को छोड़

---

१. परत भूमि भा टावर पानी। जिमि जीवहि माया लपटानी।। (रामचरितमानस)

२. तरनि चन्द्र के रूप को गुन नहि पायो जान,
तौ उनको कह जानिये गुनातीत भगवान। (भ० गी०, पद २३)

३. तरनि अकास प्रकास, तेजमय रह्यौ दुराई,
दिव्य दृष्टि बिनु कहौ, कौन पै देख्यौ जाई।
जिनकी वै आखें नहीं, देखें कब वह रूप,
तिन्हें साच क्यों उपजै, परे कर्म के कूप। (भ० गी०, पद २४)

४. जब करिए नित कर्म, भक्तिहू जामें आवै,
कर्म रूप तें, कहौ कौन पै छुट्यौ जावै।
क्रम क्रम कर्म सबहि किए, कर्म नास ह्वै जाय'
तब आतम निष्कर्म ह्वै, निर्गुन ब्रह्म समाय।। (भ० गी०, पद २५)

५. जौ हरि के नहि कर्म, कर्मबंधन क्यौं आयौ।
तो निर्गुन होइ वस्तु, मात्र परमान बतायो।
जौ उनको परमान है, तो प्रभुता कछु नाहि,
निर्गुन भए अतीत के, सगुन सकल जग माहिं। (भं० गी०, पद २६)

६. जौ गुन आवैं दृष्टि माझ, नहि ईश्वर सारे,
इन सबहिन ते वासुदेव अच्युत हैं न्यारे।
इंद्री दृष्टि विकार ते, रहित अधोक्षज जौति,
सुद्ध सरूपी जान जिय, तृप्ति जु ताते होति। (भ० गी०, पद २७)

कर परछाई (ज्योति) को भजते है । हमे यह स्वीकृत नही है ।[1] हमे तो अपने सगुण रूप मे ही ब्रह्मत्व के दर्शन होते है ।

उपर्युक्त तर्क-क्रम को देखते हुए श्रोता या पाठक को स्पष्ट हो जाता है कि उद्धव शास्त्र की घिसी-पिटी बाते ही कहते है, उनके पास चित्त मे बैठने वाले प्रमाण नही है, उनके तर्क तीनो स्थलो पर निर्बल या लचर हो जाते है । गोपियो की विद्वत्ता की छाप पड जाती है । वे शास्त्र आदि का हवाला न देकर शुद्ध तर्क प्रस्तुत करती है जो अधिक युक्ति-युक्त और मन मे बैठने वाले है । उद्धव उत्तर देने से निरस्त तो नही होते, किन्तु शास्त्रार्थ मे उनकी पराजय आभासित हो जाती है ।

इस कथोपकथन की तुलना जब हम सूर-भ्रमरगीत से करते है तो नन्ददास की मौलिकता स्पष्ट हो जाती है । सूरदास की गोपिया कही भी सैद्धान्तिक शास्त्रार्थ नही करती । वे उद्धव के द्वारा लाये हुए ज्ञान का उपहास अवश्य करती है, किन्तु सैद्धान्तिक विवाद से अपने को बचाती है । आनुषंगिक रूप से ही सिद्धान्त-कथन निकलते है । वे कही भी निर्गुण ब्रह्म, योग-साधन और अद्वैतवाद को असिद्ध नही करना चाहती । वे तो उसकी प्रतिष्ठा स्वीकार करती हैं । वे मानती है कि उद्धव का उपदेश सार-गर्भित है और गोपियाँ उसे सर्वथा स्वीकार करने को प्रस्तुत है, किन्तु कठिनाई यह है कि अबला अहीरिने योग-मार्ग की उपर्युक्त पात्र नही हो सकती, साथ ही योग-साधना मे मन को साधना परमावश्यक है और उनका मन तो कृष्ण के पास चला गया है । मन के अभाव मे वे योग-मार्ग को किस प्रकार साधे ? यदि उद्धव उनका मन वापस करा दे, तो उन्हे योग-मार्गको स्वीकार करने मे कोई आपत्ति न होगी । सूरदास की गोपियो का विरोध प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष (Passive) है । भ्रमरगीत के द्वारा सूरदास जी ने भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा नाटकीय रूप मे की अवश्य है, किन्तु उसमे सैद्धान्तिक एव शास्त्रीय पक्ष निर्बल है । नन्ददास जी इस प्रकार निर्बल और अप्रत्यक्ष पद्धति को स्वीकार नही करते । वे खुल कर योगमार्गियो के साथ शास्त्रार्थ करना चाहते थे । इसलिए उनकी गोपियाँ अपढ अबलाए नही है, विदुषी शक्ति रूपा है । उद्धव के तर्कों का दार्शनिक तथ्यो से सुपुष्ट उत्तर देती है । नन्ददास की गोपिया पुष्टिमार्ग के इस सिद्धान्त को सर्वथा चरितार्थ करती है कि प्रभु के अनुग्रह के समक्ष जप तप-सयम योग और समाधि तत्वत. निरर्थक है । प्रभु की सगुण भक्ति न केवल निरापद और आनन्दरूपा हे वरन् दार्शनिक दृष्टि से भी सर्वथा युक्तियुक्त है ।

भ्रमरगीत

नन्ददास के भ्रमरगीत मे भ्रमर का उल्लेख तब तक नही आता, जब तक विवाद होता रहता है । विवाद के उपरान्त जब गोपियाँ भावोन्माद मे विह्वल होती है तब भ्रमर

१. नास्तिक जे हैं लोग कहा जानैं हिन रूपै,
प्रगट भानु को छाडि गहैं परछाही धूपै ।
हमको बिन वा रूप के, और न कछु सुहाय,
ज्यों करतल आमलक के, कौटिक ब्रह्म दिखाय ।। (भ० गी०, पद २८)

का आगमन होता है और गोपिया बारी-बारी से भ्रमर के माध्यम से कृष्ण और उद्धव को अपने उपालम्भ देती हैं। इस अ श में नन्ददास जी ने सूरदास की अपेक्षा भागवत का अधिक अनुसरण किया है। यह अ श अधिक भावात्मक और काव्यात्मक है। प्रत्येक गोपी अपने-अपने हृदय के उद्‌गारों का सहज प्रकाशन करती है।

अन्तस्तल के सुमधुर भावों का सहज उच्छलन प्रवहमान होता दिखाई पड़ता है। छन्दो मे बधा तथा खडकाव्य का अ ग होते हुए भी इसमें गीतितत्व प्रमुख है। प्रत्येक पद अपने आप मे स्वतन्त्र और पूर्ण है। रुदन के रूप मे गाती हुई गोपियाँ भावोर्मियो मे गोते खाती आनन्द सागर की ओर अग्रसर होती जाती है।

सूर-भ्रमरगीत मे विवाद और उपालम्भ एक-दूसरे से पृथक् नही हे। गोपिया अपना विरह-निवेदन भी करती जाती ह और उपालम्भ भी प्रस्तुत करती जाती है। नन्ददास की गोपिया जब उपालम्भ प्रस्तुत करतीहुई क्षुब्ध होती ह, लोक-लज्जा का लोप कर उद्धव और कृष्ण पर आलोचना की बौछार करती हैं, तब उद्धव दूर बैठे हुए उनके रुदन और उपालम्भ को सुनते तथा प्रभावित होते रहते हे। गोपियो की विरह-कातरता असीम हो जाती है, उनकी ज्ञान-गरिमा उच्छिन्न हो जाती है, वे नारीत्व की समभूमि पर उतर आती है। विवाद मे वे परम विदुषी और ज्ञानवती थीं, किन्तु यहाँ आकर ग्रामीणता के निम्नतम स्तर पर उतर कर गालियाँ देने लगती हैं—

कोउ कहे—रे मधुप, [कान्ह जोगी तुम चेला।
गुब्जा तीरथ जाय कियो इन्द्रिन कर मेला॥[1]
कोउ कहे—रे मधुप कौन कह तोहि मधुकारी।
लिए फिरत मुख जोग, गाठि काटत बेकारी॥
रुधिर पान कियो बहुत को, अरुन अधर रंगरात,
अब ब्रज मे आये कहा करन कौन की घात।
जात किन पातकी।[2]

सूर की गोपियाँ इससे भी कही अधिक कटु और अश्लील बातें कहती हैं, किन्तु उनमे वक्रोक्ति का योग ऐसा होता है कि शालीनता बनी रहती है। नन्ददास की गोपियो की भाति वहा स्तर-विपर्यय नही होता। कहाँ दर्शन-पडिता और कहा गाली देने वाली ग्रामीणा। इस भवरगीत मे प्रबन्धात्मकता कुछ समय के लिए रुक-सी जाती है। विभिन्न पदो मे भिन्न-भिन्न सचारी भाव के दर्शन होते हे। भ वरगीत के अन्य भागो की अपेक्षा भावुकता का वेग तीव्र होते हुए भी सूर-भ्रमरगीत की रसात्मकता, वाग्विदग्धता और सहृदयता के समक्ष इसका रस सीठा लगता है।

उद्धव का भाव-परिवर्तन

सूरदास के भ्रमरगीत मे उद्धव गोपियो के विचार से प्रभावित होते है और एक-आध पक्ति में अपना विचार भी व्यक्त करते है किन्तु उनका परिवर्तन वचनो से कम किन्तु वापस

---

१. नन्ददास भवर गीत, पद ५७
२. ,, ,, ५२

लौटने पर कृष्ण के प्रति कहे हुए वचनो मे प्रकट होता है। नन्ददास के भवरगीत मे उद्धव जी सब कुछ कह देते है और इस प्रकार योग-मार्ग की विचार धारा को स्पष्ट रूप से निकृष्ट वताने लगते हैं—

ज्ञान योग सब कर्म तें, प्रेम परे ही सांच।
हौं यहि पटतर देत हौं, हीरा आगे कांच।[1]

वे स्पष्ट कहते हैं बिना प्रेम के योग आदि कर्म असत्य है। प्रेम के योग होने पर ही उनकी सार्थकता होती है। अव तक मैं योगमार्ग को भक्ति-मार्ग के सदृश समझकर हीरा और काँच की बराबरी करता रहा हूँ। वे पूर्ण पुष्टि मार्गी होकर के अनुग्रह सिद्धान्त की दुहाई भी देने लगते हैं—

कैसे होंहु द्रुम लता बेलि बल्ली वन माहीं,
आवत जाय सुभाय परैं, मोपैं परछाहीं।
सोऊ मेरे बस नहीं जो कछु करौं उपाय,
मोहन होहि प्रसन्न जो, यह वर मांगो जाय।
कृपा करि देहु जू॥[2]

इस प्रकार नन्ददास के भवरगीत मे उद्धव का भाव-परिवर्तन सर्वथा मौलिक तो अवश्य है किन्तु इससे नन्ददास की साम्प्रदायिक भावना उभर आती है। सूरदास जी के भ्रमरगीत मे साम्प्रदायिकता का पुट मात्र है, जो कि किसी भी विचारक या कवि के लिए अनिवार्य है। नन्ददास जी भवरगीत मे उद्धव-गोपी सवाद और उद्धव-भाव-परिवर्तन दोनो ही साम्प्रदायिक भावना के कारण विशेप रूप मे उभरे है। इन दोनो ही अ शो मे विचार-पक्ष प्रवल हो गया है। कल्पना को अवकाश नही मिलता, इसीलिए काव्य-पक्ष इन अ शो मे निर्बल है।

उद्धव-प्रत्यागमन

नन्ददास के भ वरगीत मे उद्धव कृष्ण के पास पहुँचने पर आक्रोश भरे शव्दो मे कृष्ण को प्रताडना देते हे—

करुनामयी रसिकता, है तुम्हरी सव झूंठी,
जवहीं लौं नहि लखौं, तवहि लौं वांधी मूठी।
मै जान्यो व्रज जायकैं, तुम्हरो निर्दय रूप,
जे तुमको अवलंवहीं तिनको मेलो कूप।
कौन यह धर्म है॥[3]

कृष्ण उनके भाव को समझ कर उन्हे अपना कृष्णमय गोपी और गोपीमय कृष्ण रूप की अभिन्नता दिखाते हैं—

---

१. नन्ददास भवर गीत, पद ३४
२. ,, ,, ६८
३. ,, ,, ७१

रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहि सांवर गात,
कल्पतरोरुह सांवरो ब्रजबनिता भई पात।
उलहि अंग अंग तें ॥[1]

इस प्रकार अन्त मे नन्ददास जी शाश्वत कृष्णलीला का सोदाहरण सिद्धान्त-निरूपण करते हुए वृत्त की समाप्ति करते हैं।

सूरदास के भ्रमरगीत मे यह सिद्धान्त-निरूपण नाम को नही है। उद्धव जी कृष्ण के प्रति राधा तथा गोपियो का जो विरह-निवेदन करते हैं वह साहित्य मे अभूतपूर्व और अनुपम है। विरहिणी राधा का ऐसा साक्षात् चित्र प्रस्तुत किया है और अनेक पदो मे उनकी दुर्दशा कह-कहकर अकुलाते गये हैं कि सदेश सजीव हो गया है। उद्धव-वचन सुनकर सूरदास के कृष्ण नन्ददास के कृष्ण की भाति अपने अद्वैत शाश्वत लीला रूप का उद्घाटन भी नही करते, वे तो ब्रजवासियो के प्रेम को हृदय मे ही छिपा लेते हैं—

ऊधो भलौ ज्ञान समुझायौ।
तुम मोसो अब कहा कहत हौ, मै कहि कहा पठायौ॥
कहवावत हौ बड़े चतुर पै, उहाँ न कछु कहि आयौ।
सूरदास ब्रजबासिन को हित, हरि हिय मांह दुरायौ॥[2]

इस प्रकार नन्ददास का भवरगीत सूरदास के भ्रमरगीत से पर्याप्त भिन्न है। इसमे कोई सन्देह नही कि नन्ददास जी ने कदाचित् मूल प्रेरणा सूरदास जी से ही ली थी। सूरदास का निम्न पद इस तथ्य के प्रमाण मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

ऊधव कौ उपदेस सुनौ किन कान दै।
सुन्दर स्याम सुजान पठायौ ज्ञान दै।[3]

नन्ददास के भवरगीत का आरम्भ उसी के अनुकरण मे लिखा मालूम होता है। सूर के उस पद मे समस्त भ्रमरगीत का सार है और उसमे गोपियो और उद्धव के बीच कथोप-कथन भी है। इतना होने पर भी नन्ददास के भवरगीत की मौलिकता सिद्ध है। इसीलिए भ्रमरगीत परम्परा मे नन्ददास का भवरगीत लोकप्रिय हो गया और परवर्ती कवियो ने नन्द-दास जी से विशेप प्रेरणा भी ली। मुकुन्ददास के 'भवरगीत', प० सत्यनारायण के 'भ्रमरदूत' और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' रचित 'उद्धव शतक' मे नन्ददास के भवरगीत का भी अनुसरण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

काव्यात्मक मूल्याकन की दृष्टि से जब हम नन्ददास के भवरगीत को सूर भ्रमरगीत के साथ देखते है तो दोनो मे बहुत बडा अन्तर दिखाई पडता है। सूरदास जी का भ्रमरगीत रस, ध्वनि और अलकार की दृष्टि से सूर काव्य का नवनीत है। उसमे जितना विस्तार है, उससे भी अधिक गहराई है। प्रत्येक पद मनोनुकूल और काव्य-वैभव की दृष्टि से साहित्य-सागर से निकाले हुए रत्न की भाति मूल्यवान है। सूरदास का भ्रमरगीत विप्रलम्भ-काव्य

---

१. नन्ददास भवर गीत, पद ७३
२. सूरसागर, पद ४७४३
३. ,, ,, ४७१३

का दृष्टि से हिन्दी साहित्य मे अनूठा है। विरह की समस्त दशाओ और अनुभूतियो का काल्पनिक और काव्यात्मक स्वरूप उसमे निखरा पडता है। पाठक और श्रोता के मर्मस्थल को स्पर्श करने की जो अद्भुत शक्ति उसमे है उसकी छाया भी नन्ददास के भँवरगीत मे नही मिलती। नन्ददास की गोपियाँ विरहोन्माद का नाट्य करती है, सूर की शब्दावली का प्रयोग करके भी मूल भाव की रक्षा नही कर पाती। जो बात सूरदास की गोपियाँ शिष्टता और व्यग्य के मिश्रण से कहती और उद्धव के मर्मस्थल पर चोट पहुचाती है वही बात नन्ददास की गोपियो के मुँह से भोड़ी होकर रह जाती है, जैसे—

ऐसी है कारेन की रीति।
मन दै सरबस हरत परायौ, करत कपट की प्रीति।
ज्यो षटपद अंबुज के दल में, बसत निसा रति मानि।
दिनकर उदय अनत उठि बैठत, फिरि न करत पहिचानि॥
. ...
सूरदास अनुहारि स्याम की, फिरि फिरि सुरति करावत।[1]

पद मे कृष्ण वर्ण वाले अनेक जीवो—भ्रमर, भुजग, काग और बादल के उदाहरण से कृष्ण के कपटपूर्ण प्रेम-भाव का दिग्दर्शन कराया गया है, किन्तु फिर भी कृष्ण या उद्धव के प्रति कोई कटूक्ति नही है। अन्त मे कृष्ण के प्रति अपना अनुराग और प्रणय-निवेदन भी किया गया है। इसी के साथ नन्ददास का निम्न पद है—

कोउ कहै री विस्व मांझ जेते हैं कारे।
कपट कुटिल की कोटि परम मानुष मसिहारे।
एक स्याम तन परसि कै, जरत आजु लौं अंग।
ता पाछे यह मधुप हू, लायो जोग भुजंग।
कहाँ इनको दया॥[2]

पद मे कृष्ण और उद्धव दोनो को निरा कपटी और कुटिल कहा गया है। इसमे सूर के पद की भाँति प्रणयासक्ति की ध्वनि नही है। नन्ददास के पद में निन्दा या गाली की स्वभावोक्ति है किन्तु सूर के पद मे ऐसी वक्रोक्ति है कि जिसके वाह्याकार मे तो निन्दा है, किन्तु उसी मे अन्तस्तल की आसक्ति प्रतिविम्वित है।

एक पद इसी क्रम मे और द्रष्टव्य है—

काहे कौं गोपीनाथ कहावत।
जौ मधुकर वे स्याम हमारै, क्यौं न इहां लौं आवत॥
सपने की पहिचानि मानि जिय हमहिं कलंक लगावत।
जो पै कृष्ण कूबरी रीझे, सोइ किन विरद बुलावत॥[3]

---
१. सूरसागर, पद ४३७५
२. नन्ददास भंवरगीत, पद ४७
३. सूरसागर, पद ४२६६

गोपियाँ नम्रता के साथ निवेदन कर रही है कि इनका नाम 'गोपीनाथ' अब तक है, तो वे यहाँ क्यो नही आते ? किन्तु यदि उनकी और हमारी प्रीति स्वप्न की पहिचान ही थी तो 'गोपीनाथ' कहला कर हमे क्यो लज्जित करते है, अब 'कूबरीनाथ' नाम क्यो नही रख लेते ? इस प्रकार अब भी वे कृष्ण को अपना प्रिय मान रही है, कृष्ण के कृत्य पर उन्हे लज्जा का अनुभव हो रहा है और व्यजना से यह भी कह रही हैं कि अब भी कृष्ण के पास 'गोपीनाथ' नाम को सार्थक करने का अवकाश है।

सूरदास की शब्दावली का प्रयोग नन्ददास के भवरगीत मे और प्रकार है—

कोउ कहै रे मधुप तोहि लज्जा नहि आवै।
सखा तुम्हारौ स्याम कूबरीनाथ कहावै॥
यह नीची पदवी हुई गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयौ दासी जूठन खाय।
मरत कह बोल को॥[1]

यहाँ गोपियाँ 'कूवरीनाथ' कह कर कृष्ण को बदनाम तो कर ही रही है उद्धव जी को भी निर्लज्ज घोपित कर रही है। 'दासी जूठन खाय' का घृणात्मक आरोप ऊपर से है।

तात्पर्य यह कि नन्ददास के भवरगीत मे तर्क-वितर्क की प्रधानता है रस और ध्वनि की व्यजना कम है। उद्धव-गोपी-विवाद अ श जो तर्क-वितर्क और बुद्धि-वैभव का स्थल है काव्य-कल्पना और रस-योजना से दूर है। उपालभ वाले अ श मे छिछली भावुकता का प्रसार हो गया है। अन्तस्तल की मर्मानुभूति की गहराई उसमे नही है। नन्ददास जी भाषा-शिल्पी की दृष्टि से विशेष प्रसिद्ध है किन्तु तर्क-वितर्क के बुद्धि-विलास मे उनकी कल्पना को अवकाश कम मिला है। इसीलिए भवरगीत मे दृष्टान्त, काव्यलिंग, छेकोक्ति जैसे अलकारो को ही यत्र-तत्र अवसर मिल पाया है। रसाश्रयी सादृश्यमूलक और व्यग्योक्तिमूलक अल-कारो को अवसर नही मिला। यही कारण है नन्ददास की पदावली कोमलकान्त शब्दावली के होते हुए भी उतनी सरस और हृदयस्पर्शी नही बन सकी है जितनी सूर-भ्रमरगीत की। नन्ददास के भवरगीत मे उसका काव्यरूप, उसका विषय-नियोजन, उसका तर्क-क्रम और उसकी कोमलकान्त ललित पदावली की निजी विशेषता है, फिर भी उसमे रस, ध्वनि, अलकार और उक्ति-वैचित्र्य की वह गरिमा तथा सहृदय-सवेद्य भावमयता नही मिलती, जो सूर-भ्रमरगीत मे सहज सुलभ है।

परमानन्ददास

परमानन्ददास जी के परमानन्दसागर मे सूरदास जी का अनुसरण प्रत्येक प्रसग मे मिलता है। कवि ने विपय-वस्तु सूरदास से ली, किन्तु रचना मे मौलिकता है। भ्रमरगीत प्रसग परमानन्द सागर मे वैसा प्रमुख नही है जैसा कि सूरसागर मे है। यहाँ गोपी-विरह की प्रधानता है। गोपी-उद्धव-सवाद और भ्रमरगीत गौण है। इन प्रसगो पर एक तो पद-सख्या ही बहुत अधिक नही है और दूसरे उनमे विरहिणी गोपियो की मर्मवेदना का ही चित्रण है।। परमानन्द जी के पद प्रमुखतया मुक्तक गीतो के रूप मे है, कथा-शृ खला लुप्त-

---

१. नन्ददास भवरगीत, पद ५६

प्राय है। इसका कारण यह है कि परमानन्ददास जी ने कृष्ण-कथानक को अधिक महत्व नही दिया है। भ्रमरगीत प्रसग मे गोपियाँ अपना विरह निवेदन मात्र करती है। जैसे—

ऊधो कछु नाहिन परत कही।
जब तें हरि मधुपुरी सिधारे बहुते विथा सही॥
वासर कलप भए अब मोको रैन न नींद गही।
सुमिरि सुमिरि यह सुरति स्याम की विरहा बहुत दही॥
निकसत प्रान अटिक मै राखे, अवध्यौ जानि रही।
परमानन्द स्वामी के बिनु रे नैननि नदी बही॥

फिर भी ऐसे पद भी हैं जिनमे योग-चर्चा का सकेत मिलता है और गोपिया योग-मार्ग के प्रति अपनी अरुचि का प्रकाशन करती है—

मेरो मन गह्यो माई मुरली के नाद।
आसन पवन ध्यान नहिं जानो कौन करे अब वाद विवाद॥
मुक्ति देहु सन्यासिन को हरि कामिन देहु काम को रासि।
धर्मिन देहु धर्म को मारग मेरो मन रहे पद अंबुज पासि॥
जो कोउ कहै जोति सब यामें सपने न छुवै तिहारे जोग]।
परमानन्द स्याम रंगराती सबै सहौं मिलि एक अंग रोग॥

जैसा कि इस पद मे व्यक्त किया गया है गोपियो को वाद-विवाद से घृणा है, इसीलिए प्रत्यक्ष विवाद रूप परमानन्द सागर मे नही मिलता। सूरदास तथा नन्ददास के भ्रमरगीतो का एक प्रयोजन ज्ञान-मार्ग पर भक्ति की प्रतिष्ठा करना है। परमानन्ददास जी को ऐसा दृष्टिकोण कदाचित अधिक प्रिय नही था। सूरदास और नन्ददास जी अपनी रचनाओ मे भागवत का मूल आधार स्वीकार करते थे। इसीलिए सूरदास जी के भ्रमरगीत सम्बन्धी दो लम्बे पदो मे भागवतीय वृत्त का साहाय्य लिया गया है। नन्ददास के भवरगीत मे भी भागवत का आधार स्पष्ट है। परमानन्ददास जी के परमानन्द सागर मे भागवत का आधार उस प्रकार लक्षित नही होता, इसीलिए उसमे न तो भागवत द्वादशस्कधीय विविध अवतारो की कथा है और न कृष्णावतार सम्बन्धी पदो मे भागवत का विशेष प्रभाव ही है। परमानन्द सागर के समस्त सदर्भ एवं पद कीर्तन के क्रम मे ही लिखे जान पड़ते है। तात्पर्य यह कि परमानन्ददास जी के भ्रमरगीत सम्बन्धी पदो मे भ्रमरगीत का इतिवृत्त केवल नाममात्र को है, विभिन्न पद सर्वथा मुक्त गीतो के रूप मे हे। इनमे गोपियाँ अथवा भक्त कवि का विरह निवेदन ही प्रमुख रूप से है। सूरदास जी के भ्रमरगीत के अनेक पदो मे भी यही भावना मिलती है। परमानन्ददास जी भावुक भक्त थे, उनकी रचना कृष्णलीला के विविध प्रसगो पर उनकी विचारधारा का सहज प्रकाशन मिलता है। उनके भाव अनूठे हैं, उनका व्यक्तीकरण सहज और सीधा है। सूरदास और नन्ददास मे काव्य-कलात्मक दृष्टिकोण उभरा मिलता हे। सूरदास जी ने लोकप्रचलित ब्रजभाषा को सवारा और सजाया, कृष्ण के सरस लीला प्रसगो के अनुरूप मिठास-युक्त सुघरी हुई अलकृत भाषा का प्रयोग किया। नन्ददास जी ने

सूरदास जी की कलात्मक प्रवृत्ति का और विकास किया। उनके शब्द-चयन, पद-लालित्य और अलकार-नियोजन ने उन्हे 'जडिया' विशेषण से प्रसिद्ध कर दिया। परमानन्ददास जी भक्तिभाव और काव्य-प्रतिभा की दृष्टि से सूर और नन्द के मध्यवर्ती है, किन्तु कलात्मक दृष्टि की ओर विशेष रुचि न रखने के कारण उन्हे उतनी लोकप्रियता न मिल सकी। भ्रमर-गीत सन्दर्भ मे भी उनके पद भाव-विभोरता, रसात्मकता और मर्मस्पर्शिता की दृष्टि से सूर के पदो के निकट पहुँच सकते है, किन्तु पद-रचना की कमनीयता, अलकारो के वैभव और उक्ति-वैचित्र्य की चटक उस प्रकार नही मिलती जैसी सूरदास जी के भ्रमरगीत मे है। सर्वांग विवेचन के उपरान्त नन्ददास का लघुकाय भवरगीत भी परमानन्ददास के भ्रमरगीत से अधिक आकर्षक सिद्ध हो जाता है। निष्कर्षत परमानन्ददास के भ्रमरगीत की अपनी विशेषताओ के होते हुए भी वह सूर-भ्रमरगीत की तुलना मे बहुत पीछे रह जाता है।

अन्य भ्रमरगीत

अष्टछाप कवियो के उपरान्त निम्न कवियो की भ्रमरगीत सम्बन्धी रचनाए मिलती है—

मुकुन्ददाग रचित 'भवरगीत', महमद रचित 'भमरागीत', रसनायक रचित 'विरह-विलास', मुकुन्ददासकृत 'सनेह-लीला', बख्शी हसराज रचित 'विरह-विलास', प्रागनि कृत 'भ्रमरगीत', प्रेमदास कृत 'प्रेम सागर', चाचा हितवृ दावनदास कृत 'भ्रमरगीत' और सुखसागर कृत 'भ्रमरगीत'। ये सभी ग्रन्थ साधारण कवियो की रचनाएँ हैं। नन्ददास का भवरगीत भी इनसे कही बढ-चढकर है। इनके साथ सूर-भ्रमरगीत की तुलना व्यर्थ प्रयास है।

गोस्वामी तुलसीदास

कवितावली के उत्तरकाड मे तीन पद तथा कृष्ण गीतावली मे २७ पद भ्रमरगीत सम्बन्धी मिलते है। गोस्वामी जी के ये पद स्फुट पद-रचना मे ही परिगणित हो सकते हैं। इन छन्दो की भ्रमरगीत के आनन्द सागर से क्या तुलना ! तथापि काव्य-शिल्पी तुलसी की लेखनी से नि सृत इन पदो मे काव्य-सौष्ठव स्वाभाविक है। कवितावली के तीनो पद सूर-भ्रमरगीत के पदो की भाँति भ्रमर या उद्धव को सम्बोधित कर कहे गये हैं। योग की चर्चा होने पर भी विरह-निवेदन ही इनमे प्रमुख है। प्रथम पद मे आत्म-विश्लेपण प्रस्तुत है। गोपी आरम्भ मे कृष्ण-स्नेह मे इतनी मूढ हो गई कि कृष्ण के कपट को न जान सकी। प्रेम मे दीवानी होकर वह सखी की सीख पर क्रुध हो गई। वह क्या जानती थी कि प्रेम मे वियोग का रोग भी होता है। अब वियोग दरजी की भाँति देह-पट को काट रहा है और काम प्राणो का ग्राहक हो रहा है।[1] द्वितीय पद मे कुब्जा पर क्षोभ भरी फबती कसी गई है। गोपी कहती है जोग सन्देश वास्तव मे दुष्ट कूबरी की चालाकी का परिणाम है। कृष्ण ने उसे स्वय

१. जब नैनन प्रीति हुई ठग स्याम सों, स्यानी सखी हठी हों बरजी।
नहि जानों वियोग सो रोग है आगे, झुकी तब हों तेहि सों तरजी।
अब देह भई पट नेह के घाले सौ, ब्योंत करै विरहा दरजी।
ब्रजराज कुमार विना सुनु भृग, अनंग भयो जियको गरजी ॥
(—कवितावली १३३,)

वरण कर लिया इसलिए वह अभिमान मे है । वह ऐसा सन्देश क्यो न भेजे, सुहागिन होकर वह हम वियोगिनियो की दशा क्या जाने, इसे तो वही जानता है जिसे विरहव्यथा होती है । किन्तु यदि श्याम को कूवडी ही प्रिय है, तो हम भी अव पीठ पर वनावटी कूवड बाँधा करेंगी ।[1]

तृतीय पद मे उद्धव की जोरदार खवर ली गई है । एक ही पद मे सूर और नन्ददास के पदो मे कही हुई कटुक्तियो का सार प्रस्तुत कर दिया गया है । वे कहती है कि हमारे प्रिय कृष्ण इस छह पावो वाले (पशु) को भेजेगे, यह हम कैसे कहे ? अवश्य यह उस कूवरी का उसी के अनुरूप सेवक है । यह ज्ञान गढने वाला, विना जिह्वा के वोलने वाला, वाल की खाल खीचने वाला, हृदय को पीडा पहुचाने वाला, प्रीति का वध करने वाला, रस-रीति को नष्ट करने वाला नीति-निपुण है ।[2]

इस प्रकार केवल तीन पदो मे भाषा पर अधिकार रखने वाले तुलसीदास जी ने पर्याप्त कह दिया है । विनोद, उपहास और कटूक्तियो का जो प्रवाह सूर-भ्रमरगीत मे प्रसारित है उसकी वानगी तुलसीदास जी अपने स्फुट पदो मे प्रस्तुत करते है । कृष्णगीतावली के पदो मे सूर की छाया ही आभासित होती है । प्रतीत होता है सूर-भ्रमरगीत के पदो को सुनकर गोस्वामी जी भी उन्ही भावो को अपनी शव्दावली मे प्रस्तुत करते है ।

कृष्ण गीतावली के ३६ पदो मे से चार पद (२३, ३२, ३३, ४४) सूरसागर के ही पद है । कदाचित सम्पादन की भूल से कृष्ण गीतावली मे छप गये हैं । अन्य पद भी सूरदास के अनुसरण मे लिखे जान पडते हैं । कृष्ण गीतावली मे भी गोपियाँ कृष्ण के जाने पर अपने मन को कोसती है कि इस मन ने अपने स्वार्थवश कृष्ण के अ गो मे वस कर प्रीति वढाई । यह (मन) कृष्ण के साथ मधुवन को चला गया, वापस आने की वात भी नही चलाता । मन को हम छोड़ दे, कृष्ण को त्याग दें, प्राण भी भले जायें, किन्तु हमे तो नयनो की ममता

---

१. जो मन कथा पठई व्रज को सव सौ सव चेरी की चाल चलाकी ।
ऊधोजू, क्यों न कहे कुवरी जो वरी नटनागर हेरि हलाकी ।।
जाहि लगै परि जाने सोई तुलसी सो सोहागिनि नन्द लला की ।
जानी है जानपनी हरि की, अव वाधियेगी कछु मोटि कला की ।। (क० १३४)

२. पठयो है छपद छवीलो कान्ह कैसे कहू,
खोजि कै खवास खासो कूवरी सी वाल को ।
ग्यान को गढैया, विनु गिरा को पढैया वार-
खाल को कढैया सो वढैया उर-साल को ।
प्रीति को वधिक, रस रीति को अधिक नीति—
निपुन विवेकु है निदेस देस काल को ।
तुलसी कहे न वनै सहे ही वनैगी सव,
जोग भयो जोगु को वियोगु नन्दलाल को ।। (क० १३५)

है।[1] कृष्ण के जाने पर चन्द्रमा से तो सूर्य शीतल लगता है।[2] हरि निर्गुण और निर्लेप है साथ ही बडे निठुर और स्वार्थी भी है। यह जानते हुए भी ब्रज-गोपियाँ और नन्द-यशोदा उनके विरह मे व्याकुल है, उन्होने कूबरी को वर लिया, उन्हे तनिक भी लज्जा नही आई।[3]

इतना होने पर भी कृष्ण गीतावली के पदो मे वह सरसता और व्यग्य का चटकीलापन नही मिलता जो सूर-भ्रमरगीत मे है। तुलसीदास जी भाषा पर असाधारण अधिकार रखते थे, फिर भी कृष्ण गीतावली मे उनकी भाषा मे वह माधुर्य और परिमार्जन नही मिलता, जो उनकी अन्य रचनाओ मे मिलता है। दास्य-भक्ति मे रमे हुए तुलसी सख्य और माधुर्य भक्ति के पदो मे अपनी मनोवृत्ति को उतना एकाकार न कर सके। दैन्य भाव मे पगे तुलसीदास सख्य या माधुर्य के समानाधिकार का उचित सामजस्य नही उपस्थित कर सकते थे। उनकी गोपियाँ सूर या नन्ददास की गोपियो की भाँति कृष्ण पर आरोप नही करती, अपनी दीनता दिखाते हुए निवेदन करती है कि वे जो करे सब उन्हे सुहाता है, क्योकि वे तो 'साहिब' है—

ऊधो जू कह्यो तिहारोई कीबो।
नीके जिय की जानि अपनपौ समुझि सिखावन दीबो॥
स्यामवियोगी ब्रज के लोगनि जोग जोग जो जानो।
तौ सकोच परिहरि पा लागो परमारथहि बखानो॥
गोपी गाय ग्वाल गोसुत सब रहत रूप अनुरागे।
दीन मलीन छीन तनु डोलत मीन मजा सो लागे॥
तुलसी है सनेह दुखदायक, नहिं जानत ऐसो को है?
तऊ न होत कान्ह को सो मन, सबे साहिबहि सोहै॥
(कृ० पद ३५)

---

१. नहि कछु दोष स्याम को माइ।
जो दुख मै पायो सजनी सो तो सबै मन की चतुराई॥
निज हित लागि तबहि ए वचक सब अगनि बसि प्रीति बढाई।
लियो जो सकल सुख हरि अग सग को जह जिहि विधि तह सोई बनाई।
अब नन्दलाल गवन सुनि मधुबन तनहि तजत नहि बार लगाई॥
. . .
मन हौ तजो, कान्ह हौ त्यागी, प्रानौ चलिहै परमिति पाई।
तुलसीदास रीतेहु तनु ऊपर नयननि की ममता अधिकाई॥ (कृ० गी०) ८५

२ याके उए बरति अधिक अग अग दव,
वाके उए मिटति रजनि-जनित जरनि॥
सब विपरीत भए माधव बिनु हित जो करत अनहित की करनि।
तुलसीदास स्याम सुन्दर विरह की दुसह दसा सो,
मोपै परि नाही बरनि॥ (कृ० गी०) ३०

३. हरि निर्गुन निर्लेप निरपने निपट निठुर निज काज सयाने।
ब्रज को विरह, अरु सग महर को, कुबरिहि बरत न नेकु लजाने॥ (कृ० गी०) ३८

निष्कर्ष यह कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भ्रमरगीत प्रसग पर महात्मा सूरदास के पदो के अनुसरण मे रचना की है। निश्चय ही तुलसी जैसे रससिद्ध कवि को यह प्रसग रुचा और उन्होने सूर जैसी भावाभिव्यक्ति प्रस्तुत भी की। तुलसीदास जी की काव्य-रचना वड़ी उच्च कोटि की थी, इसीलिए अन्य भक्त कवियो की अपेक्षा इनकी पदावली अधिक सरस और सुनियोजित है। प्रवन्ध काव्य मे अधिक रुचि रखते हुए भी इन्होने नन्ददास की भाँति खण्ड-काव्य की रचना न की, सूरदास की भाँति विरह-निवेदन को ही प्रमुखता दी। रामचरितमानस मे उन्होने भक्तिमार्ग को योग-मार्ग से श्रेष्ठ सिद्ध करने का युक्तियुक्त प्रयास किया है किन्तु इस प्रसग मे उन्होने उस ओर दृष्टि नही डाली। इस प्रकार शुद्ध काव्यात्मकता की दृष्टि से तुलसीदास के भ्रमरगीत के पद सूर के बाद औरो से श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।

रीतिकाव्य में भ्रमरगीत

रीतिकालीन कवि प्रवन्ध की ओर रुचि नही रखते थे, भक्ति भावना से उनका कोई सम्वन्ध न था। फिर भी सूर-भ्रमरगीत प्रसग मे प्राप्त विरहिणी नायिका, असूया आदि सचारी भाव, हास्यप्रधान 'कुब्जा-कॉड', अलकार और उक्ति-वैचित्र्य कवियो की मनोवृत्ति के सर्वथा अनुरूप थे। इसीलिए भ्रमरगीत की आड मे उनकी पद-रचना मे उन्ही की विचार-धारा चरितार्थ हुई है। सूरदास जी की प्रवृति काव्य की कलात्मकता की ओर उन्मुख थी। शव्द-संस्कार, स्वरवैभव, भावानुभावसचारी का सगुफन अलकार और उक्ति-वैचित्र्य का सहज समन्वय गोपियो की भाव प्रेरित वक्रोक्तियो के साथ हो गया। रीतिकालीन कवि सूर काव्य के भाव-पक्ष की ओर तो गति नही रखते थे किन्तु कलापक्ष को उन्होने अपने-अपने निजी गुणो के अनुरूप विकास दे दिया। पिछले प्रकरणो मे सूरदास जी की कलात्मकता के पीछे उसकी रस-व्यजना पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। रीतिकालीन कवियो के पदो मे कलात्मकता सूर से भी अधिक है किन्तु रस-व्यजना का अवकाश उसमे अल्प है। इस दृष्टि से मतिराम, देव और पद्माकर प्रमुख कवि है, जिनकी रचना मे उपर्युक्त गुण मिलते है। अलकार युक्त ललित पदावली के निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

> ऊधो जू सूधो विचार है धौ जू कछू समुझै हम है व्रजवासी।
> मानिहै जो अनुरूप कहौ 'मतिराम' भली यह वात प्रकासी॥
> जोग कहै मनि लाग न जोग कहां अवलामति हे चपलासी।
> स्याम कहाँ अभिराम सरूप कुरूप कहां वह कूवरी दासी॥

इस पद मे पद-लालित्य और माधुर्य गुण शव्द-शव्द मे हैं। अवला के साथ चपला की उपमा में रस-वर्धन उतना नही है, जितना लालित्य-प्रदर्शन। विपय मे अलकार की कमनीयता के साथ कूवरी का उपहास प्रस्तुत है। इसी प्रकार ललित शव्दावली के सुगुंफन मे कूवरी को लेकर शिष्ट उपहास देव ने वडी अलकारिकता के साथ इस प्रकार उपस्थित किया है—

कूबरी सी अति सूधी वधू से
मिल्यो वर देव जू स्याम सो सूधों ।

देव ने कही-कही अनुभाव-विधान मे चमत्कार प्रस्तुत किया है । उद्धव जी के आगमन पर सूर-भ्रमरगीत मे अनुभाव-विधान मनोहारी है—

निहचै आए गुपाल, आनंदित भई वाला,
मिट्यो विरह को जजाल जोवत तिहि काला ।
गदगद तन पुलक भयौ, विरहा को सूल गयो,
कृष्ण दरस आतुर अति प्रेम के विहाला ।।

देव ने इस भाव को पल्लवित किया है और कला की निकाई दिखाई दिखाई है—

ऊधौ आये ऊधौ आये, हरि कौ सदेस लाये,
सुनि गोपी गोप धाये, धीर न धरत हैं ।
बौरी लैंगि दौरि उठी भौंरी लौं भ्रमति माती,
काननि न गनी गुरु लोचन दुरत है ।
ह्वै भई विकल वाल वालम वियोग भरी
जोग की सुनत बात गात ज्यौं जरत है ।
भार भये भूषन, सम्हारे न परत अंग,
आगे कौ धरत पग पाछे को परत हैं ।

पद-पद पर अनुप्रास की कमनीयता रगीनी उत्पन्न करती है। 'उत्कठा' का सजीव चित्रण सूरदास से भी अधिक उभरा हुआ है। 'भौरी लौं भ्रमति माती' की उपमा कितनी सटीक है। 'आगे को धरत पग पाछे को' कितना स्वाभाविक चित्रण है। 'रत्नाकर' जी ने इसका भी और विकास किया है फिर भी पद कलात्मकता की दृष्टि से वेजोड ही है।

पद्माकर की पदावली मे देव की चित्रोपमता और मतिराम का लालित्य तो नही है किन्तु सानुप्रासिक पदावली उनकी निराली है—

पात विन कीन्हे ऐसी भांति मन वेलिनि के
परत न चीन्हे जे ये लरजत लुज हैं ।
कहै पदमाकर विसासी या वसत के
सु ऐसे उतपात गात गोपिन के भुज हैं ।
ऊधौ यह सूधौ सो संदेसौ कहि दीजै भलो
हरि सौ हमारे ह्याँ न फूले वन कुंज हैं ।
किंसुक गुलाव कचनार औ अनारन के
डारन पै डोलत अंगारन के पुज हैं ।

आधुनिक कृष्ण-काव्य

आधुनिक काव्य मे कृष्ण-काव्य पर रचना करने वाले समस्त कवियो ने भ्रमरगीत पर रचनाएं की है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने स्फुट पदो मे ऐसे पद भी लिखे है, जिनमे

उद्धव का उल्लेख है और सूरदास की भाँति उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण विरह-निवेदन है। उसे देखकर यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु जी ने सूरदास की छाया ग्रहण की है। इस प्रकार के पदो की कम सख्या होने के कारण उसकी तुलना यहाँ पर अप्रयोजनीय है। 'कविरत्न' प० सत्यनारायण के 'भ्रमरदूत' मे उद्धव-गोपी-सवाद का भक्तिपरक विरह-निवेदन नही है, वह तो भारत माता रूपी यशोदा माँ का भेजा हुआ वह भ्रमरदूत है जो भूभार उतारने वाले दुष्टदलन कृष्ण के पास भेजा गया है। उसकी छन्द-रचना और पद-लालित्य पर नन्ददास का प्रभाव देखा जाता है अत सूर-भ्रमरगीत से उसकी तुलना अप्रासगिक है। 'उद्धव-शतक' नाम से श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और डा० रमाशकर शुक्ल 'रसाल' ने रचनाएँ की है। डा० रसाल की रचना 'रतनाकर' कृत उद्धव-शतक की विशिष्टताओ के अनुकरण मे हुई है। उसमे सूरदास के भ्रमरगीत से न तो प्रेरणा ली गई है और न उसकी भावाभिव्यक्ति सूर-पदावली जैसी है। इसलिए इसकी तुलना तो 'रत्नाकर' के उद्धव शतक से ही की जानी चाहिए, सूर के भ्ररमरगीत से उसका कोई सम्वन्ध नही है। हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास', मैथिलीशरण गुप्त के 'द्वापर' और श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' मे प्रस्तुत सन्दर्भ पर पद-रचना मिलती है। किन्तु इन ग्रन्थो मे दृष्टिकोण अधुनातन होने के कारण ये सूर-काव्य से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार आधुनिक काव्य मे जिस ग्रन्थ के साथ सूर-भ्रमरगीत की तुलना हो सकती है वह ग्रन्थ है केवल 'रत्नाकर' कृत 'उद्धव-शतक'। अत इसी का पर्यालोचन किया जा रहा है।

'रत्नाकर' कृत 'उद्धव-शतक'

उद्धव शतक की विपय वस्तु देखने पर प्रतीत होता है कि 'रत्नाकर' जी ने सूरदास की वस्तु का पल्लवन किया है। सूर-भ्रमरगीत की विपय-वस्तु की भाँति उद्धव शतक की वस्तु के भी तीन ही मुख्य अ श है—१ उद्धव के व्रज जाने का उपक्रम, २ उद्धव-गोपी-सवाद और ३ उद्धव का प्रत्यागमन। प्रत्येक अ श मे मूल सूरदास जी का ही है, किन्तु 'रत्नाकर' जी के निजी योगदान से वस्तु का कायाकल्प हो गया है।

उद्धव का व्रज-गमन

सूर-भ्रमरगीत मे उद्धव के व्रज भेजे जाने का मूल कारण व्रजवासियो की स्मृति है। कृष्ण व्रजवासियो की 'सुधि' से चिन्तित हो उठे, इसी कारण उन्हे उद्धव जी को व्रज भेजना पड़ा।[1] वे सोचने लगे कि व्रज जैसा ससार कहाँ मिलेगा। कहाँ वंशीवट, वृन्दावन और गोप-गोपियो का सग और कहाँ मथुरा का राज्य! उनका मन उन्ही मे तल्लीन हो गया।[2] सयोग से उद्धव जी तत्काल ही पहुँचे। कृष्ण जी ने गोपी, ग्वाल, गोसुत, माखन-रोटी, यशोदा और राधा की विशेप स्मृति का विवरण दिया। इस पर उद्धव जी ने कृष्ण के इस प्रकार के मोह को मिथ्या वतलाया।[3] उद्धव के वचन सुन कर कृष्ण जी ने उन्हे व्रज जाकर गोपियो को ज्ञान द्वारा प्रवोध देने की प्रार्थना की।[4] 'रत्नाकर' जी ने उपर्युक्त वृत्त को

१. सूरसागर, पद ४०२६
२. ,, ,, ४०३७
३. ,, ,, ४०४२
४. ,, ,, ४०४४

ही विकसित किया है। कृष्ण विरह-वेदना के लिए आवश्यक अवसर देने के हेतु उन्होने यमुना-स्नान करते हुए आधे मुरझाए कमरा की सुगन्धि से मूर्छित होने और तोते के द्वारा 'राधा' शब्द सुनकर जाग्रत होने का चित्र प्रस्तुत किया है।[1] इस प्रसग की नई उद्‌भावना से स्मृति की पूर्वपीठिका बडी ही रमणीय और मनोवैज्ञानिक बन जाती है। इसके उपरान्त उद्धव शतक के दो कवित्त 'सुधि' का विस्तृत मूर्त रूप प्रस्तुत करते है। परिणामस्वरूप अनुभावो की अपूर्व योजना होती है। 'भूले', 'भ्रमे' और अकुलाए कृष्ण उद्धव से कुछ कहना चाहते ही थे कि—

'नीर ह्वै बहन लगी बात अँखियान ते'

उन्होंने जब बहुत प्रयत्न किया कि वे अपने सखा मे 'विरह विथा की अकथ कथा' कहे तो उनका गला भर आया। पुतलियो मे प्रेम छलका। उन्होने वाणी से तो बहुत कम, किन्तु नेत्रो से विशेष रूप से और शेष वृत्त को हिचकियो से प्रस्तुत कर दिया।[2]

'सुधि' का ऐसा साक्षात् चित्र प्रस्तुत करने के उपरान्त सूर के कृष्ण की भाँति यहाँ भी वे कहने लगे कि नन्द, यशोदा, राधा, यमुना-तट और वृंदावन की स्मृतियाँ हमे बुलाने आती है।[3] लाख प्रयत्न करने पर भी 'व्रज वास के विलास का ध्यान' नही हटता।[4] और आठो याम वहाँ के कुँज नयनो मे बसे रहते है।[5] कृष्ण के वचनो को सुनकर सूरदास के भ्रमरगीत मे उद्धव जी ने कृष्ण के मोह को मिथ्या कहा था। वही बात उद्धव शतक मे भी विशेष सवार कर कही गई है—

आपु ही सौं आपुकौ मिलाप औ बिछोह कहा
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है॥[6]

इस प्रकार स्मृति सम्बन्धी मूल विचार दोनो ग्रन्थो मे एक ही है, किन्तु रत्नाकर जी ने प्रतिपादन नये रूप मे किया है। इसके उपरान्त सूर-भ्रमरगीत मे कृष्ण-उद्धव का उत्तर

---

१. न्हात जमुना मे जलजात एक देख्यौ जात जाको अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै रतनाकर उमहि गहि स्याम ताहि बास-बासना सा नैंकु नासिका लगायो है॥
त्यों ही कछु घूमि झूमि बेसुध भए कैं हाय पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक मे जगाइ ल्याइ ऊधौं तीर राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है।
(उद्धव शतक,१)

२. विरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा कहत बनै न जो प्रवीन सुकवीनि सौं।
कहै रतनाकर बुझावन लगे ज्यों कान्ह ऊधौं को कहन-हेत ब्रज-जुवतीन सौं।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं प्रेम पर्‌यौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।
नैंकु कही बैननि, अनेक कहि नैननि सो, रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं।
(उद्धव शतक, ४)

३ उद्धव शतक, ५

४. ऊधौ ब्रज-बास के बिलासनि कौ ध्यान बस्यौ
निस दिन काटे लौ करेजैं कसकत है॥ (उ० श० ६)

५. फिरत हुते जू जिन कुंजनि मे आठों जाम
नैननि मैं अब सोई कुंज फिरिबौ करैं॥ (उ० श० ७)

६. उद्धव शतक, १५

नही देते, उनके अभिमान और ज्ञान-सम्बन्धी भ्रम दूर करने के लिए उन्हे गोपियो को उपदेश देने के वहाने व्रज भेज देते है किन्तु रत्नाकर जी उद्धव-कृष्ण विवाद प्रस्तुत करते हैं। स्नेही उद्धव वताते है कि व्रजवासी प्रेम-जाल के द्वारा कृष्ण को बाँधना चाहते है।[1] दार्शनिक तथ्यो से पुप्ट तर्कों के द्वारा वे कहते है कि गोपियो के मिलाप और विछोह सम्वन्धी दुख-सुख मिथ्या स्वप्नवत् है।[2] उत्तर मे कृष्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रस्तुत करते है कि गोपियो का विरह ही वह मूल कारण है जो कृष्ण मे विरह-भावना को विकास देता है।[3] कृष्ण जी इसीलिए निवेदन करते हैं कि पहले आप गोपियो को वोध दे दे, वाद मे मैं आपकी शिक्षा स्वीकार कर लूँगा।[4]

यहाँ दृप्टव्य यह है कि उद्धव के व्रज भेजे जाने का प्रयोजन सूर-भ्रमरगीत से कुछ भिन्न है। वहाँ पर कृष्ण जी उद्धव के अभिमान को दूर करने और भक्ति-भावना को स्वीकार करने के हेतु भेजते है, किन्तु यहाँ इस प्रयोजन का कोई सकेत नही है। सूरदास आदि की इस साम्प्रदायिक भावना को यहाँ तिलांजलि दी गई है। यहाँ तो शुद्ध भावात्मक प्रयोजन है। कृष्ण और गोपियाँ दोनो पारस्परिक विरह से समान रूप से व्यथित थे, प्रेम-डोर दोनो को बाँधे हुए थी, उसी को काटने के लिए ही उद्धव जी का व्रज-गमन हुआ है।

सूर-भ्रमरगीत मे उद्धव जी कृष्ण से विदा होकर एकदम व्रज मे दिखाई पड जाते है। उद्धव शतक मे कृष्ण उद्धव को रथ मे विठा कर उनके साथ सदेश कहते-कहते वढते जाते है। यहाँ भी अनुभाव-विधान का चमत्कार द्रष्टव्य है।[5] मथुरा और वृन्दावन के वीच की वनस्थली तमाल की कुंजें, करील की झाडियाँ, गोकुल के गाँव और हरे-भरे खेतो आदि का अप्रत्यक्ष प्रभाव उद्धव पर पडता है। उनकी ज्ञान-गठरी की पूँजी उनके जाने विना ही खिसक गई। उनका योग-ध्यान हटने लगा और भावात्मक आविर्भाव इस प्रकार

---

१. उद्धव शतक १४

२. ,, १५

३. गोपिनि के नैन-नीर ध्यान-नलिका ह्वै धाइ
दृगनि हमारैं आइ छूटत फुहारे हैं॥ (उ० श०, पद १७)

४. आवो एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि
तव इहि नाति की प्रतीति धरि लैहैं हम।
मन सौं, करेजे सौं, स्रवन-सिर-आँखिन सौं
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहै हम॥ (उ० श०, पद १८)

५. आए ब्रज-पथ रथ ऊधौ कौं चढाइ कान्ह,
अकथ कथानि की व्यथा सौं अकुलात है।
कहै रतनाकर बुझाइ कछु रोकै पाय
पुनि कछु ध्याइ उर धाइ उरझात है॥
उससि उसासनि सौं बहि बहि आननि सौं
भूरि भरे हिय के हुलास न उरात है।
सीरे तपे विविध सँदेसनि की बातनि कौं
घातनि की झोंक मैं लगेई चले जात है॥ (उ० श० २१)

होने लगा कि उनके नेत्रों मे अश्रु और शरीर मे रोमाच होने लगा। उनके मुख का रग बदल गया, अग शिथिल हो गये, गला रुध गया, स्वेद और पुलक से सारा तन ऐसा विकृत हो गया कि उद्धव जी चकित हो गये।[1]

गोकुल मे जब उद्धव पहुँचे तो सूर-भ्रमरगीत मे गोपियाँ रथ को दूर से आता देख कर बडी उत्कंठा से भागी, उन्होने राधा जी को बुलाया। सब का हर्षातिरेक उद्धव जी को देखते ही शान्त हो गया और विषाद और निराशा का विरोधी भाव उदित हुआ। रत्नाकर के उद्धव शतक मे भी भाव वही है किन्तु उतना विस्तार नही है—

धाई धाम-धाम तै अवाई सुनि ऊधव की
बाम-बाम लाख अभिलाषनि सौं ग्वै रहीं॥
कहै रतनाकर पै बिकल बिलोकि तिन्हे
सकल करेजौ थामि आपुनपौ ख्वै रही॥

सूरदास जी ने कृष्ण की पत्री प्रस्तुत की है जिसे देखकर गोपियाँ अपनी सुधि-बुधि को भूल गई हैं—

निरखति अंक स्याम सुंदर के, बार बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै, होइ गई स्याम स्याम की पाती॥[2]

इसका पल्लवन रत्नाकर जी ने अधिक चित्रोपमता के साथ प्रस्तुत किया है। झुड-की-झुंड गोपियाँ गाँव के सभी भागो से भागी आयी, उन्होने आकर उद्धव जी को घेर लिया। पीछे खडी गोपियाँ बीच मे खडे उद्धव को देख न पाती थीं, अत अपने पजो पर खड़ी-खडी वे देखने लगी। ज्यो ही उन्होने देखा कि उद्धव जी उनके लिए पत्री लिए हैं, वे अकुला उठी। पत्री देख कर स्नेहातिरेक से उद्विग्न गोपियाँ अपने हाथ छाती पर रखने लगी, स्वय तो पत्री क्या पढती, उद्धव से पत्री पढने और उसमे लिखे अपने-अपने निजी सदेश की माँग बडी विह्वलता से करने लगी।[3] स्पष्ट है रत्नाकर जी ने सूरदास की मूल वस्तु का बडा ही कलात्मक परिवर्धन प्रस्तुत किया है। सूर का रेखा चित्र पूरी साज-सज्जा और रगीनी के साथ उपस्थित किया गया है। सूर भ्रमरगीत के देवकी-कुब्जा आदि के पत्रो का कोई उल्लेख उद्धव शतक मे नही है।

---

१. उ० श०, पद २२-२३-२४

२. सूरसागर, पद ४१०६

३ भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की
सुधि ब्रज-गावनि मैं पावन जबै लगी।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि
दौरि-दौरि नन्द-पौरि आवन तबै लगी॥
उझकि-उझकि पद-कजनि के पजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि सबै लगी।
हमकौ लिख्यौ है कहा, हमकौ लिख्यौ है कहा,
हमकौ लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं॥ (उ० श० २६)

इसी प्रकार व्रज-बालाओ की दशा देखकर सूर-भ्रमरगीत मे उद्धव जी प्रभावित हुए थे—

सक सकात तन धकधकात उर अकबकात सब ठाढ़े।
'सूर' उपंगसुत बोलत नाही अति हिरदै ह्वै गाढ़े।।

इसका बड़ा विशद भावात्मक चित्र उद्धव-शतक मे रत्नाकर जी ने खीचा—

दीन दसा देखि व्रज-बालनि की ऊधव कौं
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आए मुख बैन नैन
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से।।
सूखे से, स्रमे से, सकबके से, सके से, थके
भूले से, भ्रमे से, भभरे से, भकुवाने से।
हौले से, हले से, हूल-हूले से, हिये मे हाय
हारे से, हरे से, रहे हेरत हिराने से।।[1]

उद्धव-गोपी-संवाद

भ्रमरगीत परम्परा मे सवाद के तीन रूप प्राप्त है। एक का प्रतिनिधि रूप सूरदास मे मिलता है, जिसमे उद्धव जी एक बार ज्ञानोपदेश की चर्चा आरम्भ करके चुप हो जाते है। गोपियाँ उत्तर मे तरह-तरह के तर्क और आत्मनिवेदन करती है। उद्धव जी चुपचाप सब के उत्तर सुनते है, कुछ प्रत्युत्तर नही देते। अन्त मे उनसे प्रभावित होकर वापस आ जाते हे और बड़ी महानुभूतिपूर्वक कृष्ण के प्रति उनकी विरह-व्यथा का निवेदन कर देते है।

दूसरा प्रतिनिधि रूप नन्ददास का है, जिसमे उद्धव और गोपियो का कथोपकथन प्रणाली मे शास्त्रार्थ होता है। एक-एक तर्क पर उत्तर-प्रत्युत्तर चलते है, बाद मे गोपियाँ विरह-निवेदन और उपालभ प्रस्तुत करती है और उद्धव का मत परिवर्तन होता है।

तीसरा रूप स्फुट पद-रचना करने वाले कवियो का है, जहाँ समस्त कथन गोपियो के है, उद्धव कथन का सन्दर्भ मात्र गोपियो के कथन मे प्राप्त होता हे।

रत्नाकर जी के 'उद्धव शतक' मे केवल तीन[2] पदो मे अन्तर्यामी, अद्वैतब्रह्म के साथ योग-युक्ति द्वारा अविच्छन्न एकत्व प्राप्ति का उपदेश उद्धव जी प्रस्तुत करते है। उसे सुनकर गोपियो का मनोरम चित्र अनुभावो और सचारियो की चमत्कारिक योजना के साथ खीचा गया है।[3] इसके उपरान्त गोपियो के वचन तब तक चलते रहते है जब तक कि उद्धव जी आश्वस्त नही हो जाते और व्रज वापस जाने को उद्यत नही हो जाते। गोपियो के उत्तरो मे नन्ददास की भाँति कोई तर्क-क्रम भी नही है। प्रत्येक पद सर्वथा स्वतन्त्र है। पूर्वापर सम्बन्ध की किञ्चित भी अपेक्षा उनमे नही हे। इस प्रकार स्थूल रूप मे विषय-नियोजन सूरदास के भ्रमरगीत जैसा ही है।

---

१. उद्धव शतक, पद २८
२. ,, ,, ३०-३१-३२
३. ,, ,, ३३

गोपियो द्वारा प्रस्तुत तर्क रत्नाकर के अपने है, उनका प्रस्तुतीकरण भी नवीन है, किन्तु विचारो का केन्द्र-विन्दु सूर-भ्रमरगीत वाला ही है। अनेक पदो मे विषय-साम्य भी मिलता है। उद्धव-शतक मे गोपियाँ सर्वप्रथम रोग और उपचार का तर्क उपस्थित करती है कि वे वियोग के विपमज्वर से पीडित है, योग के उपचार से उन्हे लाभ नही होगा, उन्हें तो कृष्ण-दर्शन चाहिए।[1] यही तथ्य सूरसागर मे इस प्रकार मिलता है —

ऊधौ तुम अपनौ जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागति, कत वेकाज ररौ।
जाइ करौ उपचार आपनौं, हम जु कहति हैं जी की।
. ...
मथुरा गहौ वेगि इन पायनि, उपज्यौ है तन रोग।
सूर सुबैद वेगि टौहौं किन, भए मरन के जोग ॥[2]

अनेक पदो मे गोपियो ने वहाँ पर कहा है कि केवल एक ही इलाज है—कृष्ण-दर्शन, जिसके लिए उनकी आँखें भूखी-प्यासी हैं।

उद्धव-शतक मे नन्द और यशोदा का उल्लेख नही है, फिर भी एक पद मे गोपियाँ ठीक वही वातें कहती है, जो सूर-भ्रमरगीत मे यशोदा जी के द्वारा कहलाई गई थी। यशोदा जी कहती हैं कि उद्धव जी सच-सच कहिए कि कन्हैया किसके घर नवनीत खाते है और गोप-गोपियो के साथ गोचारण तथा अन्य लीलाओ का सुख पाते है ?[3]

उद्धव-शतक मे गोपी पूछती हे कि क्या कही प्रीतिपूर्वक नवनीत कृष्ण को मिल पाता है ? जो वात्सल्य उन्हे व्रज मे सुलभ था क्या वे उसे पाते है ? और क्या वे कभी यमुना-तट की वट-छाया मे वाँसुरी वजाते हे।[4]

---

१ रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के
जेते उपचार चारु मजु सुखदाई हं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन
देत ना सुदर्सन हू यों सुधि सिराई हैं ॥
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि कौ
भाय क्यौं अनारिनि कौ भरत कन्हाई ह।
ह या तो विपमज्वर-वियोग की चढाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं ॥ (उ० श०, ३४)

२. सूरसागर, पद ४२३०

३. ऊधौं कहौ साची वात।
दधि मह्यौं नवनीत माधव, कौन के घर खात ॥
... ...
कौन गोपी कूल जमुना, रहत गहि-गहि घाट।
. . ..
इतौ वूझत माइ जसुमति परी मुरछित गात।
सूरदास किसोर मिलवहु, मेटि हिय की तास ॥ (सू० सा० ४०६४)

४. उद्धव शतक, पद ३६

योग-साधना की अनुपयुक्तता के लिए सूरदास की गोपियाँ अपने सौन्दर्य-प्रसाधनो का उल्लेख कर उनके स्थान पर योगी-वेषभूषा का धारण नितान्त अव्यावहारिक और उपहासास्पद मानते हुए कहती हैं—

मधुकर कहा प्रवीन सयाने।
जे कच कनक कटोरा भरि भरि, मेलत तेल फुलेल।
तिन केसनि क्यों भस्म चढ़ावत होरी कैसे खेल ॥
जिन केसनि कवरी गहि सुन्दर, अपनै हाथ बनाई।
तिनको जटा कहा नीकी है, कहु कैसे कहि आई ॥
.. ..
कंचुकि झीनि झीनि पट सारी, चंदन सरस सुछंद।
अब कंथा एकै अति गुदरी, क्यो उपजी अति मतिमंद ॥[1]

ठीक यही कथन उद्धव शतक की निम्न पदावली मे अधिक सजी सजाई पदावली मे इस प्रकार मिलता है—

चोप करि चदन चढायौ जिन अंगनि पै
तिनपै बजाइ तूरि धूरि दरिबौ कहौ।
रस-रतनाकर स-नेह निरवार्‌यौ जाहि
ता कच कौं हाय जटा जूट बरिबौ कहौ ॥[2]

सूर की गोपियो ने वियोग और योग मे साम्य प्रस्तुत करते हुए कहा था—

ऊधौ करि रहीं हम जोग।
कहा एतौ बाद ठान्यौ, देखि गोपी भोग ॥
सीस सेली केस मुद्रा कान वीरी वीर।
विरह भस्म चढ़ाइ बैठी सहज कथा चीर ॥
हृदय सिंगी टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ।
चाहती हरि दरस भिच्छा देहिं दीनानाथ।
जोग की गति जुगति हम पै, सूर देखौ जोइ।
कहत हम सौं करन जोग, सुजोग कैसौ होइ ॥[3]

इस आशय के और कई पद सूर-भ्रमरगीत मे प्राप्त होते है। उद्धव-शतक मे उपर्युक्त वचन रूपान्तरित शव्दावली मे इस प्रकार मिलते हैं—

वे तौ बस बसन रंगावैं मन रंगत ये
भसम रमावैं वे ये आपुहीं भसम है।
सास-सास माँहि बहु बासर वितावत वे
इनके प्रतेक सास जात ज्यौं जनम हैं ॥

१. सूरसागर, पद ५४३।
२. उद्धव शतक, पद ३८
३. सूरसागर, पद ४३१३

ह्वै कै जग-भुक्ति सौं विरक्त मुक्ति चाहत वे
जानत ये भुक्ति मुक्ति दोऊ विष-सम है ॥
करिकै विचार ऊधौ सूधौ मन माँहि लखौ
जोगि सौं वियोग-भोग-भोगी कहा कम है ॥[1]

कुब्जा का उपहास करते हुए सूर की गोपियो ने एक ग्रामीण उक्ति प्रस्तुत की थी—

ऊधौ यहै अचंभौ बाढ़ ।
आपु कहां व्रजराज मनोहर कहां कूबरी राढ़ ॥
जिहिं छिन करत कलोल संग रति, गिरिधर अपनी चाढ ।
काटत है परजंक ताहि छिन, केधौं खोदत खाढ ॥[2]

उद्धव शतक की परिमार्जित पदावली मे ठीक वही कथन इस प्रकार है—

सोच है यहै कै संग ताके रंगभौन माँहि
कौन धौं अनोखौं ढंग रचत निराटी है ।
छाँटि देत कूवर कै आँटि देत डाँट कोऊ
काटि देत खाट किधौ पाटि देत माटी है ॥[3]

इसी प्रकार सूर-भ्रमरगीत और उद्धव शतक की निम्न पक्ति द्रष्टव्य है—

१. सूर सूर अक्रूर गयौ लै, ब्याज निवेरत ऊधौ । (सूर भ्रमरगीत)
लै गयौ अक्रूर क्रूर सब सुख मूर कान्ह
आए तुम आज प्रान ब्याज उगहन कौं । (उद्धव शतक)

२ निसि दिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहति पावस रितु हम पै, जब तें स्याम सिधारे ॥ (सूर भ्रमरगीत)

अथवा

व्रज मे पावस पै न टरी ।
.. ..
सूरदास प्रभु कुमुद बंधु बिनु, विरहा तरनि जरीं ॥[4]
रहति सदाई हरियाई हिय-घायनि मैं
ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है ॥
पीव पीव गोपी पीर-पूरति पुकारति है
सोई रतनाकर पुकार पपिहा की है ॥
लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ उठै
चित में चमक सो चमक चपला की है ।
बिनु घनस्याम धाम-धाम व्रज-मडल मे
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है ॥[5]

---

१. उद्धव शतक, पद ४७
२. सूरसागर, पद ४२६१
३. उद्धव शतक, पद ७६
४. सूरसागर, पद ३९१६
५. उद्धव शतक, पद ८९

इस प्रकार उद्धव के प्रति कहे हुए गोपी-वचन मे सूर-भ्रमरगीत और उद्धव शतक मे पर्याप्त भाव-साम्य है। इतना अवश्य है कि रत्नाकर जी की पदावली अलकारो, अनुभाव-विधानो से अधिक सजी हुई और उक्ति के बाकपन के कारण अधिक चटकीली है। कतिपय स्थलो पर रत्नाकर की गोपिया दार्शनिक तथ्यो को भी विशेष पाण्डित्य के साथ प्रस्तुत करती है। जैसे—

मान्यो हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम्ह
तोहूं हमैं भावति ना भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूंदता बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की॥[१]

तथा

एते बड़े बिस्व माँहि हेरैं हूँ न पैये जाहि,
ताहि त्रिकुटी में नैन मूंदि लखिबौ कहौ॥[२]

उद्धव का प्रत्यागमन

सामान्यतया एकसा होते हुए भी यह अंश सूर से भिन्न और नया है। सूर-भ्रमर-गीत मे गोपियाँ और यशोदा पत्री और सदेश भेजती है, किन्तु उद्धव शतक की गोपियाँ और यशोदा आदि सदेश के स्थान पर अपने भाव-भरे उपहार लेकर उपस्थित होती है।[३] सदेश कहने की इच्छा उनकी वैसी ही है जैसी सूर-भ्रमरगीत मे, किन्तु कहे तो कैसे—

सबद न पावत सो भाव उमगावत जो
ताकि-ताकि आनन ठगे से ठहि जात हैं।
रचक हमारी सुनौ रंचक हमारी सुनौ
रचक हमारी सुनौ कहि रहि जात है॥[४]

बेचारी गोपियाँ पत्र भी नही लिख पाती क्योकि—

सूखि जाति स्याही लेखिनी कै नैकु डंक लागै,
अंक लागै कागद बररि बरि जात हैं॥[५]

---

१. उद्धव शतक, पद ३७

२. ,, ,, ३९

३ धाई जित-तित तैं बिदाई-हेत ऊधव की
गोपी भरीं आरति सम्हारनि न सांसुरी।
कहै रतनाकर मयूर-पच्छ कोऊ लिए
कोऊ गुंज-अंजलि उमाहे प्रेम-आंसुरी॥
भाव-भरी कोऊ लिए रुचिर सजाव दही
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पांसुरी।
पीत पट नन्द जसुमति नवनीत नयौ
कीरति-कुमारी सुरवारी दई बांसुरी॥ (उ० श०, ९७)

४. उद्धव शतक, पद ९८

५. ,, ,, ९९

उद्धव जी उनकी दशा को देख और सब कुछ समझ कर चल देते हैं। आसुओ और उसासो से भरी गोपियाँ साथ-साथ चलती जाती है, किन्तु सदेश जैसी कोई वस्तु उनके मुख से नही निकलती।

व्रज लौटते समय उद्धव जी का जो शब्द-चित्र दो पदो (१०२-३) मे रत्नाकर जी ने खीचा है, अभूतपूर्व है। सूर-भ्रमरगीत मे उद्धव जी सीधे कृष्ण के पास पहुँचते हैं और बडे विस्तार से व्रजवासियो और राधा जी की विरह-दशा का विवरण देते है। उद्धव शतक मे उद्धव और कृष्ण दोनो ही एक-दूसरे को देख कर भाव-विभोर हो जाते हैं।[1] उद्धव जी के मुख से शब्द नही निकलते। वे प्रेम-मद मे छके लडखडाते हुए सब-कुछ भूले हुए है।[2] वे व्रज से प्राप्त उपहार उनकी ओर बढा देते है जिन्हे पाकर कृष्ण भाव-मग्न हो जाते हैं। उद्धव जी अपने को बहुत सभालने के उपरान्त बोलते भी हे तो अपनी ही दशा का वर्णन करने लगते हैं कि किस प्रकार उनका ज्ञान-गुन-गौरव और वचन-चातुर्य गोपियो की विरहानल की झार से क्षार हो उनकी दशा देखते ही उड गया। उन्हे ज्ञान की गठरी को व्रज के सिवान मे ही फेंक देनी पडी। बहुत सक्षेप मे उद्धव जी केवल इतना ही कह पाते है कि आपको शीघ्र ही व्रज जाना चाहिए क्योकि आपको देखते ही गोपियो की विरह-व्यथा विलीन हो जायगी। उद्धव जी कहते है कि यदि आपको इतना कहना न होता तो मैं वही एक कुटी बना कर रह गया होता।[3] उद्धव शतक मे अन्य भ्रमरगीतो की भाति कृष्ण के उत्तर नही प्रस्तुत किये जाते, उद्धव का ही भाव-परिवर्तन उपस्थित कर पुस्तक की समाप्ति हो जाती है। सूर-भ्रमरगीत का अन्तिम लक्ष्य उद्धव का मत-परिवर्तन था, वही उद्धव शतक मे भी दिखाया गया है। इस प्रकार दोनो की उपलब्धि एक ही है।

उद्धव शतक की विपय-वस्तु का तुलनात्मक विवेचन सिद्ध करता है कि भ्रमरगीत-

---

१. आवत कछूक पूछिवे औ कहिवे की मन
  परत न साहस पै दोऊ दरि लेत है। (उद्धव शतक, पद १०६)

२. प्रेम-मद छाके पग परत कहा के कहा
  थाके अ ग नैननि शिथिलता सुहाई है।
 कहे रतनाकर यौं आवत चकात ऊधौ
  मानौं सुधियात कोऊ भावना [भुलाई है॥ (उ० श० पद, १०१)

३. छावते कुटीर कहूँ रम्य जमुना कै तीर
  गौन रौन-रेती सौं कदापि करते नहीं।
 कहे रतनाकर विहाइ प्रेम-गाथा गूढ
  स्रौन रसना मैं रस और भरते नहीं॥
 गोपी ग्वाल बालनि के उमडत आसू देखि
  लेखि मलयागम हू नैकु डरते नहीं।
 हो तो चित चाव जौ न रावरे चितावन कौ
  तजि व्रज-गाँव इतै पाव धरते नहीं॥ (उ० श०, ११६)

परम्परा की प्रथम कृति होते हुए भी सूरदास कृत भ्रमरगीत ही आदर्श रचना रही है। इस परम्परा के अन्तिम प्रयास उद्धव शतक मे है, जिसमे सूर-मार्ग को ही राजपथ बनाने का अधिकाधिक प्रयास किया गया है। रत्नाकर जी ने सूरदान जी की मूल भावना को जीवित करने के लिए नया कलेवर देना चाहा है।

रचना-कौशल

सरदास और रत्नाकर व्रजभापा-काव्य के प्रथम तथा अन्तिम शिल्पी कलाकार है। सूरदास जी ने लोक-भापा का सस्कार आरम्भ किया था। उन्होने शव्दो के खुरदुरेपन को दूर करने, मिठास भरने, क्रिया और विभक्तियो के रूप को सयत करने, अलकारो से सजाने और विविध भापाओ के शव्दो तथा मुहावरो पर व्रजभाषा की रगत लाने का स्तुत्य प्रयास किया। इतना करने पर भी उनकी रचनाओ मे व्रज-माधुरी का सहज लोक-भापा रूप वना रहा। सूरदास जी के वाद नन्ददास, विहारी, मतिराम, देव और पद्माकर आदि के द्वारा व्रज-भाषा मे कलात्मकता का निक्षेप निरन्तर होता रहा। परिणाम यह हुआ कि व्रजभाषा अपने स्वाभाविक लोकभापा स्वरूप को खोकर शुद्ध साहित्यिक बन गई। 'रत्नाकर' जी न तो व्रजभाषी थे और न उन्हे सूरदास की भाँति अकृत्रिम भापा के प्रति मोह ही था। उन्होने विहारी, देव और पद्माकर की भापा को ही आदर्श माना, इसीलिए उनके रचना-कौशल मे रीतिकालीन व्रजभापा की चमक-दमक दिखाई पड़ती है। इसमे विहारी का अर्थ-गाम्भीर्य, देव की चित्रोपमता, मतिराम की मिठास और पद्माकर की अनुप्रासिकता प्राप्त होती है।

उद्धव-शतक के साँगरूपको मे विस्तृत विचार-शृ खला और अर्थ का ऐसा चमत्कार मिलता है कि गागर मे सागर वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। सूरदास जी रूपक-रचना के उस्ताद थे, किन्तु उनके रूपक सुवोधता तथा रसवत्ता को प्रमुखता देते है। रत्नाकर जी के रूपको मे शाव्दिक-चमत्कार, गम्भीर चिन्तन और काव्यशास्त्रीय रीति (विशिष्ट पद-रचना) का आग्रह मिलता है। चित्राकनता मे 'रत्नाकर' जी वेजोड है। उद्धव-शतक मे शव्द-चित्रो की भरमार है। अनुभाव-विधान के द्वारा अनूठे और अभूतपूर्व चित्र प्रस्तुत किये गये है। इन चित्रो को देखकर विहारी और देव द्वारा प्रस्तुत चित्र फीके पड जाते हैं। उद्धव-शतक मे जव-जव भावविभोरता के स्थल आते है। अनुभावो की चमत्कारिक योजना का ही आश्रय लिया गया है।[1] अनुभाव-विधान और चित्राकनता की कलात्मकता के कारण वर्ण्य का सरस चित्र सम्मुख खडा हो जाता है। किन्तु जव इसकी तुलना सूरदास जी के रेखाचित्रो से करते है तो लगता है कि रग-वैभव के अभाव मे भी उन चित्रो मे अन्तस्थल की भाव-राशि अधिक समाई है इसलिए वे चित्र अधिक प्रभावशाली है। सहृदय उनके आगे रत्नाकर की कलाकृति को उतना महत्व नही दे पाता।

उद्धव के प्रति कहे गये गोपी-वचन मे उक्ति का वाकपन वड़ा मनोहारी है। इसके साथ जव हम सूर-भ्रमरगीत के उक्ति-वैचित्र्य की तुलना करते हैं तो यहा अर्थ-वैभव की काव्य-शास्त्रीय कला ही प्रमुख दिखाई पडती है। सूर-भ्रमरगीत की भाव-प्रेरित वक्रोक्ति के दर्शन नही होते। उदाहरण के लिए निम्न उक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

१. उद्धव शतक, पद ४, २०, २६, २८, ३३, १०६, १०७।

टूक-टूक ह्वै है मन-मुकुर हमारो हाय
चूकि हू कठोर-बैन-पाहन चलावौ ना ।।
एक मनमोहन तौ बसिके उजार्‌यो मोहि
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना ।।[1]

स्पष्ट है वचन-भगिमा का मूल आधार मन-मुकुर का रूपक है। इस काव्यालंकार के हटा देने पर उक्ति की मनोहारिता का अस्तित्व खो जाता है।

रावरी सुघाई मैं भरी है कुटिलाई कूटि
बात की मिठाई मैं लुनाई लाइ ल्याए हो ।।[2]

यहा उक्ति विरोधाभास के चमत्कार से जाज्वल्यमान है।

एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब
और अंग-रहित अराधि करिहै कहा ।।[3]

इसी पक्ति मे मात्र श्लेष अलकार के कारण कथन मे भगिमा है—

वै तो है हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ
हम उनही की उनही की उनही की है ।।[4]

इस प्रभावात्मक उक्ति का मूल आधार पदावृत्ति मूलक वीप्सा अलकार है।

इस प्रकार अलकारो की चमक-दमक से सुसज्जित होने पर भी उक्ति-वैचित्र्य का वह सर्वसुलभ हृदयहारी रूप उद्धव-शतक मे नही मिलता, जो सूर-भ्रमरगीत के पद-पद मे सहज सुलभ है, जिसका विस्तृत विवेचन पीछे उक्ति-वैचित्र्य प्रकरण मे किया जा चुका है।

निष्कर्ष—उद्धव-शतक की वर्ण्य-वस्तु और भावधारा सूर-भ्रमरगीत जैसी ही है। सूरदास जी ने विरह की रागात्मकता, भावो की प्रवहणशीलता और वैयक्तिक आत्म-निवेदन के अनुरूप गीतो की रचना की थी। 'रत्नाकर' जी ने रीति-सिद्ध कवित्त-मुक्तको मे भाव-प्रधान वृत को प्रस्तुत करना चाहा। सफल कवि होने के कारण उन्होने भावुकता और कला-नैपुण्य का मणि-काचन योग तो कर दिया किन्तु अनुभाव-विधान, सचारियो की योजना, अलकारत्व और अर्थ-चमत्कार के बाह्य उपादान इतने अधिक हो गये हैं कि चमक-दमक मे रसात्मकता और ध्वन्यात्मकता की प्रमुखता न रह सकी। उद्धव-शतक का काव्यानन्द साध्य है, श्रोता को पूर्ण आनन्द प्राप्त करने के लिए साधन स्वरूप काव्य-शास्त्र के रस, ध्वनि, अलकार-वक्रोक्ति आदि का परिज्ञान परमावश्यक है। सूर-भ्रमरगीत मे भी काव्यशास्त्रीय विवरण विस्तार से उपलब्ध होते है किन्तु सहृदय को रसानन्द प्राप्त करने के लिए इनका अनिवार्य ज्ञान अपेक्षित नही है। यह और बात है कि काव्य-मर्मज्ञ को उसमे विशेष लाभ हो। निष्कर्ष यह कि भ्रमरगीत परम्परा का अन्तिम सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ भी सूर-भ्रमरगीत के सम्मुख आभाहीन हो जाता है।

---

१. उ० श०, पद ४०
२. ,, ,, ४१
३. ,, ,, ४५
४. ,, ,, ६०

८
प
ग्र

: ९ :

मूल्यांकन

भ्रमरगीत सूर-साहित्य का नवनीत है अत इसके मूल्याकन द्वारा सूर-काव्य का वहुत कुछ मूल्याकन सम्भव है। इसके लिए भ्रमरगीत के निम्नलिखित पक्षो पर समस्त श्रेष्ठ हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे देखना और उसमे इसका स्थान निर्धारण करना समीचीन है—

१. भक्ति-काव्य
२ शुद्ध-काव्य
३ गीति-काव्य
४ विरह-काव्य

भक्तिकाव्य

भगवान की लीलाओ के गान के रूप मे रचा हुआ सूर-साहित्य प्रमुखतगा अध्यात्म-परक काव्य स्वीकार किया जाता है। वेद, उपनिषद, गीता और भागवत से चली हुई परम्परा का प्रसार आगे वढा और हिन्दी के आविर्भाव काल मे सन्त-समाज ने मायाजनित अवसादात्मक जगत से मुक्ति दिलाने के लिए अध्यात्मपरक साहित्य की रचना की। सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य, विद्यापति पदावली, कवीर, रैदास, दादू आदि का सन्त-साहित्य, कुतुवन, मझन और मलिक मुहम्मद जायसी आदि का प्रेमाख्यान-काव्य, सूर, मीरा आदि का कृष्ण-काव्य और गोस्वामी तुलसीदास प्रणीत रामकाव्य के रूपमे काव्य और अध्यात्म की गगा-जमुनी शत-शत धाराओ मे वहती रही। वेद उपनिषद, गीता और भागवत मे अध्यात्म का अंश इतना अधिक था कि उन्हे काव्य न कहकर धार्मिक-साहित्य कहा गया। हिन्दी भाषा के धर्म-परक साहित्य मे क्रमश काव्य-पक्ष का योग वढता गया और धर्म और काव्य एकरूप हो गये। साहित्य की दृष्टि से धर्म और अध्यात्म के तत्व उतने मूल्यवान नही हैं, जितने काव्य के। इसीलिए जहाँ काव्य धर्म और अध्यात्म का सुधारात्मक या शुद्ध साम्प्रदायिक मच वन जाता है, वहाँ उसे विशेष महत्व नही दिया जाता। किन्तु जहा काव्य के रस-प्रवाह मे धर्म और अध्यात्म की अन्त -सलिला वहती है, वहा विचार-धारा के उदात्तीकरण से काव्य-भागीरथी विशेष समुज्ज्वल हो उठती है।

हिन्दी मे अध्यात्मपरक साहित्य मे सिद्धो, नाथो और जैनियो का साहित्य सर्वप्रथ आता है। यह साहित्य काव्य-रस का विशेष समन्वय न कर सका। इसलिए प० रामचद्र शुक्ल जैसे विचारक उसे साहित्य की परिधि मे ही लेने को प्रस्तुत नही थे। साहित्य मे परिगणित होकर भी उसका मूल्य केवल ऐतिहासिक हो सकता है, साहित्यिक नही।

इसके उपरान्त विद्यापति पदावली प्राप्त होती है। पदावली मे जयदेव के गीत-गोविन्द का निम्न दृष्टिकोण परिलक्षित होता है—

"यदि हरिस्मरणं सरसं मनो
यदि विलास कलासु कुतूहलं।
ललित कोमल कांत पदार्वाल
शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्" ॥

जयदेव की शर्त थी कि यदि हरि-स्मरण सरस मन के साथ करना हो और यदि विलास-कलाओ मे कौतूहल हो तभी उसके गीत गोविन्द का श्रवण किया जाय। जयदेव से पूर्व भगवान को स्मरण करने की रीति विराग से ही थी। वेद, उपनिषद, गीता और पुराण आदि धर्मग्रन्थ रघुवश, कुमारसम्भव, अमरुकशतक, गाथासप्तशती आदि रसात्मक साहित्य से भिन्न माने जाते थे। भर्तृहरि जैसे लोग वैराग्यशतक को शृगार-शतक से सर्वथा भिन्न प्रस्तुत करते थे। जयदेव ने एक नई परम्परा का सूत्रपात किया, जिसमे हरिस्मरण और सरस मन तथा विलास-कला के कौतूहल का समन्वय हुआ। इतना स्पष्ट करने पर भी लोगो की दृष्टि मे परिवर्तन नही हुआ और कुछ लोग गीत गोविन्द को शृगारपरक काव्य की परिधि से आगे बढाने को प्रस्तुत न हुए। विद्यापति ने जयदेव की भाति उपर्युक्त घोषणा भी न की, इसलिए अधिकाश आलोचक विद्यापति पदावली को शुद्ध-शृगार-काव्य ही मानते हैं। एकदम तटस्थ दृष्टिकोण से देखा जाय तो विद्यापति के शब्दो मे हरि-स्मरण का तत्व विद्यमान होते हुए भी विलास-कला कुतुहल की रेल-पेल मे दब गया है। राधा-कृष्ण का अदृश्य-रूप उसमे विद्यमान तो है किन्तु उसके लिए निष्णात् भक्ति-भावना की दिव्य, दृष्टि अपेक्षित है। उसकी तुलना जब हम सूर-साहित्य से करते है तो बात अधिक स्पष्ट होती है। सूर-साहित्य के अध्ययन मे 'हरि स्मरण' और 'सरस मन' का एकीकरण मिलता है। सूर-साहित्य मे विलास-कला का कुतूहल भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। सयोग लीला के अनाविल चित्र उसमे भरे पडे हैं किन्तु सर्वत्र सूरदास भक्ति और अध्यात्म का गाढा रग उस पर चढा देते है जिससे विलास और शृगार की दुर्गन्ध उसमे से निकल जाती है और भक्ति की भीनी-भीनी सुगन्धि अनायास सुलभ होती रहती है।

अनेक बार प्रश्न उठता है कि शृगार और विलास का समान रूप से वर्णन करते हुए सूर-काव्य मे भक्ति और विद्यापति पदावली मे शृगार कैसे देखा जा सकता है? सूरदास के खडिता-प्रकरण, सुरति-वर्णन, निकुञ्ज-विहार जैसे स्थल विद्यापति के वर्णनो से कम अश्लील नही कहे जा सकते। यह तर्क ठीक है, किन्तु सूरदास जी ने इन प्रकरणो से अश्लीलत्व निकालने के लिए दो उपाय किए है। एक यह कि प्राय लील-गान के प्रारम्भ या

ए च मे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से प्रकट करके राधा और कृष्ण के अलौकिक आलम्बन प ा निर्देश कर देते हैं। जैसे खडिता प्रकरण मे—

राधिका गेह हरि-देह वासी। और तिय घरनि घर तनु प्रकासी।
ब्रह्म पूरन द्वितीय नही कोऊ। राधिका सबै हरि सबै ओऊ॥
दीप सौं दीप जैसै उजारी। तैसै ही ब्रह्म घर घर बिहारी॥[1]

दूसरे विलास सम्बन्धी पद की अन्तिम पक्ति में राधा-कृष्ण के ईश्वरत्व और उनकी लीला के अलौकिक आनन्द का सकेत अवश्य होता है जैसे—

राजत दोउ निकुंज खरे।
स्यामा नव किशोर, पिय नव रंग, अति अनुराग भरे॥

+ + +

जुगलकिशोर चरन-रज बंदौ, सूरज सरन ससाहिं।
गावत सुनत स्रवन सुखकारी, बिस्व दुरित दुरि जाहिं॥[2]

इस प्रकार सूरसागर मे विलास एव शृंगार वर्णन के अधिकाधिक विवरण प्रभु की अलौकिक लीला के अंग बनकर रह जाते है और लौकिक विषय की गन्ध दूर हो जाती है। विद्यापति की पदावली मे राधा और कृष्ण के नाम मात्र के सिवा और कोई कथन नही होता, इसलिए उसमे लौकिक शृंगार और उद्दाम वासना की ही प्रतीति होती रहती है।

सूरदास का भ्रमरगीत भी कोरा विरह-काव्य नही है। उद्धव-सवाद, जिसमे वे कृष्ण के ईश्वरत्व का निरूपण करते है धर्म और अध्यात्म की स्थिति उत्पन्न करता है। गोपियाँ यद्यपि लौकिक प्रेम का विशेष आधार लेती है फिर भी उनकी प्रणयासक्ति मे भक्ति के तत्व मिलते जाते है। कम-से-कम प्रत्येक पद की अन्तिम पक्ति मे सूरदास की निजी भक्ति-भावना इस प्रकार प्रतिबिम्बित होती है कि विरह काव्य का धरातल अलौकिक आभा से उज्ज्वल हो उठता है। भ्रमरगीत मे ज्ञान और भक्ति, निर्गुण और सगुण ब्रह्म सम्बन्धी तर्क उसे भक्ति-काव्य के रूप मे प्रतिष्ठित करते है। साथ ही उसकी विशेषता यह भी है कि काव्यत्व की प्रधानता अधिक रहती है। ज्ञान और भक्ति सम्बन्धी विचार उद्धव-कथित दो चार पदो को छोड कर कही भी उभरने नही पाते। गोपियो की विरह दशाओ मार्मिक वेदना और आसक्तिमूलक भावना ही समग्र भ्रमरगीत से प्रसारित होती है। विचारो के स्थान पर भावो का ही बोलबाला होता है। अध्यात्म-पक्ष केवल औज्ज्वल्य भरता है। न तो उसमे नन्ददास के भ्रमरगीत की भाँति दार्शनिक तर्क-वितर्क की प्रचुरता होती है और न रीति-कालीन भ्रमरगीतो की भाति उसमे लौकिक विरह का चित्रण होता है। उसमे भक्ति-भावना और काव्य-रसात्मकता का ऐसा सगम होता है कि श्रेष्ठ विरह-काव्य होते हुए भी उसे भक्ति-काव्य की परिसीमा मे सम्मानित स्थान प्राप्त हो जाता है।

१. सूरसागर, पद ३११३
२. ,, ,, ३०९०

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस मे भी काव्य और अध्यात्म की गगा-ज मिलती है किन्तु काव्य के समस्त तत्वो का सर्वांग निरूपण होते हुए भी मानस मे अध्य की प्रमुखता है। इसीलिए वह ग्रन्थ धार्मिक ग्रन्थ के रूप मे अधिक प्रतिष्ठित है। भ्र गीत में प्राप्त भक्ति और ज्ञान के विवाद का प्रकरण वहाँ भी है। अरण्यकाड और उत्त काड मे इस विषय पर विशद व्याख्या मिलती है। प्रश्नोत्तर, विवाद और शका-समाधान वहाँ होते हैं। निर्गुण-सगुन, ज्ञान और भक्ति के सभी तर्क वहाँ भी मिलते है।[1] गोस्वामी तुलसीदास जी ज्ञान, माया और भक्ति शब्दो के पुल्लिग और स्त्रीलिंग भेद का सहारा लेकर ज्ञान को पुरुष तथा माया और भक्ति को नारी कहते हैं। इस रूपक के द्वारा माया के

---

१. ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जाते होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ ॥१४
थोरेहि मह सब कहउ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई ॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया ॥
गो गोचर जह लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥
एक दुष्ट अतिशय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा ॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताकें ॥
ग्यान मान जह एकउ नाही। देख ब्रह्म समान सब माही ॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥
माया ईस न आपु कहु जान कहिअ सो जीव।
बध मोच्छ मद सर्बपर माया प्रेरक सीव ॥१५
धर्म तें बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ॥
जातें बेगि द्रवउ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ॥
सो सुतन्त्र अवलब न आना। तेहि अधीन ग्यान बियाना ॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो सत होईं अनुकूला ॥
भगति कि साधन कहउ बखानी। सुगम पथ मोहि पावहि प्रानी ॥
प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती ॥
एहि कर फल पुनि विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा ॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं ॥
सत चरन पकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ नेमा ॥
गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा। सब मोहि कह जानै दृढ सेवा ॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥
काम आदि मद दभ न जाकें। तात निरन्तर बस मैं ताकें ॥
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहि नि काम।
तिनके हृदय कमल महु करउ सदा बिश्राम। (अरण्य काण्ड)

ह मे पड जाने से ज्ञान का पतन और भक्ति का निरापद होना प्रस्तुत करते है ।[1] साथ
ान मार्ग को अत्यन्त कठिन और भक्ति मार्ग को अत्यन्त सरल बताते है ।[2] इस तर्क के
च मे अपना वे भक्ति मार्ग को ज्ञान की अपेक्षा सरल बताते है । इसी आशय को सूरदास जी निम्न
ा निर्देश वतयो मे प्रस्तुत करते है—

काहे को रोकत मारग सूधौ।
सुनहु मधुप निरगुन कंटक तै राजपंथ क्यौं रूँधौ।

---

१. भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा । उभय हरहि भव सभव खेदा ॥
नाथ मुनीस कहहि कछु अन्तर । सावधान सोउ सुनु विहगवर ॥
ग्यान विराग जोग विग्याना । ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना ॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाती । अबला अबल सहज जड जाती ॥
पुरुष त्यागि सक नारिहि जो विरक्त मति धीर ।
न तु कामी विषयावस विमुख जो पद रघुवीर ॥ ११५ क
सोउ मुनि ग्यान निधान मृगनयनी विधु मुख निरखि ,
विवस होइ हरिजान, नारी विष्नु माया प्रगट ॥ ११५ ख
इहा न पच्छपात कछु राखउ । वेद पुरान सत मत भाषउ ॥
मोह न नारि नारि के रूपा । पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥
माया भगति सुनहु तुम दोऊ । नारि वर्ग जानइ सब कोऊ ॥
पुनि रघुवीरहि भगति पिआरी । माया खलु नर्तकी विचारी ॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया ॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी । वसइ जासु उर सदा अबाधी ॥
तेहि विलोकि माया सकुचाई । करि न सकइ कछु निज प्रभुताई ॥
अस विचारि जे मुनि विग्यानी । जाचहि भगति सकल सुख खानी ॥

२. कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक ।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक ॥ उ० का० ११८ ख
ग्यान क पथ कृपान कै धारा । परत खगेस होइ नहि वारा ॥
जो निर्विघ्न पथ निर्वहई । सो कैवल्य परम पद लहई ॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद । सत पुरान निगम आगम वद ॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाई । अन इच्छित आवइ वरिआई ॥
जिमि थल विनु जल रहि न सकाई । कोटि भाति कोउ करै उपाई ॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई रहि न सकइ हरि भगति विहाई ॥
अस विचारि हरि भगत सयाने । मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥
भगति करत विनु जतन प्रयासा । ससृति मूल अविद्या नासा ॥
भोजन करिअ तृपिति हित लागी । जिमि सो असन पचवै जठरागी ॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई । को अस मूढ न जाहि सोहाई ॥
सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पकज अस सिद्धात विचारि ॥ ११९ क ॥ उ० का०

गोस्वामी तुलसीदास जी के मानस के उपर्युक्त प्रकरण शुद्ध ज्ञान के प्रकरण '१ माया का नारी रूपक मात्र ही उसमे काव्यात्मक है। सारा सिद्धान्त-निरूपण गूढ " दार्शनिक है। सुस्पष्ट होते हुए भी विशद व्याख्या के बिना इसका बोध नही होता। दार्शनिक तथ्यो से बोझिल होने के कारण भावात्मकता का स्पर्श भी इसमे नही है। किन्तु ज्ञान मार्ग पर भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा की जो उपलब्धियाँ मानस मे इस प्रकार प्रस्तुत की गई है, वही सूर-भ्रमरगीत मे उद्धव-गोपी-सवाद के माध्यम से बडे रसात्मक रूप मे प्रस्तुत है। ऐसा नाटकीय विधान उसमे है कि उद्धव जैसा पहुँचा हुआ परम ज्ञानी अपने ज्ञान की गठरी गोपियो के चरणो पर रख कर भक्त बन कर वापस आता है। गोपियो के विरह-निवेदन और उपालम्भो के भावात्मक क्रम मे ज्ञान पर भक्ति की प्रतिष्ठा हो जाती है और पाठक को इसका भान भी नही होता कि वह ज्ञानयोग और भक्ति योग के तथ्यो को सुन भी रहा था।

सन्तो और सूफियो के भक्ति-काव्य के साथ सूर के भक्ति-काव्य की तुलना नही की जा सकती। कबीर, दादू, रैदास आदि ने शुद्ध उपदेशात्मक काव्य की रचना की है। सीधे मत-प्रचार के रूप मे कहे हुए इन सन्तो की रचनाओ मे काव्य-पक्ष बहुत सकुचित है। मलिक मुहम्मद जायसी आदि सूफी कवियो ने आध्यात्मिक तत्व केवल प्रतीको के सहारे प्रस्तुत किया है। उनकी पद्धति ही और है, उसमे भक्ति का वह स्वरूप नही है। प्रेम-कहानियो मे भक्ति-तत्व इतने ओझल है कि खोजे नही मिलते।

समस्त भक्ति-साहित्य के उपर्युक्त सर्वेक्षण के उपरान्त सूर-भ्रमर गीत मे प्राप्त भक्ति काव्य का मूल्याकन अपने आप ही उद्घाटित हो जाता है। 'न भूतो न भविष्यति' कहना कदाचित् अक्षरश सत्य होगा।

विशुद्ध-काव्य

सूर-साहित्य के चुने हुए रसात्मक अश को देख कर यह कहने को जी चाहता है कि सूरदास जी भक्ति-दर्शन या धर्म को प्रमुखता नही देते थे, वे तो युगान्तरकारी कवि, काव्य-शास्त्र निष्णात विदग्ध कलाकार और नवनवोन्मेषिणी प्रतिभा से युक्त रससिद्ध कवीश्वर थे। भक्त, कीर्तनकार या साधक सयोगवश हो गये थे, उनका वास्तविक व्यक्तित्व कवि रूप का था। वे कवि अधिक थे, भक्त या साधक कम। इस दृष्टि से उनके कृष्ण-बाल-सौन्दर्य-वर्णन, माखन-चोरी, राधा-कृष्ण-अनुराग, नख-शिख-वर्णन, दानलीला, मानलीला और भ्रमर-गीत विशेष द्रष्टव्य है। इन प्रकरणो मे वात्सल्य और शृगार रस, नायिका भेद, नखशिख, अलकार तथा ध्वनि या उक्ति-वैचित्र्य का ऐसा सूक्ष्म एव गहन सौन्दर्य मिलता है कि उन्हे हिन्दी रीतिकाव्य का प्रेरक माना जाना चाहिए। परवर्ती कवि बिहारी, मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर आदि ने 'राधा कन्हाई के सुमिरन के बहाने' के रूप मे जो काव्य-दृष्टि प्रस्तुत की, उसके प्रथम दर्शन सूरदास मे ही मिल जाते है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से जब हम हिन्दी साहित्य के पूर्वापर साहित्य पर विहगम दृष्टि डालते है तो सूरदास से पूर्व विद्यापति ही ऐसे कवि आते है, जिनकी तुलना इनके साथ की जाती

विद्यापति जी सौन्दर्य-चित्रण, नखशिख और सयोग-शृगार के अप्रतिम कलाकार हैं। च मे, भाव, अनुभाव एव सचारी भावो के रूप मे शृ गार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियो के नियोजन, अलकारो के सुगुम्फन और कोमलकान्त पदावली के स्वरसंगम मे विद्यापति अद्वितीय हं. किन्तु उनकी परिधि सूरदास की अपेक्षा सीमित है। विद्यापति पदावली मे वात्सल्य, सख्य और माधुर्य के वैसे मनोरम अवसर नही मिलते है, वाग्वैचित्र्य मूलक भ्रमर-गीत की विरह-व्यजना का वहा सर्वथा अभाव है। विद्यापति सयोग-शृगार के कवि है, उनका विरह पूर्वराग मान और प्रवास की विविध अवस्थाओ तथा परकीया की विपम परिस्थितियो तक ही सीमित रहता है। विरह-सागर की तह तक वे नही पहुँचते। भ्रमरगीत के उपालम्भ-काव्य का अप्रतिम सौन्दर्य वहाँ कहा मिलेगा ? विरह की भावप्रेरित वक्रोक्तियो और विरहानुभूति के करुण क्रन्दन के मनोरम दृश्य वहाँ कैसे मिल सकते है ? विद्यापति जैसा कलात्मक सयोग-चित्रण सूर साहित्य मे मिल जाता है, किन्तु सूर-भ्रमरगीत के विरह-काव्य को वहा अवकाश ही नही है। भ्रमरगीत का मूल्य सर्वविदित है। अत. केवल शृ गार रस की दृष्टि से भी देखे तो भी विद्यापति का काव्य सूर की समता मे पीछे ही रहेगा।

गोस्वामी तुलसीदास सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। रामचरित मानस महाकाव्य, विनय पत्रिका, गीतावली और कृष्ण गीतावली गीति-काव्य, जानकी मगल और पार्वती-मगल खंडकाव्य, कवितावली, वरवै रामायण, दोहावली, मुक्तक काव्य और रामलला नहछू लोकगीत रूप मे विशाल काव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत नाना भाव-विचार-समन्वित रसो, अलकारो और व्यंजनाओ का कला-नैपुण्य महामहिम है। रचना-परिमाण मे सूर-साहित्य कदाचित् तुलमी-साहित्य से अविक ही हो, किन्तु सूर की दृष्टि सीमित है। सूर साहित्य केवल गीति-काव्य है, जिसमे गिने-चुने प्रकरणो पर वहुसख्या मे पदो की रचना हुई है। परिणाम यह हुआ है कि सूर-साहित्य अगणित भावोर्मियो का ऐसा सागर है जिसमे सीमित विपय-परिधि मे अथाह गहराई है। जिस विपय को सूरदास ने स्पर्श किया है उसे इतिश्री पर पहुँचा दिया है। सूर साहित्य मे 'नाना पुराण निगमागम' का मार, सामाजिक जीवन और आदर्शों पर व्यापक दृष्टि, धर्म-दर्शन, नीति के सिद्धान्त और अनेक भापा-छन्द-अलंकारो का अजायत्र घर नही मिलता है। उसमें कवि का शुद्ध काव्य मिलता है, जिसमे भावो की धारा लहराती हे। शुद्ध काव्य-दृष्टि से यदि सूर-साहित्य तथा तुलसी-साहित्य की मूल्यवान पक्तिया सगृहीत की जाय तो दोनो का परिणाम कदाचित् समान ही ठहरेगा। प्रवन्ध मे वँध कर स्यान-स्यान पर प्रस्तुत विभिन्न रस शास्त्रोक्त विधि-विधान को उपस्थित कर देते है, किन्तु कही भी एक रस का भी सर्वांग निरूपण नहीं मिलता। वात्सल्य-चित्रण तुलसी-काव्य मे इतना अधूरा है कि उसे रस कहना ही कदाचित् कठिन है। शृंगार मे सयोग पक्ष अधूरा हे, क्योकि नायिका सीता के प्रति मातृत्व-भाव रखने वाले मर्यादावादी तुलसीदास चरम सीमा पर कभी पहुँच नही पाये। वियोग-पक्ष का सकेतात्मक निर्देश मात्र ही उन्होंने किया है। १० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार वे तो लोक-मंगल की साधनावस्या के कवि थे। सिद्धावस्था का उपभोग-पक्ष उनका विपय नही था। सीता विवाह के पूर्व पक्ष धनुप-यज्ञ और परशुराम-सवाद का तो उन्होंने वडे मनोयोग के साथ विस्तृत

निरूपण किया किन्तु उपभोग पक्ष को केवल एक पक्ति मे ही समाप्त कर दिया—

जब तै राम ब्याहि घर आये ।
नित नव मंगल मोद बधाये ॥

मगन्न की सिद्धावस्था के प्रति इस प्रकार उपेक्षा रखने वाला कवि शृ गार रस के साथ भला न्याय कैसे कर सकता था ? इसलिए अशोक-वाटिका मे एकाकी बैठी हुई वदिनी सीता का विरह-वर्णन कवि को अभिप्रेत न हो सका । यह भी कहा जा सकता है कि रामचरित मानस जैसे महाकाव्य मे व्यक्तिपरक विरह-वर्णन अनुपयुक्त होता, किन्तु गीतावली, कवितावली जैसे ग्रन्थो में भी यह प्रकरण आख से ओझल हो गया । तुलसी साहित्य मे से कोई एक प्रकरण, ग्रन्थ-भाग या लघुग्रन्थ ऐसा नही है, जो सूरदास जी के भ्रमरगीत से तुलनीय है । रसमूलक भाव प्रधान विचार धारा की जो सिद्धि भ्रमरगीत मे प्राप्त है उस ओर गोस्वामी तुलसीदास जी का ध्यान ही न गया था ।

बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर आदि कवियो मे प्राप्त उन्मुक्त शृ गार-निरूपण, नायिका-भेद, नखशिख और अलकारिक शैली आदि पर सूर-साहित्य की प्रेरणा मानी जा सकती है । साथ ही राम-भक्ति के रसिक सम्प्रदाय वाले कवियो ने सूर का सर्वांग अनुसरण किया और तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम सूर के लीलाधाम कृष्ण की भाति शृ गारिक लीलाओ मे अष्टयाम मनाने लगे । सूर के पदो मे जिस नखशिख नायिका भेद तथा सयोग और वियोग शृ गार का विस्तृत और खुला चित्रण हुआ था वही परवर्ती काव्य का आदर्श बन गया । राधा-कृष्ण के आरोप के साथ नायक-नायिकाओ का चित्रण हुआ । बिहारी, देव, मतिराम आदि की वर्ण-योजना, अलकार-योजना और चित्राकन मे सूर की शव्दावलिया और भावो का प्रभाव परिलक्षित होता है ।[1] फिर भी रीति काव्यकारो का विरह-निरूपण भ्रमरगीत के विरह-वर्णन के विस्तार और गहराई को पा नही सकता । सूर का विप्रलम्भ शृ गार ऊहाओ की सीमा में पहुँच कर भी उपहासास्पद नही होता । अलकार प्रकरण मे पीछे स्पष्ट किया गया है कि सूरदास की अलकार-योजना रसानुभूति को ही बढ़ाने वाली है, रीतिकालीन काव्य मे अलकार प्रमुख है रस व्यजना गौण हैं । साराश यह कि भक्ति-भावना को भूल कर यदि शुद्ध काव्य दृष्टि से भी देखें तो भी सूर-भ्रमरगीत रस-व्यजना और ध्वनि की प्रधानता के कारण परवर्ती रीति काव्य से कही बढ-चढ कर सिद्ध होगा ।

गीति-काव्य

पडित रामचन्द्र शुक्ल के शव्दो मे "जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा जो काल की कठोरता मे दब गई थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता मे परिणत होकर मिथिला की अमराइयो मे विद्यापति के कोकिल कठ से प्रकट हुई और आगे चल कर व्रज के करील-कु जो के बीच फैल मुरझाए मनो को सीचने लगी । आचार्यो की छाप लगी हुई आठ वीणाए श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने उठी, जिनमे सबसे ऊ ची, सुरीली और मधुर झनकार अ धे कवि सूरदास की वीणा की थी ।" सूरदास जी ने पूर्व प्रचलित गीति-

१. देखिए सूर की काव्यकला, द्वितीo सo पृo ३४१ से ३५७

र धारा को निजी योगदान से विशेष प्रतिष्ठा दी। रागरागिनी समन्वित सगीत का च मे, कृष्ण लीला की मनोहर गाथा, लोक-गीत की सहज विह्वला मर्मस्पर्शिता और काव्य-ा निस्त्रीय वर्ण-सगीत एव रसावयव तथा अलकार-वैभव देकर उसके भव्य-भवन का नव-नर्माण किया। गीतिकाव्य सम्बन्धी उनके कृतित्व का मूल्याकन करने के लिए हिन्दी गीति-काव्य के पूर्वापर साहित्य पर विहगम दृष्टि अपेक्षित है।

एक सयोग की वात है कि हिन्दी का प्राचीनतम साहित्य जो सन्तो की वचनावली मे आविर्भूत हुआ, गीतो के माध्यम से ही प्रकाशित हुआ। सरहपा आदि बौद्धसिद्ध-गोरखनाथ आदि नायपथी साधु और शालिभद्र सूरि आदि जैन साधुओ ने गीतो मे अपने उपदेश प्रस्तुत किये। हिन्दी मे सर्वप्रथम प्राप्त जैन साधुओ के नत्य-गीतपरक रासे। काव्य मे उपदेश प्रस्तुत किये गये है। गीतो के रूप मे लिखे हुए इस साहित्य मे न तो भावात्मकता को प्रश्रय मिला है और न माधुरी को। इनमे गीत तत्व नाममात्र को है। वौद्धो और नाथो की वाणिया सन्तवानी की परम्परा मे आगे बढ़ी। वौद्धो की सान्ध्य भापा मे अपभ्र श रूप अधिक था। विचार प्रधान जटिल पहेलियो के इन्द्रजाल युक्त रहस्यात्मक पद गीति की सहज भावात्मकता के विपरीत है। नाथो की वानी उनकी अपेक्षा अधिक गीतात्मक है। उसका बाह्यरूप वहुत कुछ वैसा ही है, जैसा आगे चल कर हिन्दी कवियो ने प्रस्तुत किया। पद की टेक तथा अन्य लय-तुक प्रधान समान पक्तियाँ हिन्दी पद-रचना के अनुरूप है। किन्तु नाथो की वानियो मे भी ज्ञानोपदेश ही रखा गया है। गोरखवानी का ही रूपान्तर कवीर के पदो मे देखा जाता है। इस परम्परा के पद-साहित्य मे रहस्यात्मक अनुभूति, उलटवासियो के जटिल रूपक और विराग प्रधान विचार-धारा है। उसी के अनुरूप सस्कार विहीन नीरस असाहित्यिक अभिव्यजना है। स्पष्ट है यह परम्परा रसप्रधान गीतिकाव्य के लिए निष्प्राण थी।

सूरदास से पूर्व एक दूसरी परम्परा भी थी, जिसका सूत्रपात जयदेव के गीत-गोविन्द और विकास विद्यापति पदावली द्वारा हुआ था। विद्यापति ने लोकभाषा और लोकगीतो को विशेप महत्व दिया। उनके पद इसीलिए मिथिला के लोकगीतो के परिष्कृत रूप मे प्रतिष्ठित होकर जन-जीवन के कण्ठहार वन गये। विद्यापति के गीतो के अधिक प्रचार का कारण यही था कि उन्होने लोक धुनो की स्वाभाविकता की रक्षा की। यद्यपि उनकी पदावली मे भी राग-रागिनियो का उल्लेख मिल रहा है फिर भी ऐसा लगता हे कि उन्होने शास्त्रीय राग-पद्धति के स्वर-वैभव का उपयोग नही किया। कदाचित् विद्यापति शास्त्रीय सगीत-गायक न थे। उनके वारहमासा शुद्ध लोक धुनोमे रचे गये हे। तुकान्तता की भी अपेक्षा नही हे। अधिकाश पदो की रूप-रचना सतो की पद-रचना से मिलती है। जैसा ऊपर लिखा गया है विद्यापति ने पहले से आती हुई पद रचना की स्वरविहीनता मे लोकधुनो का माधुर्य और तारल्य भर दिया। साथ ही ज्ञानोपदेश की नीरस विपयवस्तु के स्थान पर राधा-कृष्ण के प्रणय-व्यापार को प्रस्तुत किया। शृ गार रसमयी हाव-भाव प्रधान भावुकता ने गीतो का कायाकल्प ही कर दिया। उनके साथ ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति का रगीन चोला भी पहनाया गया। अलंकारो ने सजी-सजाई कोमलकान्त पदावली ने प्रणय की रसात्मक भाव-भूमि रूपी स्वर्ण मे सुगन्धि उत्पन्न कर दी।

इतना सब कर देने के उपरान्त भी विद्यापति पदावली मे शुद्ध गीतिकाव्य के आत्माभिव्यजन का न्यून भाव ही मिलता है। यह नही कहा जा सकता कि विद पदावली के माध्यम से अपना कौन-सा निजी भाव प्रस्तुत कर रहे थे। प्रत्यक्ष कथ, अभाव मे अपने-अपने मतानुसार कुछ लोग उन्हे भक्त मान लेते है और कहते है कि उन्हों सरस रीति से राधा-कृष्ण के चरणो मे अपना आत्म-निवेदन प्रस्तुत किया है, किन्तु कुछ लोग मानते है कि वे तो शुद्ध सासारिक प्रणय को राधा-कृष्ण की ओट मे ठीक उसी प्रकार व्यक्त करते रहे है जैसा कि कालान्तर मे रीतिकालीन कवियो ने किया। सारी पदावली मे आत्मा-भिव्यजन के स्थान पर राधा-कृष्ण या नायक-नायिका के विभिन्न प्रणय व्यापारो का चित्रण हे। प्रार्थना और नचारी के थोडे से ही ऐसे पद है जिनमे कवि का निजी निवेदन प्रत्यक्ष रूप मे प्राप्त होता है। साराश यह कि हिन्दी गीतिकाव्य-मदिर के भव्य भवन का निर्माण विद्यापति ने किया, फिर भी अभी प्राण-प्रतिष्ठा शेष ही थी।

प्रत्यक्ष आत्माभिव्यजन गीतिकाव्य का प्राण है। कवि आपबीती के रूप अपने ही अन्तस्तल के दुख-सुखो का सहज प्रकाशन करने के लिए विवश होता है, आश्रयदाता आराध्य या जगत की व्यथा-कथा को छोड कर अपने मे ही सीमित होता है। इस प्रकार की विषय वस्तु का अभिव्यक्तीकरण गीतो के अतिरिक्त और किसी विधा मे हो भी नही सकता। सन्तो के यदा-कदा अपने आराध्य के समक्ष अपनी निजी अनुभूति प्रत्यक्ष रूप मे प्रस्तुत की थी। मीरा बाई की सम्पूर्ण पदावली आत्म-निवेदन के रूप मे ही रची गई है। समस्त जगत् के सारे सम्बन्धो को छोड कर मीरा अपने गिरिधर नागर पर दीवानी थी। अपने पदो मे उन्होंने अपने सहज हृदयोद्गारो को प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत किया है। गीतिकाव्य के प्राण की दृष्टि से, मीराबाई की पदावली पर्वश्रेष्ठ है। उन्होने जगत क्या, अपने आराध्य कृष्ण की गाथा से भी सम्बन्ध नही रखा। स्मृति, उल्लास और विरह-निवेदन के रूप मे अपने ही हृदयगत भावो का विवरण वे कृष्ण के समक्ष देती रही हैं। मीरा गायिका भी थी। सगीत की शास्त्र-विहित स्वर-लहरी मे उनके गीत खरे उतरे। फिर भी जब हम मीरा बाई की पदावलीका साहित्यिक मूल्याकन करते है तो पता चलता है कि उसमे काव्यात्मक कृतित्व का सर्वथा अभाव है। मीरा ने कवयित्री बनने का स्वप्न मे भी विचार नही किया था और उनका सम्पर्क भी काव्य-कला-मर्मज्ञो से न था। समस्त जगत् से नाता तोडने वाली मीरा का काव्य-साधना से क्या सम्बन्ध ? अलकार, ध्वनि और वक्रोक्ति उनकी रुचि के ठीक विपरीत थे। वे तो अपने कृष्ण के सम्मुख स्वभावोक्ति ही प्रस्तुत करती थी, भले ही कोई उसे अकाव्य कह कर पुकारे। इसमे कोई सन्देह नही कि मीरा की पदावली मे काव्य का रागात्मक तत्व चरम सीमा का है, फिर भी मूल्याकन के समय काव्य के कलापक्ष को एकदम भुलाया भी नही जा सकता।

सूरदास जी ने आत्म-निवेदन के रूप मे गेय पदो की रचना की। इन पदो में प्रभु के लीलावतारो का निरूपण हुआ है। सामान्यतया लीलावतारो की कथाओ का वर्णन उसमे हुआ है। पदो का बाह्याकार शुद्ध गीतात्मक है, फिर भी उसमे मीरा पदावली की

शुद्ध आत्म निरूपण नही हुआ है। प्रभु की लीलाओ का विस्तृत वर्णन होने से वह च मे,त्मक है। कथा के रूप मे भले ही वह आराध्य का वर्णन हो, वह गीति काव्य के अनुरूप ा नि माना जा सकता। किन्तु सूरदास जी के पदो की एक विशेपता यह है कि अधिकाश ,दो की अन्तिम पक्ति मे सूरदास जी पद मे वर्णित-वस्तु की पृष्ठ भूमि मे आत्म-निवेदन भी प्रस्तुत कर देते है। इस प्रकार कवि की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति भी पद मे आशिक रूप से हो जाती है। पदो मे कृष्ण-कथा का गान करते हुए भी परोक्ष रीति से वे प्रभु के सम्वन्ध मे आत्मभाव व्यक्त करते जाते है। सारी कथा वर्णनात्मक है। इस वर्णन मे कथा का विवरण कम किन्तु उसमे प्राप्त कृष्ण का रूप-सौन्दर्य तथा उनके प्रति प्रस्तुत आसक्ति का ही वर्णन होता है। प्रत्येक पद कथा का अ श होते हुए भी सर्वथा स्वतन्त्र होता है और अपने अर्थ-व्यक्तीकरण के लिए पूर्वापर पदो की अपेक्षा नही रखता। कथा-विवरण मे सूरदास पात्रो के माध्यम से भक्त-हृदय का भाव प्रस्तुत करते जाते है। इस प्रकार विनय पदो मे प्रत्यक्ष रूप से और लीला पदो मे पात्रों के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से आत्माभिव्यजन उपस्थित करना ही सूर-काव्य का मुख्य उद्द श्य है।

सूरदास जी सगीत मे पारगत थे, इसीलिए इनकी पद-योजना मे राग-रागिणी का शास्त्र-सम्मत वैभव विद्यमान है। सूरदास से पूर्व जितनी पद-रचना मिलती है, उसमे गेयत्व का वह वैभव नही मिलता। सूरदास के काल मे सगीत शास्त्र की चरम उन्नति दरवारी और सन्त-समाजो मे हो गई थी। सूरदास जी के पदो मे प्राप्त राग-रागिनियो की बडी सख्या, और कालक्रम की अनुरूपता तथा स्वर और भावो की एक रूपता को देखकर सिद्ध होता है कि सूरदास जी ने अपने सगीत-ज्ञान के योग से हिन्दी पद-रचना के गेयत्व मे विशेप परिमार्जन और परिवर्धन कर दिया था। उन्होने विविध हिन्दी छन्दो—चौपाई, दोहा, रोला, गीतिका, सार, लावनी कवित्त आदि पर स्वर योजना की ऐसी रगत ढाली कि छदोविधान अधिक सरस हो गया। सूर के गीत इसीलिए विद्यापति और मीरावाई के गीतो की अपेक्षा कही अधिक गेय और कलात्मक है।

सूरदास जी के गीतो की तीसरी विशेपता यह है कि उसमे काव्य-सौन्दर्य भरपूर है। [illegible]ध्वनि और अलकार-योजना के कारण सूर के गीत वैभव-सम्पन्न ह। उसमे मीरा के [illegible]ो की भाति न तो अल्हड ग्राम-युवती का मादापन है और न विद्यापति के गीतो की [illegible] आभूपणो से सुसज्जित नागरीत्व। रस और अलकार के समुचित सामजस्य से गीतो क[illegible] कलेवर वडा ही कमनीय वना है।

सूरदास के अन्य प्रकरणो मे गीतिकाव्य विपयक जिन तत्वो का अभाव भी था उसकी पूर्ति भी भ्रमरगीत मे हो जाती है। भ्रमरगीत मे कथात्मक सन्दर्भ अत्यल्प है। उसमे प्रत्यक्ष आत्म निवेदन ही प्रमुख है। यह आत्मनिवेदन विरहानुभूति सम्वन्धी है जो गीतिकाव्य के लिए सवसे अधिक अनुकूल है। इसलिए, जैसा कि पीछे गीतिकाव्य प्रकरण मे विस्तार से कहा गया है, सूर-भ्रमरगीत गीतिकाव्य की कसौटी पर खरा उतरता है। इससे पूर्व के हिन्दी-गीति काव्य मे सगीत और काव्य का ऐसा सुन्दर समन्वय नहीं हो पाया था।

सूरदास के उपरान्त अष्टछाप के अन्य भक्त कवियो तथा अन्य सम्प्रदाय के भक्तो ने गीतिकाव्य की रचना की, किन्तु सूर-भ्रमरगीत की तुलना मे किसी कवि की रच उतनी उत्कृष्ट नही सिद्ध होती। गोस्वामी तुलसीदास ने विनय पत्रिका और गीतावली रचना गेयपद शैली मे की है। गीतावली मे गीतो मे लिखा हुआ प्रबन्ध काव्य है उसके पद पूर्वापर सम्बन्ध से जुडे हैं। कवि की आत्माभिव्यक्ति ग्रन्थ मे न के बराबर है। विनयपत्रिका मे प्रत्यक्षानुभूति तो पूर्णरूपेग है किन्तु उसकी विचार-धारा विरक्ति प्रधान और गूढ दार्शनिक तथ्यों से बोझिल है। इन गीतो मे सगीत का वह स्वरवैभव भी नही मिलता जो सूर के गीतो मे सुलभ है। इस प्रकार सूर भ्रमरगीत भक्ति-गीत माला का सुमेरु है।

भक्तिकाल के उपरान्त रीतिकाल मे स्फुट पद-रचना का जो क्षेत्र मिला उसमे गीति-काव्य-धारा शुष्कप्राय हो गई। आधुनिक काल मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उस धारा मे फिर जलराशि डालनी आरम्भ की किन्तु विकसित होते ही गीतिकाव्य धारा का स्वरूप बदल गया। उसमे अन्तस्तल का ध्वन्यात्मक चित्रण प्रमुख हो गया और गेयत्व की प्राचीन शास्त्र-विहित सगीतात्मकता का सर्वथा बहिष्कार ही हो गया। प्रतीकात्मक शब्दावली, लाक्षणिक प्रयोग और तुक-लय तथा छन्द-बन्धनो से सर्वथा मुक्त गीत नये रूप मे ढल गये। परम्परित स्वर और लय के अभाव मे गीत गद्यात्मता की ओर दिन-पर-दिन बढते जा रहे हैं। नयी कविता के गीत नाममात्र को गीत रह गये है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के गीति-काव्य पर विहगम दृष्टि यही सिद्ध करती है कि सूरदास का भ्रमर गीत ही गीतिकाव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है।

विरह-काव्य

विरह प्रेम की कसौटी है। विरहाग्नि मे तप कर प्रणय-स्वर्ण कान्ति पाता है। विश्व भर के साहित्य मे विरह-काव्य का स्थान अन्यतम है। इसके विविध रूप प्राप्त होते है। सूरदास से पूर्व जिन ग्रन्थों मे विरह-काव्य का श्रेष्ठतम रूप प्राप्त होता है वे है विद्यापति पदावली, मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत और मीरा पदावली। विद्यापति जी ने विरह के अन्तर्गत पूर्वराग और मान-दशाओ का बडा ही विस्तृत और कमनीय वर्णन किया है किन्तु सूर-भ्रमरगीत के मूल्याकन के लिए उसका विवेचन अप्रयोजनीय है। प्रवास-विरह सम्बन्धी विद्यापति के पद भी सख्या मे पर्याप्त है और उत्कृष्टता की दृष्टि से काव्यात्मक और मर्मस्पर्शी है। कृष्ण का मथुरा चला जाना और वहा से वापस न आना इन पदो का वर्ण्य-विषय है।[1] विरह की दशाओ और काम दशाओ का सहृदय सवेद्य चित्रण पदो मे मिलता है। विद्यापति मे विरह-वेदना का केन्द्र बिन्दु सयोग सुख का अभाव और काम-पीडा है। कामिनी प्रिय के बिना शय्या पर सो नही पाती—

---

१. मधुपुर मोहन जेकरे
मोरा विहरत छाती।
गोपी सकल बिसरलनि रे
जत छल अहिवाती॥ (विद्यापति पदावली १६०)

सून सेज हिए सालए रे
पिया बिन घर मोंय आजि।
विनति करओ सहलोलिन रे
मोंहि देहि अगियर साजि ॥[1]

यौवन की अवस्था मे विरह महान कष्टकर है। विद्यापति की दृष्टि मे यौवन की उपयोगिता तभी है जब प्रिय समीप है, इसीलिए उनकी गोपी असह्य काम-पीड़ा का अनुभव करती हुई परम खिन्न और विपन्न है—

जोवन विन तन तन विन जोवन
की जोवन पिय दूरे।
सखि रे मोर बड़ देव विरोधी
मदन बेदन बड़, पिया मोर बोलछड़
अबहु देहे परबोधी ॥[2]

विरहिणी की अभिलाषा यही है कि वह प्रिय के पास जाकर उसका आलिंगन और सगम प्राप्त करे—

मन करे तहां उड़ जाइअ
जहां हारि पाइअ रे।
पेम पारसमनि जानि
आनि उर लाइअ रे ॥
सपनहु संगम पाओल
रंग वढाओल रे।
सो मोरा विहि विघटाओल
नन्दओ हेराएल रे ॥[3]

स्पप्ट है विरहिणी सयोग-सुखो के अभाव मे ही दुखी है। उसको नीद इसलिए नही आती कि उसे मिलन का अवसर नही है। गोपिका ने कृष्ण से प्रेम बचपन की अवस्था मे ही किया था, उसे दुख इसी बात का है कि यौवनावस्था के आगमन पर प्रिय परदेश मे है। अब उसका उद्दाम यौवन तरगें ले रहा है—

आसक लता लगाओल सजनी
नयनन नीर पटाय।
से फल अब तरुनत भले सजनी
आँचर तर न समाय ॥[4]

---

१. विद्यापति पदावली (बेनीपुरी) पद १८६
२. „ „ १६१
३. „ „ १६६
४. „ „ १६५

उसे भय है कि उसके यौवन धन के चले जाने पर कृष्ण नही पूछेंगे—

जोवन रूप अछल दिन चारि।
से देखि आदर कएल मुरारि।।
... ...
धनिक आदर सब तहं होय।
निरधन बाउर पुछय न कोय।।

फिर वह कहती है कि यौवन के चले जाने के बाद यदि प्रिय आ भी गया, तो मैं उसे पाकर क्या करूंगी—

अंकुर तापन ताप जदि जारब
कि करब वारिद मेहे।
इह नव जौवन विरह गयाओब
कि करब स पिया गेहे।।[3]

पदावली के समस्त पद विरह से उत्पन्न काम-वेदना का स्पष्ट चित्रण करते है। विद्यापति की विरहिणी कृष्ण के दर्शन मात्र की भूखी नही है। उसमे वह स्वार्थ रहित प्रणय नही है, जिसमे वासना या भोगेच्छा का लवलेश भी नही होता। उसको पश्चाताप भी है कि वह कृष्ण-प्रेम का फल क्यो न पा सकी? उसने प्रेम तो मुग्धावस्था मे किया, किन्तु पूर्ण यौवन प्राप्त होते ही प्रिय प्रवासी क्यो हो गया? इस प्रकार विद्यापति के विरह मे राजस-भाव की प्रधानता है, उसमे प्रेम की सात्विकता के दर्शन नही होते। सूरदास के भ्रमरगीत मे दशा ठीक विपरीत है। गोपियाँ कृष्ण के दर्शनो की प्यासी है। काम-वेदना का सकेत बहुत कम मिलता है। केवल चन्द्रोपालम्भ मे बडी खीचतान के उपरान्त काम-वेदना की अनुभूति प्राप्त हो सकती है। गोपियो के नेत्रो से निशदिन अश्रुवर्षा होती रहती है। वे तो उनके बिना जी ही नहीं पाती। उन्हे केवल इस बात का पश्चाताप है कि कृष्ण उन्हे भूल कैसे गये? कृष्ण ने उनके साथ कपट किया है। उनको लगता है कि कृष्ण राजा हो गये, अब गो, गोपी, गोपाल उन्हे भूल गये है। सदा उन्ही के ध्यान मे रहती हैं। उनकी पूर्व स्मृतिया उन्हे घेरे रहती हैं। फिर भी वे कृष्ण का तनिक भी अनभल नही चाहती। नहाते हुए उनका एक बाल भी बाँका न हो, ऐसी उन्हे कामना है। अन्त तक वे आशा लगाये रहती है और अन्त मे कुरुक्षेत्र मे क्षण भर के लिए मिल कर ही उन्हें परम तृप्ति हो जाती है। भ्रमरगीत के इतने अधिक पदो मे खोजने से भी काम-वेदना का राजस भाव नही मिलता। सर्वत्र सात्विक प्रणय, आत्मसुख का बलिदान तथा त्यागभाव ही मिलता है।

जायसी का पद्मावत प्रेमाख्यान काव्य का प्रतिनिधि महाकाव्य है। पद्मावत का विरह-वर्णन साहित्य मे विशेष महत्व रखता है। पद्मावत मे सूफी विचारधारा की प्रधानता हैं, जिसमे विरह चिन्तन का मेरुदण्ड है। मिलन से पूर्व पूर्वराग की अवस्था भी विरह के अन्तर्गत मानी जाती है किन्तु इस दशा मे विरह की दशाओ की आरम्भिक अवस्थाएँ ही होती है। अभिलाषा, चिन्ता, उद्वेग, गुणकथन ही उस स्थिति मे शोभा देते हैं। विरह की परवर्ती स्थितियाँ—प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण आदि प्रवास-विरह मे शोभ-

१. बी० ए० पद १९८
२. ,, ,, २०४

है, किन्तु सूफी विरह-व्यजना मे परवर्ती दशाए ही सर्वप्रथम दिखाई जाती है।
रण के लिए रत्नसेन ज्यो ही तोते से पद्मावती का नखशिख सुनता है, वह मूर्छित हो
ा है, जडता की स्थिति आ जाती है और मृत्यु उसे घेर लेती है।

सुनतहि राजा गा मुरझाई। जानहु लहरि सुरुज कै आई॥
... ...
बिरह भंवर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीव हिलोरे लेई॥
... .
कठिन मरन ते पेम बेवस्था। ना जिअं जिअन न दसई अवस्था॥
जनु लेनिहारन्ह लीन्ह जिउ, हरहि तरासहि ताहि।
एतना बोल न आव मुख, करहि तराहि तराहि॥[1]

थोड़ी देर बाद जब उसकी मूर्छा समाप्त होती है तो वह उन्माद की स्थिति मे अनाप-शनाप बकता है। उसे बीमारी घेरती है, अनेक वैद्य, हकीम, ओझा उसे देखने आते है। विरह का यह आत्यन्तिक रूप उपहासास्पद है। रूप के श्रवण मात्र से मिलन की अभिलाषा उदय होना चाहिए, जिसमे उल्लासजनित आवेग होता है। भारतीय दृष्टिसे विरह का क्रमिक विकास पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणान्तक विरह के रूप मे होता है। सूरदास जी ने इसी प्रकार विरह का निरूपण किया है। जायसी का विरह सूफीन्पद्धति का है। पद्मावत मे नागमती का विरहावर्णन प्रवास विरह का उत्कृष्ट नमूना है। यहाँ भी सूफियो की करुणात्मक स्थिति ही प्रमुख रूप से प्रस्तुत की जाती है। प्रथम पद मे विरहिणी के रूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है उसके शरीर मे अस्थि पजर मात्र रह गया है—

सौंरस जोरी किमि हरी, मारि गएउ किन खग्गि।
झुरि झुरि पांजरि धनि भई, विरह के लागी अग्नि॥[2]

आगे वर्णन मे बीभत्सता की स्थिति आ जाती है। उसके शरीर का रक्त निकल जाता है, जिससे उसकी चोली भीग जाती है।[3] उसके हृदय मे विरह की आग जल रही है, उसके शरीर को सुलग-सुलग कर राख कर रही है। उसके शरीर का सारा रक्त बह गया, माँस गल गया और हड्डिया शख की भाँति सफेद हो गई हैं।[4]

अत्युक्ति का ऊहात्मक स्वरूप सूफी विरह की विशेषता है। मृत्यु-सम्बन्धी भाति-भाति की व्यजनाए हृदयस्थित विरह-वेदना की अभिव्यक्ति का साधन बनती हे। नागमती भौंरे और काग को देखकर कहती है—

पियसौं कहेउ सदेसड़ा, ऐ भवरा ऐ काग।
सो धनि विरहे जरि गई, तेहि क धुंआ हम लाग॥

१. पद्मावत, ११६
२. पद्मावत ३४१
३. विरहवान अस लाग न टोली। रकत पसीजि भीजि तन चोली। (३४३)
४. रकत ढरा मासू गरा, हाड़ भए सब सख। (३५०)

उसके मन की केवल यही अभिलापा है कि—

यह तन जारो छार कै, कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं, कंत धरें जिहि पाउ ॥

समस्त बारहमासा विरह-वेदना की अभिव्यक्ति का माध्यम है। इसमे कोई सन्देह न कि जायसी का ऊहात्मक विरह-वर्णन वियोगिनी की अन्तर्जलन की विभीषिका को प्रत्यक्ष करता है। फिर भी उसमे गरिमा का सर्वथा अभाव मिलता है। सूरदास के भ्रमरगीत मे विरह की दशाओ का वर्णन मिलता है। उन्माद, व्याधि और जडता की स्थितियाँ हैं, किन्तु जायसी जैसा उपहासास्पद रूप कही नही मिलता। गोपिया अपनी अन्तर्ज्वाला का सकेतमात्र करती है और प्रत्येक कथन मे कृष्ण-दर्शन की अभिलाषा को सजोये रहती है। उपालभ मे भी कृष्ण स्मृतियो को आधार वनाती है। राधा जी की विरहावस्था मे चरम सीमा मिलती है। वे घर से वाहर पाव नही निकालती, उद्धव का सन्देश सुनते ही उन्हे बुखार (ताँवरो) चढ जाता है। वे अत्यन्त मलीन रूप मे है। उनकी साड़ी कभी धुली नही, क्योकि साडी पर सयोगावस्था के 'हरि श्रम जल' पडे हैं, उनकी सुगन्धि का आस्वाद वे करती है। यदि साड़ी धुले तो वह जाती रहे। सदा नीचे मुह किये, समस्त सम्पति हारे हुए जुआरी की तरह पड़ी रहती है।[1] उनका शरीर सूख गया है।

इतने पर भी उनके मन मे किसी प्रकार का रोष नही है। यह सुनकर कि उद्धव वापस जा रहे हैं और सभी ब्रजवासी अपना-अपना सन्देश कृष्ण के पास भेज रहे है राधा भी साहस करके बाहर निकली। कदम बढाया था कि शारीरिक निर्वलता के कारण गिर पडी, उठी और कुछ कहना चाहा, किन्तु गले के रुध जाने से एक शव्द भी न निकला, आँखो से अश्रु धाराएँ मात्र निकल पाई। इतना होने पर भी उसके मन के भीतर मिलन की अभिलापा का दीप प्रकाशित है—

सूर हरि के दरस कारन रही आसा लीन।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रामचरितमानस मे प्राप्त श्री सीता जी के विरह-गाम्भीर्य की प्रशसा की है कि वे समुद्र पार लका वन मे वदिनी होते हुए भी रोती-कलपती नही है। गोस्वामी जी ने एक दोहे मे ही उनके विरह-शील का निम्नाकित चित्र प्रस्तुत किया है—

नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जन्त्रिका, जाहिं प्रान किहि वाट ॥

उन्होने यह भी कहा है कि 'परिस्थिति की गभीरता के अभाव मे गोपियो के वियोग मे भी वह गम्भीरता नही दिखाई पडती जो सीता के वियोग मे है। उनका वियोग खाली बैठे का काम-सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप मे राक्षसो के वीच पड़ी हुई थी। गोपियो के गोपाल केवल दो चार कोस के एक नगर मे राजसुख भोग रहे थे।[3]

१. सूरसागर, पद ४६११
२ ,, ,, ४७२६
१. सूरद[illegible] १७२

है, लगता है उपर्युक्त अभिमत पडित रामचन्द्र शुक्ल ने राधा जी पर दृष्टि डाले बिना कह दिया है। भ्रमरगीत मे गोपियाँ ही उद्धव के सम्मुख राधा का प्रतिनिधित्व कर रही है। सीता जी ने तो हनुमान को देखकर उनसे वाते की। रामचन्द्र जी का हालचाल पूछा। यह भी पूछा कि क्या वे कभी उन्हे स्मरण करते हैं? क्या कभी मेरे नेत्र उनके चरण-कमलो का दर्शन कर पायेगे?[1] राधा जी की असीम वेदना ने उन्हे तो सर्वथा विपन्न कर दिया था। वे एक शब्द भी नही निकाल पाई।

इस प्रकार सूरदास की राधा विरह की साक्षात् मूर्ति ही बन गई थी। न वे विद्यापति की राधा की भाति काम-वेदना से पीडित हैं और न जायसी की नागमती की भाति जल-जल कर राख हो गई है। विद्यापति और जायसी की वियोगिनियाँ बारहो मास रोती रहती है। सूर की गोपियो ने उपालभ के स्वरो मे अपनी वेदना प्रस्तुत की है। उनके वियोग मे आशा की मधुर लौ टिमटिमाती रहती है। वे कृष्ण विरह मे 'कोटि बरीस' जीने को प्रस्तुत रहती है। धैर्य उनमे सीता से भी अधिक है क्योकि सीता जी ने तो हनुमान जी को केवल एक मास की अवधि दी थी।[2] राधा जी सारे जीवन कृष्ण से वियुक्त रही और कुरुक्षेत्र मे केवल एक बार दर्शन करके ही परम तृप्त हो गई। कृष्ण-दर्शन की भूखी राधा देखकर निहाल हो गई कृष्ण ने नयनो से मिल कर ही उनसे कहा कि हममे और तुममे कोई भेद नही है। तुम दूर रहकर भी पास ही हो। राधा और कृष्ण क्षण भर के लिए एक हो गये और फिर कृष्ण ने राधा से कहा कि-तुम ब्रज लौट जाओ। परम तृप्त राधा प्रसन्नता से ब्रज लौट गई।[3]

निश्चय ही विरहिणी राधा का यह स्वरूप अपूर्व है। काम-वेदना और सासारिक विषय-लिप्सा का लवलेश भी वहाँ नही मिलता। विरह की पीडा अवश्य ही आत्यतिक है। जायसी की जल-जल कर कोयला होने वाली नागमती भी सहृदय से उतनी करुणा नही प्राप्त करती जितनी राधा, फिर भी राधा मे पूर्व सुखो का स्मरण और भावी दर्शन की आशा अन्त तक विद्यमान रही और उसी ने उसे अमर भी कर दिया।

१. अब कहु कुसल जाऊ बलिहारी। अनुज सहित सुख भवन खरारी॥
कोमल चित्त कपालु रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहूँ सुरति करत रघुनायक॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहि निरखि स्याम मृदु गाता॥
वचन न आव नयन भरे वारी। अहह नाथ हौ निपट बिसारी॥
(रामचरित मानस)

२. मास दिवस महु नाथ न आवा। तो पुनि मोहि जिअत नहि पावा॥
(रामचरित मानस)

३. राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रंग राँचे राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई॥
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अन्तर, यह कहि कै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज बिहार नित नई नई॥
(सूरसागर, पद ४९११)

दूसरो की बातें क्योंकर अच्छी लगेंगी। कृष्ण जिस गोपिका की गली से अपनी अलबेली वेश-भूषा, चाल-ढाल, हँसी-मुस्कान के साथ निकलते है उसी का धैर्य मन-प्राण सब कुछ हर ले जाते है—'नेकु ही मैं मेरो कछु मोपै न रहन पायौ, औचक ही आय भट्ट लूट सी बितै गयो।' छवि से छबीले कृष्ण सवेरे-सवेरे ही अचानक किसी की गली मे बडे रँगीले ढग से जा पहुँचते है, बस फिर क्या है उनकी चटक-मटक और लटक देख उसका तो मन ही बिक जाता है और जब कृष्ण कोई प्रेम से लपेटी तान गा उठते है तब तो उसकी दशा अकथ हो जाती है—'तब तें रही हौं घूमि झूमि जकि बावरी ह्वै, सुर की तरंगनि मै रँग बरसायगो।' प्रभाव का वर्णन करते हुए घनआनन्द ने बताया है कि कन्हाई के आनन पर जितनी ही आनन्द की ओप चढती जाती है उतनी ही गोपिका की चाह भी—

> *ज्यौं ज्यौं उत आनन पै आनन्द सु ओप औरै,*
>
> त्यौं त्यौं इत चाहनि मै चाह बरसति है।

उनकी तानो से वे लुब्ध हो जाती है और उनके प्राण छले जाते है, उनके वक्षदेश पर पडी मोती की माला को देख गोपिकाओ के मन उस शोभा की गगा मे निमग्नामग्न होने लगते है—'मंजन करत तहाँ मन बनितान के, निहारि मोती-मालहि विचार धारा गग की।' सुन्दर वेश वाले कृष्ण उनके चित्त मे छा जाते हैं, उलझा लेते है उन्हे और यमुना के तट पर घूमते हुए उन पर जादू-सा डाल देते है। ब्रज-मोहन के रूप से छक कर गोपियो के मन और नेत्र महा मतवाले हो जाते है, वे पपीहे के समान आनन्दघन के प्रेम से रात-दिन भीगे रहते है। आँखे उनके अनूप रूप से ठग-सी जाती हैं, उनकी उलझन और कोई नही जान सकता, उनके रूप को अघा कर पीती हुई भी ये अतृप्त रहती है। गोपिका कहती है—हे कृष्ण! तेरी 'जोहन' हमारे पीछे पड गई है जिसके कारण अजीब विषम रूप से हमारे हृदय मे भाव उठते है। तुम्हारी आँखो के विष भरे कोए देखने पर हमे सुधा से सीच देते हैं किन्तु वे ऐसे अनियारे (नोकदार) है कि प्राणो तक धँस जाते है। तेरी आँखो और चितवन मे जो परिपूर्ण कान्ति है उसके कारण हमारी आँखो मे चकाचौंध-सी छा जाती है, तेरे नेत्रो की उज्ज्वलता मोतियो की आभा से भी अधिक है। तेरी ऐसी वक्र चितवन हमारा सारा धैर्य और चातुर्य गायब कर देती है। कृष्ण के शोभा-समूह को देख कर हमारा हृदय शीतल हो जाता है, भाव उमड पडते है, दृष्टि उधर ही बनी रहती है, चित्त का चैन समाप्त हो जाता है, प्यास सतत बनी रहती है आदि-आदि। इसी प्रकार उनकी मोहनी का वर्णन करते हुए वशी के प्रभाव का भी कवि ने व्यापक रूप से वर्णन किया है।[1] इसी प्रकार के प्रभाव-व्यंजक अनेकानेक चित्र कवि ने

---

१. सुजानहित · छन्द ४०, ४३२, ४४६, ४५६, ४७१, ४६५; प्र० १२, १६, १७, २६, ५८, ६२, ६०; छन्दाष्टक ८० से ८७.

प्रस्तुत किये है जिनमे रूप-प्रभाव व्यापक रूप से कथित हुआ है।[1] कही-कही कवि ने अपने आप पर भी कृष्ण की छवि का प्रभाव वतलाते हुए कहा है कि हम तो घनश्याम की छवि के पपीहे वने हुए है।

राधा

राधा की चर्चा घनआनन्द ने अपने प्रेम काव्य के सन्दर्भ मे भी की है और भक्ति के आलम्बन रूप मे भी। जिन रचनाओ मे राधा आराध्या के रूप मे अंकित हुई है वहाँ उनके रूप का चित्रण विशेष नही मिलता, बस दो चार इसी प्रकार की उक्तियाँ मिलेगी—

राधा अतुल रूप गुन भरी। व्रजवनिता-कदब मंजरी। (प्रिया प्रसाद)

शेष उनकी महात्म्य की वर्णना और अपनी भक्ति भावना का निवेदन मिलेगा। प्रेम से सम्वन्धित छन्दो मे उनके रूपो के चित्रण की कोई विशेष चेष्टा नही दिखाई देती। हाँ, राधा के रूप-प्रभाव द्वारा उनका रूप-सौन्दर्य अवश्य चार-छ छन्दो मे व्यंजित किया गया है।[2] राधा के सौन्दर्य की व्यजना करते हुए कही तो कवि ने उनके यौवन-समृद्धि को वसन्त के सादृश्य द्वारा प्रत्यक्ष कराया है, कहीं उसके मुँह मे कृष्ण द्वारा लगाये गये गुलाल की अद्वितीय शोभा की ओर इगित किया है और कही उसके रूप की वास्तविक सुवर्णता अथवा उत्तमता का कथन किया है—राधा का यौवन-विलास वसन्त है जिसमे अग-अग की कान्ति का विकास है, वनमाली स्वय उस यौवन-विलास की सेवा करते हैं तथा उसे देख स्वय कामदेव अधीर हो जाता है, जिसके स्वरो मे कोकिला की कूक-माधुरी है तथा साँसो मे सौरभित समीर बसा हुआ है, जिसके प्रस्वेद मकरन्दवत है तथा प्रेमी के मनोरथ रूपी भ्रमर जिम पर मँडराते है ऐसी राधा यमुना के तट पर वृन्दावन मे अपनी वसत के समान यौवन-सुषमा के साथ शोभा दे रही है। इस सौन्दर्याकन की नवीनता देखने योग्य है, कविता रूपक का भार ऐसे सहज ढंग से वहन कर रही है तथा रूप-सौन्दर्य का भी सूक्ष्म और सुकुमार चित्र नये और ताजे ढग से प्रस्तुत किया गया है। राधा के गोरे मुँह मे कृष्ण ने गुलाल लगा दिया है—उज्ज्वल मुखश्री मे गुलाल की लाली ने जिस अभूतपूर्व सुपमा की सृष्टि कर दी है वह कही नहीं जाती। ऐसे अनूप रूप की निकाई क्या कही जाय। हे राधा! लाल तेरे मुँह मे गुलाल लगा कर सौतो के हृदय मे होली-सी लगा दी है। रूप के [illegible]ाथ यहाँ सुन्दर भावना और मनोहर कल्पना

---

१. सुजानहित छन्द ८१, ८७, १९, ४७२, ४७३, ४७८; प्र० ४, ७, ८, १२, १३, १५, २३, ४०, ४२, ५३, ६७, ६८.

२. सुजानहित : छन्द ४३३, २५८, ४१२; प्र० ४१, १६, २८, ६२, ६६.

तथा रूप का प्रभाव भी वर्णित किया गया है। एक छन्द मे कवि कहता है कि नेत्रो ने तोल कर परख लिया है कि राधा का रूप ही असली सोना है। रत्ती के वाँट से तोलने पर वह पूर्णत' खरी उतरी है। 'रती' का अर्थ रत्ती और कामदेव की स्त्री हुआ ; प्रथम अर्थ तो यह है कि राधिका का रूप वावन तोला पाव रत्ती ठीक है, दूसरा अर्थ यह कि रति से भी उसका रूप वढ कर है, नेत्रो ने इस तथ्य का निश्चय कर लिया है। यहाँ पर रूप की उत्तमता कथित हुई हे।

इसके पश्चात् कृष्ण की ही उक्तियो द्वारा उनके हृदय पर राधा के रूप का प्रभाव कथित हुआ हे जिसमे उसके रूप की प्रियता और सतापहारिणी क्षमता का वर्णन हुआ है। कृष्ण कहते है कि हे राधे ! तेरे लावण्यपूर्ण अग-प्रत्यग से अररा कर वरसता हुआ प्रेम का जो रग है वह मुझे वहुत प्रिय लगता है। हे गोरी ! ये तेरे रसीले नेत्र हैं या श्याम मेघ जो विरह सन्तापो की दावाग्नि को पी जाते है। एक छन्द मे कवि ने कृष्ण को राधा के रूपासव से छका हुआ वतलाया है। एक अन्य छन्द मे राधा के नृत्य-सौन्दर्य तथा उसके रूप-रस मे कृष्ण के भीगने का अपूर्व वर्णन किया है—

गति लेत प्यारी न्यारी न्यारीयै लहक जामै,
लोन अंग रंगनि लगै निकाइये झरो।
मुसकानि-आभा-फैल छाकत छवीलो छैल,
सील भींज चाहनि रसीली वरुनी ररी।
मुरली वजाय कै नचावै रिझवार प्यारो,
सुरति लगौहीं डटि भौंह भेद सो भरी।
ढोरक पै ललिता ललित आँगुरीरि ढोरै,
छायौ घनआनन्द चटक चोख है परी॥

एक वार कृष्ण के हृदय पर पडने वाले तीक्ष्ण प्रभाव का कथन करती हुई एक सखी कहती है—अरे राधे ! तूने जव कृष्ण को देखा तो क्या टोना कर दिया ! तूने इस तरह उन्हे देखा कि उनका हृदय वेतरह विद्ध हो गया। वे तो पिचकारी ज्यो की त्यो लिये रह गये, तेरे रूप का ऐसा धक्का उन्हे लगा कि वे शिथिल पड गये। तुझे तो विधाता ने ही वनाया है, भला अव तेरी वरावरी कौन कर सकता है ! तेरी हँसी की कौध ने उन्हे भिगो दिया और कपोलो पर गुलाल मसल कर तो तूने उन्हे अपने हाथो मे ले लिया। इस तरह राधा की चितवन के कारण कृष्ण की वेतरह आहत स्थिति का वर्णन किया गया है—

पिचका लियेंई रहे रह्यौ रंग तोहि देखें,
रूप को धसक लागें थके हैं थसरि कै।

कौंधि घनआनन्द कों भिजयौं हँसनि ही मैं,
हाथ कियौ लालहि गुलालहि मसरि कै ॥

प्रभावाभिव्यंजक पद्धति पर राधा के रूप-प्रभाव के एकाध चित्र और देखिये—

(क) राधा नवयौवन बिलास को बसंत जहाँ,
अंग अंग रंगनि बिकास ही की भीर है।
प्यारो बनमाली घनआनन्द सुजान सेवै,
जाहि देखि काम के हिये मै नाहि धीर है ॥

(ख) दोऊ अद्भुत देखौ रसिक सुजान क्यौ न,
लेहिं देहिं स्वाद-सुख आनन्द अछेह कौ।
मोहिं नीको लागत री राधे तेरे लोने इन,
अग अंग अरसात रंग नेह नेह कौ ॥

राधिका के सौन्दर्य का एक गत्यात्मक चित्र देखिए जिसमे उमंग के स
राधा तो कृष्ण के पास तक जाकर उन्हे गुलाल की मूठ मार आती है और गर्व स
अपनी सखियो मे आकर मिल जाती है, उधर कृष्ण है जो निष्प्रभ हो वस खड़े
रह जाते हैं। यह और कुछ नही राधिका के रूप का असाधारण सौन्दर्य और जादू
है जो कृष्ण सरीखे रसिक को विस्मय-विमुग्ध और हतचेत कर देता है। इस चित्र
करोडो दामिनियो की आभा को फीका कर देने वाली आभा का वर्णन हुआ है
ऐसी राधिका की चाल और चितवन की मुद्रा भी कवि ने असाधारण कौशल से चित्रि
की है—

गोरी बाल थोरी बैस, लाल पै गुलाल-मूठि,
तानि कै चपल चली आनन्द-उठान सौं।
बायें पानि घूँघट की गहनि चहनि-ओट,
चोटनि करति अति तीखे नैन-बान सौं।
कोटि दामिनीनि के दलनि दलमलि, पाय
दाय जीति आय झुंड मिली है सयान सौं।
मीड़िबे के लेखें कर मीड़िबोई हाथ लग्यौ,
सो न लगी हाथ रह्यौ सकुचि सखान सौं ॥

उद्दीपन-वर्णन एवं वाह्य-दृश्य-चित्रण

घनआनन्द ने स्वतन्त्र रूप मे तो नहीं किन्तु उद्दीपन रूप मे अवश्य प्राकृति
सामग्री का उपयोग किया है, उनके सहारे उन्होंने अपनी विरह व्यथा व्यक्त की है
विधिवत वर्षा वसन्तादि को लेकर रूपक तो नहीं खड़े किये गये हैं परन्तु वेदना की विर

... लए किसी भी प्राकृतिक उपकरण अथवा ऋतु को लेकर वे अपने भावो को व्यक्त करते रहे हैं। यह जरूर है कि ये प्राकृतिक उपादान उन्हे सुख पहुँचाने के बदले वेदनाओ का ही उपहार देते रहे है। इन्हे प्रकृति ने क्या पीड़ा दी यह तो हम विरह-निवेदन के सन्दर्भ मे देखेगे किन्तु किन-किन प्राकृतिक उपकरणो ने विरही घनआनन्द अथवा विरहिणी गोपिकाओं को पीडित किया यह देखना चाहिए। लहकती हुई पु... भटके हुए बादल, चमकती हुई बिजली, वर्षा के प्रसूनो की सुगन्धि, चतुर्दिक घिरी हुई घटायें, कलापियो की कूक, शीतल समीर, बिजली की कौंध, टूटती हुई उल्कायें, प्यासे चातक, उन्मत्त मयूर, गरजते हुए बलाहक, हँसती हुई बिजली, चन्द्रमा रहित अन्ध आकाश आदि का वर्णन कर कवि ने इनके द्वारा विरह की उद्दीप्ति दिखलाई है। अभिव्यजना के आचार्य घनआनन्द ने अपने वियोग का आतिशय्य दिखलाने के लिए एक छन्द मे अपनी व्यथा को ही प्रकृति मे भर दिया है और कहा है कि चपला मे जो ... कौंध पपीहा के स्वरो मे जो वेदना है, जिधर-तिधर भटकते हुए पवन मे जो अस्थिरता ... ग शक्ति है वह सब प्रकृति को विरही से ही प्राप्त हुए हैं। वर्षा ऋतु वेदना को कम ...र नही देती। एक छन्द मे वर्षा के उपकरणो को एक-एक कर सम्बोधित किया गया है, धैर्य और शक्ति के साथ उनका मुकाबला किया गया है और उन्हे यह ललकार दी गई है कि जब तक विनोद बरसाने वाले हमारे प्रिय नही आते तब तक तुम जितना दु ख देना चाहते हो दे लो, उनके आने पर यदि दु ख दे सको तो मैं तुम्हे समझूँ। '**बिकल बिषाद भरे ताही की तरफ तकि**' और '*कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर काढ़ति री*' वाले छन्दो मे प्रकृति का अनूठे ढग से विरह काव्य मे नियोजन हुआ है। वसन्त ऋतु का कवि ने विरह वर्णन अथवा विरह-निवेदन मे उपयोग नही किया है, केवल इतना कहा गया है कि वह प्राणघातक कुसुमशरो से सयुक्त हो विरहियो का शिकार करता फिरता है और कामदेव का परम सहचर बना हुआ अपनी पूरी सेना के साथ उन्हें त्रास देता फिरता है। विरहोद्दीपक उपकरण के रूप मे घनआनन्द ने सावन की सुहावनी बूंदो, सुगन्धियो, चन्दन-गुलाल-अबीर-सगीत, दीपावली, निशा, दिवा, चन्द्रमा, चाँदनी, पुष्पित कमल, सुरभित समीर, चातक आदि को लेकर एक से एक सुन्दर छन्द लिखे है जिनमे प्रकृति द्वारा विरही अथवा विरहिन की मनोव्यथा को अकित किया गया है।[१]

अपनी भक्ति-परक रचनाओ मे ब्रज के प्रति अनुराग से भर कर घनआनन्द ने जहाँ-तहाँ ब्रज-भूमि अथवा वहाँ के ग्राम जीवन अथवा ग्राम्य दृश्यो का वर्णन किया है। ये वर्णन एक ओर जहाँ भक्ति-प्रेरित है वहाँ ...स्थान के व्यक्तिगत परिचय, स्थान, मोह एव अनुभव का भी आधार लिये हुए हैं। इस सन्दर्भ मे ब्रज-भूमि के

---

१ सुजानहित : छन्द ७६, ८४, १५७, ३२७, २२६, २६६, ३३८, २६३, ४५, ३४६, २७८, २६८, ३८६, ३६१, ४४, १६८, १८२, ५३, २७०, ३३८, २०७,

प्राकृतिक वातावरण के जो स्वच्छन्द चित्र घनआनन्द ने अंकित किये है वे अपने माधुर्य के कारण देखने योग्य है। उनमे वास्तविक प्राकृतिक छवि के चित्रण का जहाँ-तहाँ प्रयास मिलेगा—

> बरहे हरे भरे सर जित तित। हित-फुहार की झमक रहति नित ॥
> जुहीं सुहीं सुख गुहीं खिली हैं। लता ललित तरु उमगि मिली है ॥
> गिरि गोधन हरियारो रहै। चौमासो नित बासो गहै ॥
> झूमें रहत गिरि सिखर बादर। बोलत मोर पांति भरि आदर ॥
>
> (ब्रज स्वरूप)

ब्रज के खरिक, खोरि, गोधन, खेत और क्यारियाँ, गोरस दहल (कुड), धान्य, न्यार (भुस) आदि तथा ब्रजवासियो के परिवार देख कर मन और आँखो को अपार सुख मिलता है। कवि कहता है कि ब्रज की सम्पदा और सहज माधुरी कहते नहीं बनती। ब्रज के वन और नाले सदा हरे-भरे रहते है जो ग्वालो और गायो के लिए सदा सुखदायी है। कदम्ब, पसैंहू, ताल, रसाल आदि की छाया मे मोहन विहार करते है और प्रेम से बैठते है तथा कभी-कभी वे सघन वन्य कन्दराओ मे भी सखाओ के संग प्रवेश करते हैं। इस प्रकार का वर्णन 'ब्रज प्रसाद' मे आया है। 'ब्रज स्वरूप' मे भी घनआनन्द ने ब्रज ग्राम का एव वहाँ की प्रकृति का अल्प किन्तु मनोहर वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि वहाँ के ऊँचे-ऊँचे प्रकाशयुक्त चौपाल और ललित चौहटे देखते ही बनते हैं, चारो ओर शुभ और सुन्दर वृक्षावलि है, निकट ही साँवले सरोवर हैं जो मानो ब्रजमोहन की छवि देखने के अमल दर्पण हैं। घाट या पनघट और खोरियाँ (गलियाँ) नाना प्रकार के रिझा लेने वाले दृश्य उपस्थित करती है। ब्रज मे सतत आनन्द की वर्षा होती रहती है इसलिए वहाँ बारहो महीने चौमासा बना रहता है, किसान की खेती निर्वाध गति से चलती रहती है। घुमड-घुमड कर मेघ जल-वृष्टि करते है जिसमे भीगते हुए ब्रजवासियो की शोभा देखने योग्य होती है। नदी, तालाव, नाले भरे हुए है; चारो तरफ प्रकृति हरी-भरी गोचर होती है। इस प्रकार कुछ स्वच्छन्द पद्धति पर घनआनन्द ने ब्रज की प्रकृति का वर्णन किया है। किसान की चर्चा अपवाद रूप से ही घनआनन्द के काव्य मे मिलती है अन्यथा वेचारे कृपक की चिन्ता किस रीति युगीन कवि को थी। स्वच्छन्द दृष्टि रखने के कारण ही घनआनन्द उसका वर्णन कर सके है।